मानव-तत्त्व
तथा
वर्णविवेक

(Anthropology)

भार्गव शिवरामकिङ्कर योगत्रयानन्द

मानव-तत्त्व तथा वर्णविवेक

(Anthropology)

लेखक

भार्गव शिवरामकिङ्कर योगत्रयानन्द

(पूर्वनाम : शशिभूषण सान्याल)

अनुवादक

एस०एन० खण्डेलवाल

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

MĀNAVA-TATTVA TATHĀ VARṆAVIVEKA

by

Bhargava Shivramkinkar Yogtrayanand
(Original Name : Shashibhushan Sanyal)

Translated by

S. N. Khandelwal

© प्रकाशक

ISBN : 978-81-7124-836-0

प्रथम संस्करण : 2012 ई०

मूल्य : एक सौ रुपये (Rs. 100.00)

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन

चौक, वाराणसी-221 001

फोन व फैक्स : (0542) 2413741, 2413082

E-mail : vvp@vsnl.com ● sales@vvpbooks.com

Website : www.vvpbooks.com

मुद्रक

वाराणसी एलेक्ट्रॉनिक कलर प्रिण्टर्स प्रा० लि०

चौक, वाराणसी-221 001

निवेदन

प्रस्तुत ग्रन्थ जिन महामानव की कृति है, उनके सान्निध्य में आकर स्वामी विवेकानन्द, उपन्यासकार बंकिमचन्द चटर्जी, महामहोपाध्याय डॉ० पं० गोपीनाथ कविराज जैसे महापुरुष स्वयं को कृतार्थ कर चुके हैं। इससे अधिक इनके सम्बन्ध में और क्या कहा जा सकता है? प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रात:स्मरणीय ग्रन्थकार ने मानव-तत्त्व की जो विशद तथा सारगर्भित व्याख्या की है, उसमें पाश्चात्य विज्ञान, पाश्चात्य दर्शन से भारतीय दर्शन तथा वेद-विज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन इस तथ्य को परिपुष्ट कर देता है कि इस देश की प्रतिभा ने सृष्टि के रहस्य को जिस गहराई में जाकर उद्घाटित किया था, उससे आज का उन्नत जड़विज्ञान अभी भी अनेकांश में उपकृत हो सकता है। यह जड़विज्ञान आज भी चेतना के विज्ञान को नहीं जान सका है, जो समस्त विज्ञान का, साइंस का मूल है। यह जड़विज्ञान भले ही Anatomy आदि शरीर-विज्ञान के अध्ययन में चरम की ओर पहुँचता जा रहा है, तथापि मानव के प्रकृत तत्त्व की सीमारेखा का भी स्पर्श कर सकने में सक्षम नहीं हो सका है। चेतनासमुद्र का एक बिन्दु भी उसे प्राप्त नहीं हो सका है, जिसमें हमारे चिन्तक, मनीषी, ऋषि अबाध रूप से सन्तरण करते रहते थे। चेतन में जड़ तथा जड़ में चेतन देखने का विज्ञान आज भी वैज्ञानिकों की खोज का आधार है।

वास्तव में सृष्टि का समस्त रहस्य मानव-अस्तित्व में अन्तर्निहित है। यह हमारे चेतन विज्ञान (शास्त्रों) का उद्घोष है। मानव विधाता की अनमोल कृति है। यह काल के अन्तर्गत प्रतीत होने पर भी कालातीत, टाइम तथा स्पेस से भी अतीत हो सकता है। इसी में जीवन-मृत्यु का रहस्य भी अन्तर्लीन है। अमरत्व की प्रकाश-रेखा भी इसी मानव-अस्तित्व के माध्यम से अनुभूत हो सकती है। 'सबाई ऊपर मानुष सत्य तार ऊपर नाई' सबसे ऊपर मनुष्यरूपी सत्य है। इससे ऊपर कुछ नहीं है। यह ज्ञान, विज्ञान तथा प्रज्ञान की चरम परिणति है।

पूज्य ग्रन्थकार ने अपनी साधनपूत दृष्टि से मानव-तत्त्व का जो अवलोकन किया, उसका सार इस ग्रन्थ में उन्होंने अंकित किया है। वैसे वे इतना ही इस विषय में लिखकर सन्तुष्ट नहीं थे, इस ग्रन्थ के अध्ययन से यह विदित होता है। परन्तु कुछ काल पश्चात् इनके द्वारा भगवत्-प्रेरणा से ग्रन्थ-लेखन भी त्याग दिया गया और अनेक लिखे ग्रन्थ गंगार्पित कर दिये गये। विषय इससे आगे न बढ़ सका। यह भले ही इन सर्वत्यागी के लिए परम नि:श्रेयस का क्षण हो, तथापि जिज्ञासुगण के लिए यह दुर्भाग्य का विषय ही कहा जायेगा। फिर भी एक दृष्टि से सन्तोष तो होता ही है कि यह ग्रन्थ प्रकृत मानव-तत्त्व के जिज्ञासुगण के पथ- प्रदीप के रूप में उनका मार्गदर्शन करता रहेगा।

विजयादशमी, 2011 ई० **—एस०एन० खण्डेलवाल**

बी० 31/32, लंका, वाराणसी

॥ ॐ सदाशिव शरणम् ॥
॥ श्री श्री गुरवे नमः ॥

प्रथम परिच्छेद

सूत्र स्थान

कतिपय मास से भारतवर्ष में विशेषतः कलकत्ता राजधानी में ब्राह्मणादि वर्णभेद[1], ब्राह्मणादि जातिभेद सम्बन्धित परिच्छिन्न प्रकृति वाला वर्त्तमान आन्दोलन तुलुमरूपेण चल रहा है। ब्राह्मणादि जाति अथवा वर्णभेद को लेकर इस समय (प्रधानतः हिन्दू जाति में) प्रायः अल्पविस्तर वादानुवाद हो रहे हैं। संवादपत्र (News Papers), मासिक पत्रिकाओं, छोटी-बड़ी पुस्तकों में ब्राह्मणादि जातिभेद विषयक प्रबन्ध प्रायः परिलक्षित हो रहे हैं। फलतः विद्यालयों के सुकुमार मति छात्रों से लेकर परिणत मस्तिष्क युवक-वृद्ध पर्यन्त सभी जाति-संग्राम में योगदान कर रहे हैं। सभी यथाप्रयोजन यथाशक्ति ब्राह्मणादि जातिभेद की समालोचना में प्रवृत्त हैं!

ब्राह्मणादि जातिभेद को लेकर जो तुमुल आन्दोलन चल रहा है, उसका कारण क्या है? नवीन हिन्दू जाति, ब्राह्मणादि जातिभेद के कारण जो वादविवाद कर रही है, उसका उद्देश्य क्या है?

ब्राह्मणादि जातिभेद का तत्व तथा नीचोत्तम तत्व निर्धारणार्थ हमारे विविध विद्याविवर्त्तनरत सत्यसन्ध प्रजावत्सल राजा[2] यत्न कर रहे हैं। ब्राह्मणादि वर्णसमूह में किस वर्ण को जातिगत मर्यादानुसार कौन स्थान दिया जाये, यह निश्चित करने के लिए हमारे भूपतिगण सचेष्ट हैं। ब्राह्मणादि जातिभेद विषयक वर्तमान तुमुल आन्दोलन का हमारे विचार से यही उद्दीपक कारण है। नवीन हिन्दू जाति में (नवीन हिन्दू जाति अर्थात् पाश्चात्य विचारों से अनुप्रेरित) जो इस जातिभेद को लेकर वादानुवाद हो रहा है, उसका कारण क्या है। इसे यथाज्ञान बताया जा रहा है। साथ ही मानव-तत्त्व का भी वर्णन किया जा रहा है।

सम्मान की आकांक्षा जागतिक सुखैश्वर्यलिप्सु मानव को स्वभावतः रहती है। सांसारिक सुखैश्वर्य प्रसक्त चित्त मानव अपनी परिच्छिन्न प्रकृति की प्रेरणा से अपमान सहन करने में, स्वयं को नीच अथवा गुणहीन मानने के लिए तैयार नहीं है। प्रतिद्वन्द्विता अन्योन्यभिभववृत्तिक त्रिगुण परिणाम रूप संसार का सार्वभौम धर्म है।

1. ग्रन्थ-लेखन-काल में भारत की राजधानी कलकत्ता थी।
2. जिस समय ग्रन्थ लिखा गया, देश में 500 से अधिक रियासतें थीं, जिनका शासक राजा होता था।

अतएव ब्राह्मणादि वर्णसमूह में प्रतिद्वन्द्विता का होना विस्मयावह नहीं है। इसी प्रतिद्वन्द्विता ने नवीन हिन्दू जाति को वर्णभेद विषयक वादानुवाद के लिए उत्तेजित किया है।

ब्राह्मणादि विषयक वादानुवाद के दो उद्देश्य हमें लक्ष्यीभूत हो रहे हैं। प्रथमत: ब्राह्मणादि जातिभेद के मूल में कोई सत्य है अथवा नहीं। केवल जाति (अर्थात् जन्म) वशात् सामाजिक मर्यादा का तारतम्य उचित है कि नहीं, इसकी अवधारणा करना। द्वितीयत:, जाति मर्यादा के अनुसार किस वर्ण को कौन-सा स्थान देना चाहिए, इसका निर्णय।

ब्राह्मणादि वर्णभेद के नीचोत्तम तत्व के निर्णय के लिए हमारे राजा यत्न कर रहे हैं। उसका चिन्तन करके हम जो समझते हैं, उसे बाद में प्रकट किया जायेगा। आपातत: ''सम्मान की आकांक्षा जागतिक सुख-ऐश्वर्य के लिप्सु मानव में स्वभावत: होती है ''सांसारिक सुखैश्वर्य प्रसक्तचित्त कोई मानव परिच्छिन्न प्रकृति की प्रेरणा से स्वयं को अपमानित होते देखे जाते, स्वयं को नीचा अथवा गुणहीन समझे जाते, सहन करने के लिए प्रस्तुत नहीं है'' हमारे इस वाक्य को सुनकर पाठकों के मन में जिन प्रश्नों का उदय होना सम्भव है, हम उन सभी प्रश्नों का उत्थापन करके उनका यथा-प्रयोजन उत्तर देने के लिए प्रस्तुत हैं।

पाठक प्रश्न कर सकते हैं कि ''परिच्छिन्न प्रकृति की प्रेरणा उचित नहीं है।'' ऐसी बात क्यों कही गयी? गुरुत्व की किसकी इच्छा नहीं होती? मान का भिखारी कौन नहीं है? सम्मान की आकांक्षा बिना उन्नति कैसे होगी? कोई भी अपमान सहने को शक्ति रहते राजी नहीं है। अपमान सहने की योग्यता क्या योग्यताविहीन पुरुष का लक्षण नहीं है? हमने जिस उद्देश्य से उपरोक्त वाक्य कहा है, उसका संक्षिप्त विवरण यही है।

'गुरु', ऋ़, उन्नति, अवनति इन शब्द चतुष्टय का हम बहुश: व्यवहार करते हैं। अत: इनका वास्तविक अर्थ परिज्ञात है। गुरु, ऋ़, उन्नति, अवनति का व्यावहारिक अर्थ हमें परिज्ञात रहने पर भी दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक के अतिरिक्त गुरुत्वादि का स्वरूप अन्य को यथायोग्य परिज्ञात नहीं होता। कौन वस्तु गुरु तथा कौन ऋ़ (लघु) क्यों है, अथवा उन्नति, अवनति का वास्तविक रूप क्या है, ऐसी जिज्ञासाओं की विनिवृत्ति वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक का आश्रय लिये बिना नहीं हो सकती।

गुरुत्व गुण अथवा शक्तिविशेष है। किसी वस्तु को भूमि से उठाते समय हम प्रतिबन्धकता अथवा बाधा का अनुभव करते हैं। इसे हम गुरुत्व (Weight) की संज्ञा देते हैं। गुरुत्व मध्याकर्षण शक्ति का प्रव्यक्तरूप है। मध्याकर्षण शक्ति का कार्य है। मध्याकर्षण शक्ति (Energy of Gravitation) के स्वरूप निर्णयार्थ प्रवृत्त होने पर वैज्ञानिक नाना सिद्धान्तों की कल्पना कर गये हैं और कर रहे हैं। मध्याकर्षण शक्ति के क्रियातत्व की व्याख्या करते समय जो चाहे जिस सिद्धान्त की कल्पना क्यों न करें,

प्राय: सभी ने आकृष्ट तथा आकर्षक स्थिति स्थापक धर्म को स्वीकार किया है।[1] स्थिति स्थापक धर्म का स्वरूप क्या है?

वैशेषिक दर्शन के मत से स्थितिस्थापक संस्काराख्य गुणविशेष का अवान्तर भेद है। वैशेषिक दर्शनाचार्य प्रशस्तपाद कहते हैं कि[2] स्थितिस्थापक धर्म (Elasticity), घन (निविड़) अवयवसन्निवेशविशिष्ट स्पर्शवद्द्रव्य विद्यमान है। जो धर्म अन्यथाकृत, अवनामित स्वाश्रय को पूर्वावस्था में स्थापित करे, जिस रूप में था उसी अवस्था में प्रापित करे, उसे 'स्थितिस्थापकधर्म' कहते हैं।[3] स्थितिस्थापकधर्म (Elasticity) क्या स्पर्शवद् द्रव्यमात्र का धर्म है? विज्ञान वही कहता है। जिज्ञासा होती है स्प्रिंग, रबर, वाष्प में स्थितिस्थापकधर्म की अभिव्यक्ति स्पष्टत: लक्षित होती है। ये स्प्रिंग-प्रभृति द्रव्य जैसे प्रबल है, अन्यान्य द्रव्यों में इनकी अभिव्यक्ति उतनी स्पष्टता से अभिव्यक्त नहीं होती। अन्यान्य द्रव्यों में इनकी क्रिया इतनी प्रबल नहीं है, इसका कारण क्या है? इनका स्वरूपदर्शन होने से ऐसी जिज्ञासा निवृत्त हो जायेगी।

अणुसमूह भेद तथा संसर्ग वृत्तिक हैं। वे आकर्षक-विकर्षण धर्मात्मक हैं। भर्तृहरि अणुओं को भेदसंसर्ग वृत्तिक कहते हैं। ('अणव: सर्वशक्तित्वाद्भेद संसर्ग-वृत्तय:' (वाक्पदीय))। द्रव्य के अणुसमूह यदि अतिमात्र सन्निकृष्ट हैं, अतिशयित-सन्निधिस्थ है, तब भेदवृत्तिशक्ति (Separative or Repulsive Power) उन्हें

---

1. "Yet no hypothesis of gravitation has been framed which accounts for the gravitation on the bodies without ascribing to the particles of the gravitating bodies, and also to the substance causing the gravitation, the property of Elasticity."
—Matter Energy Force & Work by S.C. Holman, p. 51
2. ''स्थितिस्थापकस्तु स्पर्शवत्द्रव्येषु वर्त्तमानो घनावयवसन्निवेश विशिष्टेषु कालान्तरावस्थायिषु स्वाश्रयमन्यथाकृतं यथावस्थितं स्थापयति''—प्रशस्तपाद-कृत भाष्य
3. "All bodies yield more or less to the action of force; and the property in virtue of which they tend to recover their original form and dimensions when these are forcibly changed is called elasticity."
—Elementary Treatise on Natural Philosophy, Deschanel by J.D. Everett, p. 77

तथा

"Elesticity is the power of reacting in order to restore the relative state of equilibrium between the molecules. When it has been sensibly altered by mechanical action."
—The Elements of Molecular Mechanics by J. Bayma, p. 196

Prof. J. Byma आगे कहते हैं—"Both attractive and repulsive power must be submitted as existing in this material world."

..."If the body reacts after allowing itself to be sensibly altered, its elasticity called sensible or realative, and constitutes a special property of the body. If a body reacts before it can be sensibly altered, its elasticity is called absolute, and is nothing more than its reactivity which is not a special property, as it is found in all ponderable bodies. —वही, p. 196

यथा-प्रयोजन पृथक् करना चाहती है। पक्षान्तर से यदि वे परस्परतः नियमातिरिक्त दूरी पर नीत हो जायें, तब संसर्गवृत्तिक शक्ति (Aggregative or Attractive Power) उन्हें यथानियम परस्परतः निकट लाने के लिए प्रवृत्त हो जाती हैं। जिस जातीय अणुओं के बीच जितना मध्यगत अवकाश रहने का नियम है, यदि किसी कारण से वह उतना मध्यगत अवकाश नहीं रह जाता, तब यथास्थान अवस्थित होने के लिए वे प्राकृतिक नियमानुसार प्रचेष्टा करते हैं। अणुओं का सन्निवेश निश्चित नियमाधीन है। उसके तारतम्य के अनुसार द्रव्यों में धर्मगत भेद की उपलब्धि होती है। अतएव स्थितिस्थापक धर्म अणुओं के सन्निवेश परिवर्तन अथवा स्थानच्युति (Displacement of the molecules) से अभिव्यक्त होता है तथा स्थिति-स्थापक धर्म भेदसंसर्गवृत्तिक अणुओं का सन्निवेश परिवर्त्तनापेक्ष है, यह समझा गया। अणुसमूह भेदसंसर्गवृत्तिक हैं। वे मध्यवर्त्ती अवकाश के तारतम्यानुसार कठिन (ठोस), तरल तथा वायवीय जड़ वस्तुजातरूपी त्रिविध अवस्था में रहते हैं। यदि इन्हें भेदसंसर्गवृत्तिक शक्तिरूपेण ग्रहण किया जाये, अथवा यदि भगवान् कपिल तथा पतंजलिदेव के उपदेशानुसार इन्हें त्रिगुण परिणाम कहा जाये तब भेद अथवा संसर्गवृत्तिशक्तिद्वय किंवा सत्वादिगुणत्रय का क्रमाण्यत्व ही परिणामत्व का कारण हो जाता है। इनका न्यूनाधिक्य अथवा भोगभेद ही द्रव्यगत विचित्रता का कारण है, इसे स्वीकार करना ही होगा। स्थितिस्थापक धर्म को इन्द्रियग्राह्य (Elasticity) तथा आपेक्षिक (Sensible or Relative) एवं अनन्यसम्बन्ध अनापेक्षिक (Absolute) इन भागद्वय में विभक्त किया गया है। कोई द्रव्य यदि प्रत्यक्षगाम्यभाव से परिवर्तित होने का अवसर पाकर बाद में प्रतिक्रिया करे तब तन्निष्ठ स्थितिस्थापक धर्म को इन्द्रियग्राह्य अथवा आपेक्षिक (Sensible or Relative) संज्ञा प्रदान की जाती है। यदि कोई द्रव्य प्रत्यक्षगोचरभाव में परिवर्तित होने के पूर्व ही क्रिया करे, तब तन्निष्ठ स्थितिस्थापक धर्म को अनापेक्षिक अथवा अनन्य सम्बन्ध (Absolute) कहते हैं। अनन्य सम्बन्ध स्थितिस्थापक धर्म जड़वस्तु का कोई विशेष धर्म नहीं है। यह प्रत्येक जड़ वस्तु में विद्यमान है। यह प्रतिक्रिया निवर्त्तकत्व (Reactivity) से भिन्न अन्य पदार्थ नहीं है।[1] स्प्रिंग (Spring) प्रभृति में जो स्थितिस्थापक धर्म की अभिव्यक्ति लक्षित होती है, वह आपेक्षिक है।

---

1. "Why are things heavy? is the next question. The answer is, that all substances attract each other in the same manner as a magnet attracts iron, so one stone attracts another stone, but with very small force, and the earth being an immense mass of different substance attracts all things on it with such force that the attraction of one stone on another is inappreciable in comparision."
—Anatomy by J.N. Lockyer, p. 146
पण्डित Lockyer कहते हैं—"Now the attractive power of bodies is in proportion to the amount of matter they contain.

स्थितिस्थापक धर्म के स्वरूपदर्शन में प्रवृत्त होने पर यह हृदयंगम होता है कि प्रत्येक मूर्त्तद्रव्य की एक-एक आपेक्षिक साम्यावस्था है (Position of relative Equilibrium) है। जिस द्रव्य में जैसी आपेक्षिक साम्यावस्था है, उस द्रव्य का स्वरूप भी वैसा ही है। इस आपेक्षिक साम्यावस्था की विच्युति कोई भी मूर्त्तद्रव्य अबाध सह्य नहीं क़र सकता। अतएव क्रियामात्र की प्रतिक्रिया है। इसी कारण स्पर्शवद् अथवा परिच्छिन्न द्रव्यमात्र ही स्थिति स्थापक है। सभी स्पर्शवद् द्रव्य ही अपनी-अपनी आपेक्षिक साम्यावस्था में, स्वरूप में विद्यमान रहने की प्राणपण से चेष्टा करता है।

गुरुत्व का कारण जानने के लिए सांख्य पातंजलदर्शन से जिज्ञासा करने से ज्ञात होता है कि तमोगुण अथवा संसर्ग शक्ति ही तमोगुण का कारण है। सांख्य का कथन है कि तमोगुण की अधिकता से द्रव्य के गुरुत्व में वृद्धि तथा इसके ह्रास से गुरुत्व का ह्रास होता है। गुरुत्व का कारण क्या है ? द्रव्य गुरु क्यों होते हैं ? इन प्रश्नों के समाधान में विद्वान् लौक्यार (J.N. Lockyer) कहते हैं कि जैसे चुम्बक (Magnet) लौह का आकर्षण करता है, सभी वस्तु उसी प्रकार से एक-दूसरे को स्पर्श करती हैं। पृथ्वी असंख्य विविध द्रव्य की संहति है। इसी कारण इसकी आकर्षण-शक्ति इतनी प्रबल है। यह आकर्षण-शक्ति ही गुरुत्व का कारण है। जब हम किसी द्रव्य को उठाते हैं, तब हम पेशीबल से आकर्षण-शक्ति की प्रतिबन्धकता (Resistence) को समाप्त करते हैं। पेशीबल जिस मात्रा में बाधित होता है, उन्नमित द्रव्य का गुरुत्व उसी मात्रा में उपलब्ध होता है।

आकर्षण ही गुरुत्व का कारण है, यह श्रवण किया। अब ज्ञातव्य यह है तुल्यपरिणाह, सामानायतन लौह तथा कपास का गुरुत्व बराबर नहीं होता, ऐसा क्यों ? पतंजलिदेव कहते हैं कि जहाँ जिस परिमाण में द्रव्य है, वहाँ वह उसी परिमाण में गुरु होता है। समानायतन (समान आयतन में) लौह तथा कपास की अणु संख्या समान नहीं है, इसी कारण गुरुत्व समान नहीं होता। अतएव सिद्धान्त है कि घनत्व अथवा मूर्त्तत्व (Density) के तारतम्य से गुरुत्व का तारतम्य होता है। शास्त्रों ने इसी कारण पृथिवीत्व, सांहत्य तथा मूर्त्तत्व को गुरुत्व कहा है। पृथ्वी तमोगुण बहुल है। तमोगुण सांख्यमत से गुरु है, प्रवृत्ति प्रतिबन्धक (Resistence) है।[1]

बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि मूर्त्त अथवा परिच्छिन्न वस्तु अन्य परिच्छिन्न वस्तु द्वारा सम्प्रयुज्यमान होने पर बाधा पाते हैं। बाधा पाना, बाधा देने का ही कर्म है, अथवा परिवर्त्तन का कारण है। बिना बाधा के कोई शक्ति उदित अवस्था अथवा क्रियमाणावस्था में नहीं आती। बाधा के अभाव में क्रिया भी नहीं होती (To resist is to act)। इसीलिए सांख्यदर्शन गुणत्रय को अन्योन्यमिथुन वृत्तिक कहता

1. "सत्त्वं लघुकाशकमिष्टमुषष्टम्भकं चलञ्च रजः। गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपच्चार्थतीवृत्तिः"

—सांख्यकारिका

है। परिच्छिन्न होते ही अर्थान्तर से विरोध हो जाता है। इसी से परिवर्त्तन (Change) होता है। अपरिच्छिन्न, अमूर्त्त किसी को बाधा नहीं पहुँचाता। उसे भी किसी से बाधा नहीं होती।[1] जो अपरिच्छिन्न है, वही है सर्वव्यापक। उसमें राग-द्वेष (Attraction & Repulsion) नहीं है। जिनमें रागद्वेष नहीं है, वे सर्वभूत में समदृष्टि रखते हैं। अत: वे न तो किसी को बाधा देते हैं, न किसी से बाधा पाते हैं। उनका मान-अपमान है ही नहीं। मान तथा अपमान आपेक्षिक है। अन्य की अपेक्षा से अवधारित होता है। प्रतियोगी अथवा विरोधी न होने पर मानावधारण होगा कैसे? दो परस्पर-विरोधी पदार्थ न होने पर मानावधारण हो भी कैसे? इसीलिए हम कहते हैं कि "परिच्छिन्न प्रकृति की प्रेरणा से वे पारग नहीं हैं।" परिच्छिन्न अथवा मूर्त्तवस्तु की कठिनादि (कठिन-solid, तरल-liquid, वायवीय-gaseous) अवस्थात्रय का स्वरूप-चिन्तन करने से हमने जो कहा उसका आशय स्पष्ट विदित हो जाता है।

द्रव्य की कठिनावस्था में अणुसमूह परस्परत: गाढ़ अथवा धनभाव से संसक्त (Firmly cohere) होते हैं। उनका मध्यवर्त्ती अवकाश (Intermolecular Space) स्वल्प होता है। इसी अवस्था में भेदवृत्ति (Repulsive) शक्ति अभिभूत होती अथवा संसर्गवृत्ति (Attractive) शक्ति प्रबल होती है। तमोगुण का प्रादुर्भाव तथा रजोगुण का अभिभव होता है। अत: इस अवस्था में आणविक शक्ति का ह्रास तथा द्रव्य का स्थितिशीलत्व, प्रतिघातधर्मकत्व (The property of offering resistence) वृद्धि को प्राप्त होता है। द्रव्यसमूह इस अवस्था में निर्दिष्ट आकार वाले हो जाते हैं। द्रव्य की तरलावस्था में अणुओं की संसक्ति शिथिल हो जाती है। ठोस अवस्था की तुलना से इस अवस्था में भेदवृत्ति शक्ति तथा रजोगुण का प्राबल्य हो जाता है। इस स्थिति में अणुसमूह अपेक्षाकृत अनिरुद्ध अथवा निरर्गल भाव से कथंचित् स्वच्छन्दता के साथ स्पन्दित होते हैं। (The molecules have more freedom of motion than in the solid) तरल द्रव्य का अपना निर्दिष्ट आकार नहीं है। यह जब जिस आधार में स्थित रहता है, तब तदाकार में आकारित हो जाता है। तरल पदार्थ में कोई वस्तु निमज्जित (Immersed) करने पर वह अधिक बाधा नहीं देती। द्रव्य की वायवीय अवस्था में अणुसमूह की भेदवृत्ति अधिक प्रबल हो जाती है। गतिशीलता वृद्धि प्राप्त करती है। ऋत्ववशत: वायवीय पदार्थ उद्गमन कर सकते हैं। तरल पदार्थ की तरह उनका भी अपना आकार नहीं है। वायवीय पदार्थ अतिमात्र संकोचनीय तथा विस्तृतत्व प्रसारी (Eminently compressible and expansive) हैं। तरलावस्था में अणुसमूह स्वाधिकरण में ही सम्पूर्ण स्वच्छन्द रूप से स्पन्दित होते हैं किन्तु वायवीय अवस्था में वे स्वच्छन्दता से आकाशपथ में विचरणशील हो जाते हैं।

---

1. "परिच्छिन्नं ह्यर्थान्तरेण सम्प्रयुज्यमानं विरुध्यते" —बृहदारण्यकोपनिषत्

द्रव्यसमूह की काठिन्यादि अवस्थात्रय सत्वादि गुणत्रय के तारतम्य अथवा अभिभव से प्रादुर्भूत होती है। सांख्य का कथन है कि सत्वगुण के प्राबल्य से द्रव्यसकल 'ऋ' हल्के हो जाते हैं। जो सत्व, रजः, तमः रूपी गुणत्रय बहिर्जगत् की प्रभृति हैं, अन्तर्जगत् में भी वे ही प्रभृति हैं। आन्तर अथवा बाह्य स्वरूपतः भिन्न नहीं हैं। व्यक्तता तथा अव्यक्तता के अतिरिक्त दोनों में कोई भेद नहीं है।[1]

इसलिए सत्वादिगुणत्रय के तारतम्य से जिस प्रकार के बाह्यपदार्थ समूह का गुण तथा अवस्थागत भेद होता है, उसी प्रकार से आन्तर पदार्थों में भी उक्त बाह्य पदार्थ के गुण अथवा अवस्थागत भेद रहते हैं। इसी प्रकार आन्तर पदार्थों में भी उक्त गुणत्रय के भागवैषम्य हेतु गुण अथवा अवस्थागत भेद हो जाते हैं। बहिर्जगत् जिस नियमाधीन है, अन्तर्जगत् भी उसी नियम के अधीन है। तब सूक्ष्मत्व स्थूलत्वादि भेदों के कारण दोनों जगत् के नियमों में पार्थक्य होना अवश्यम्भावी है। जड़ वस्तुओं की ठोस अवस्था जिस नियम के अधीन है, तरलावस्था उस नियम के अधीन नहीं है और तरलावस्था जिस नियम के अधीन है, वायवीयावस्था ठीक उसी नियम के अधीन नहीं है।

सत्वादिगुणत्रय के भागवैषम्य तथा तारतम्य के कारण बाह्यमूर्त्त पदार्थसमूह में जैसे ठोस, तरल, वायवीय अवस्था होती है, आन्तर पदार्थों में भी उसी प्रकार की ठोस-तरल-वायवीय अवस्था होती है। सत्वादि गुणत्रय के तारतम्य से बाह्यभौतिक पदार्थों को जैसे भास्वर (Luminous सत्व से), स्वच्छ (Transparent रजः गुण से) तथा अस्वच्छ (opaque तमस् से) आदि में से किसी न किसी में आविर्भूत किया गया है, आन्तर पदार्थ भी उसी कारण से इसी प्रकार भास्वरादि त्रिविध श्रेणी विभाग के अन्तर्गत आते हैं। बाह्य पदार्थसमूह जिस प्रकार राग-विरागाधीन होते हैं, वैसे ही आन्तर पदार्थ भी राग-विरागाधीन होते हैं।

---

1. अथर्ववेद में कहते हैं—"जो आन्तर वही बाह्य है, जो बाह्य है, वही आन्तर है।" विज्ञानभिक्षु का कहना है कि व्यक्तता तथा अव्यक्तता भिन्न आन्तर-बाह्य में कोई भेद नहीं है (व्यक्ताव्यक्ततामात्रभेदो ह्यान्तरवाह्ययोः"—सांख्यसार)। जर्मन देश के विद्वान् दार्शनिक हेगेल भी अविकल रूप से इसी मत का ज्ञापन करते हैं। हेगेल का कथन है कि शक्ति तथा क्रिया-व्यापार-चेष्टा (Force and Exertion) ये परस्परतः भिन्न पदार्थ नहीं हैं। क्रिया अथवा चेष्टा द्वारा ही हम शक्ति को जानते हैं। शक्ति तथा क्रिया यथाक्रमेण आन्तर तथा बाह्य की वाचक है। शक्तिशब्द से आन्तर-अव्यक्तभाव, आन्तरसत्ता तथा क्रिया से अथवा कर्म से बाह्यभाव-बाह्यसत्ता लक्षित होती है। आन्तर (Inner) तथा बाह्य (Outer) ये वास्तव में एक ही हैं। ये तादात्म्य सम्बन्ध से युक्त (Identical) हैं। आन्तर कभी भी बाह्य से अलग होकर तथा बाह्य कभी भी आन्तर से अलग होकर नहीं रहता। प्रत्येक व्यक्तभाव प्रत्येक कार्य शक्ति के आन्तर अथवा अव्यक्तभाव की बाह्यावस्था है। कारण से कार्य भिन्न नहीं है। "There two coefficients inner and outer are also identical; neither is without the other ...cause itself passes into effect"—History of Philosophy by Dr. Schwgler.

राग-विराग ही आन्तर तथा बाह्य क्रिया प्रवृत्ति के हेतु हैं। अविद्या परिच्छिन्न हृदय ही राग-विराग का आवास है। वात्स्यायन कहते हैं, जहाँ मिथ्याज्ञान है, वहीं पर रागद्वेष विद्यमान है।[1] परिच्छिन्न (Conditioned) अथवा अपूर्णशक्ति ही मिथ्याज्ञान का कारण है। अतएव यह सुखबोध्य है कि संकीर्ण आत्मज्ञान में ही राग-द्वेष प्रबल हो जाता है। जिनका राग-द्वेष प्रबल है, अतः जो संकीर्ण आत्मज्ञान वाले हैं, उनका मानापमान भाव प्रबल हो जाता है, इसलिए जिनका आत्मज्ञान जिस मात्रा में प्रसारित होता है, उनका राग-द्वेष उसी मात्रा में आकुंचित हो जाता है। उनका मानापमान भाव भी विलुप्त हो जाता है। जिस कारण से वायवीय पदार्थ की प्रसारणशीलता अथवा व्यापकत्व अधिक है, उसी कारण से तत्वदर्शी का आत्मभाव व्यापक होता है।

जिस कारण से संघात के मध्यवर्त्ती अणु अबाधित रूप से संचरण करते हैं, उसी कारण से परमात्मा के समीपवर्त्ती प्रसारित आत्मभाव वाले धार्मिक पुरुष जगत् में अबाधित रूप से विचरण करते हैं। सर्वदिक् में समान आकर्षण होने के कारण संघात के मध्य के अणु स्वच्छन्दतः अबाधरूप से स्पन्दित होते रहते हैं।[2] तत्वदर्शीगण भी सर्वभूत में समदृष्टि रखते हैं। वे सर्वभूत में आत्मा को ही देखते हैं। वे स्वाधीन भाव से[3] अबाधित सर्वत्र विचरण करते हैं। उनकी गति अव्याहत है। तभी मान-अपमान उनकी समदृष्टि में समान पदार्थ है।

"परिच्छिन्न प्रकृति की प्रेरणा से पारग नहीं है" यह बतला दिया गया है। अब "सम्मान की आकांक्षा के बिना क्या उन्नति हो सकती है" तथा "अपमान सहन योग्यता क्या योग्यताविहीन पुरुष का लक्षण तो नहीं" इन दोनों का उत्तर दिया जायेगा।

मान शब्द अवबोधार्थक 'मन्' धातु के उत्तर में 'घञ्' प्रत्यय करके सिद्ध होता है। "मेरे समान नहीं है" ज्ञान का, ऐसे मनन का नाम है मान।[4] अमरकोष में गर्व, अभिमान, अहंकार, मान, चित्त, समुन्नति इसके पर्यायवाची हैं।[5] गर्व शब्द मानार्थक गर्व धातु से ही निष्पन्न है। अहंकार अहं शब्द पूर्वक 'कृ' धातु के उत्तर में 'अण्' प्रत्यय से

---

1. "यत्र मिथ्याज्ञानं तत्र रागद्वेषाविति"—वात्स्यायन भाष्य
2. "A molecule, in the midst of the mass, moves freely, because the attractions are equal in all directions, but a molecule near the surface is in a very different condition." —The New Chemistry by J.P. Cooke, page 49
3. "यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
   सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।" —ईशोपनिषत्
4. "मान इति - मत्समो नास्ति इति मननम्। मनु अवबोधने घञ्" —भानुजी दीक्षित
5. "गर्वोऽभिमानोहङ्कारः मानश्चित्त समुन्नतिः"—अमरकोष
   मान की समुन्नति चित्त की समुन्नति है। अतियोग्य के प्रति भी चित्तोत्कर्षप्रत्यय, अपने से अनेकांश योग्य, गुणवान् व्यक्ति की अपेक्षा आत्मोत्कर्ष बोध।
   "अतियोग्यमपि मति चित्तोत्कर्षप्रत्ययस्य"—भानुजी दीक्षित

सिद्ध होता है। अहंकार की अन्यरूप निरुक्ति भी हो सकती है। सांख्यदर्शन में कहा है कि जैसे जो कुम्भ को बनाये उसे कुम्भकार कहते हैं। इसी प्रकार जो अहं को करे (बनाये) वह है अहंकार। सांख्यदर्शन में उक्त है कि ऐसे अहं को जो करे, उसे अहंकार कहा जाता है। अभिमान ही अहंकार है। तैत्तरीय आरण्यक श्रुति ने अहंकार के स्वरूप प्रदर्शनार्थ जो कहा है उसका सारांश उद्धृत किया जा रहा है।

चिदात्मा स्वयं तृषा (कामना) शून्य है। तृषा जड़ का धर्म है। चिदात्मा ध्यान, चिन्ता नहीं करता। चिदात्मा ध्यानविरहित है। हसितादि (हँसना आदि) विकार भी चिदात्मा के नहीं हैं। चिदात्मा निष्काम होकर भी, ध्यान रहित होकर भी, हसितादि विकारशून्य होकर भी, जड़ तादात्म्य के कारण सकामवत्, ध्यान शीलवत्, हसितादि विकार युक्त लक्षित होता है। प्रकृति (माया) का पुत्र (कार्य) अहंकार वास्तव में अचेतन होने पर भी चैतन्यच्छायायुक्त होने के कारण चेतनवत् प्रतिभात हो रहा है। अहंकार चैतन्यच्छायायुक्त (अर्थात् चैतन्यछाया से युक्त अहंकार) गुणत्रयात्मिका प्रकृति का कार्य है।[1] यह सात्विक-राजस-तामस भेद से त्रिविध है। कार्यमात्र भले ही चैतन्याधिष्ठित त्रिगुणमयी प्रकृति का विकार है, तथापि सभी कार्यों में सत्वादिगुणत्रय समान मात्रा (भाग) में नहीं हैं। इसका व्यष्टि तथा समष्टि द्विविध भाव होता है। प्रत्येक व्यक्ति का अवच्छिन्न अहं है व्यष्टि अहं। जड़ पदार्थों का भी अहं है। कर्म तथा उसके संस्कार के कारण परिच्छिन्न होकर पृथक्-पृथक् अहं जन्म लेता है। अहंकार के बिना कर्म नहीं होता। प्रत्येक अणु स्व-स्व अहंकार की प्रेरणा से कार्य करते हैं। इसी की प्रेरणा से वे परस्पर आकर्षण अथवा विकर्षण करते हैं। अतः यह स्थिर है कि अहंकार के बिना उन्नति नहीं होती। अहंकारशून्य होने पर जागतिक अस्तित्व ही लुप्त हो जायेगा। जिसमें क्रिया नहीं है, जागतिक दृष्टि से वह असत् है। अहंकार के बिना क्रिया ही नहीं हो सकती। इसलिए अहंकारविहीन क्रियाशून्य पदार्थ सद्रूप में गृहीत नहीं होता। कर्मभूमि में अहंकार होना ही चाहिए। परन्तु जिस अहंकार के कारण अपने से वास्तव में अधिक योग्यता तथा गुणविशिष्ट व्यक्ति को भी अपने से अपकृष्ट मानना, ऐसे व्यक्ति की तुलना में स्वयं को समुन्नत मानना होता है, वह अहंकार तामस अथवा नितान्त परिच्छिन्न है। यह उन्नति प्रदायक नहीं है। इसे वृथाभिमान अथवा गर्व कहते हैं। ऐसा अहंकार तथा मान उन्नति-प्रार्थी अवश्य त्यागे। यह अधःपतन का मार्ग प्रशस्त करता है।

न्यायदर्शन में कहा है कि वाक्, मन तथा शरीर का आरम्भ, व्यापार अथवा क्रिया ही प्रवृत्ति है।[2] प्रवृत्ति पुण्य-पाप भेद से द्विविध है। मनुष्य में वाचिक-मानसिक तथा शारीरिक व्यापार अथवा प्रवृत्ति क्यों होती है? महर्षि गौतम कहते हैं कि दोष प्रयुक्त

---

1. "तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिवलिङ्गम्। गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेभवत्युदासीनः"
—सांख्यकारिका

2. "प्रवृत्तिर्वागबुद्धिशरीरारम्भः"—न्यायदर्शन, 1/1/17

होकर पुरुष वाचिक-मानसिक तथा कायिक पुण्य-पाप में प्रवृत्त होता है। दोष कौन पदार्थ है? प्रवृत्ति ही दोष का लक्षण है। इसी से दोष लक्षित होता है। दोष ही पुरुष को कर्म में प्रवर्तित करते हैं। प्रवर्त्तनालक्षण इस दोष पदार्थ का ही महर्षि गौतम राग-द्वेष तथा मोह, इस त्रिविध राशि द्वारा निर्वाचन करते हैं। इनका लक्षण क्या है? अनुकूल पदार्थ में जो अभिलाषा है, वह है राग। प्रतिकूल पदार्थ से जो अप्रीति है, अक्षान्ति है, जो विराग है, वह है द्वेष। अन्त में पदार्थसमूह को अयथाभाव से ग्रहण करना, मिथ्याज्ञान है मोह। जिज्ञासा होती है कि ईर्ष्या, असूया, लोभ, मान, मद, मात्सर्य प्रभृति अनेक दोष हैं, तब महर्षि गौतम ने केवल रागादि तीन का ही निर्वाचन क्यों किया? महर्षि गौतम कहते हैं ईर्ष्यादि अन्यान्यदोष समूह रागादि त्रिविध दोषराशि में अन्तर्भूत हैं। काम, मात्सर्य, स्पृहा, तृष्णा तथा लाभ ये 5 प्रकार के दोष रागपक्ष के हैं। क्रोध-ईर्ष्या, असूया, द्रोह तथा अमर्ष ये 5 प्रकार के दोष द्वेष पक्ष के हैं। मिथ्याज्ञान, विचिकित्सा, मान तथा प्रमाद, ये चारों दोष मोह पक्ष में अन्तर्भूत हैं।[1]

जो-जो नहीं है, उसे वह कहना, जानना मिथ्याज्ञान है। विचिकित्सा अर्थात् संशय। विरुद्ध अनेककोट्यवगाहि ज्ञान, असदगुण का (जो गुण नहीं है उसका) अध्यारोप करके आत्मोत्कर्ष बुद्धि का नाम मान है। एवं अनवधानता—यह पुन: क्या? इस प्रकार से अवज्ञापूर्ण हो कर्त्तव्य को न करना प्रमाद है। श्रुति का कथन है काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा इत्यादि मन की ही भिन्न-भिन्न वृत्ति अथवा रूप हैं।[2]

व्यापार तथा क्रिया द्वारा हम शक्ति का अनुमान करते हैं। शक्ति के बिना क्रिया निष्पन्न नहीं होती। मनुष्य जब वाचिक, मानसिक तथा कायिक व्यापार निष्पादन करता है, तब मनुष्य में यह त्रिविध व्यापार निष्पादिका शक्ति है, (Impulses of Action) इसका अनुमान हो जाता है। विद्वान् काल्डरवुड (Calderwood) ने कहा है कि मनुष्य प्रकृति में कतिपय शक्ति है। इनके प्रवर्त्तनवशात् मनुष्य कर्म करता है। महर्षि गौतम ने दोष पद से जिस पदार्थ को लक्ष्य किया है, काल्डरवुड ने इंपल्स (Impulses) द्वारा अनेकत: उसी पदार्थ का उद्देश्य किया है।[3]

---

1. "प्रवर्त्तनालक्षणादोष"—न्यायदर्शन, 1/1/17

तथा "प्रवर्त्तना प्रवृत्ति: सा लक्षणमेयामिति प्रवर्त्तनालक्षणा दोषा:। दोषप्रयुक्तो हि पुरुष: पुण्यो कर्मणि पापे वा प्रवर्त्तते। तेषां दोषाणां त्रयो राशयो भवन्ति राग द्वेषो मोह इति। तत्रानुकूलेष्व-भिलाषलक्षणे राग:। प्रतिकूलेष्वसहलक्षणो द्वेष: वस्तुपरमार्थापरिच्छेदलक्षणोमिथ्यावसायी मोह:"—जयभट्ट कृत न्यायमंजरी

2. "कामसङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृति ह्रीर्भिरीत्येत् सर्वं मन एव"

—बृहदारण्यक उपनिषत्

3. "There are certain forces belonging to human nature which so operate as to impel us to act. By means of these impulse activity is made a law of our nature."—Handbook of Moral Philosophy, Part II, Chapt. I.

जड़विज्ञान आकर्षण-विकर्षण को प्राय: सभी क्रियाओं का कारण मानता है। आकर्षण-विकर्षण ही सभी शक्तियों का सामान्य रूप है। मोहपक्ष सम्बन्ध की किसी बात को कहना जड़विज्ञान का प्रयोजन नहीं है। इसी कारण से जड़विज्ञान मोहपक्ष सम्बन्धित कोई बात नहीं कहता। मोहपक्ष और राग तथा द्वेषपक्ष की ओर दृष्टिपात किये बिना ही महर्षि गौतम के ऊपर कहे गये उपदेश का मर्म वैज्ञानिकगण भी कोई श्रम किये बिना जान सकते हैं। राग तथा द्वेष ही सभी प्रकार के कर्म के प्रवर्त्तक हैं, यह वैज्ञानिकों को स्वीकार्य है।

महर्षि गौतम जिस अर्थ में दोष शब्द का प्रयोग करते हैं, आयुर्वेद में भी अनेकांश में 'दोष' शब्द का प्रयोग देखने में आता है। भगवान् आत्रेय पुनर्वसु मनोविकार तथा शारीर विकार हेतु समझाने के लिए दोष शब्द का व्यवहार करते हैं। रज: तथा तम: ये मन:विकार के हेतु हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, मान, मद, शोक, चित्तोद्वेग, भय, हर्ष इत्यादि रज: तथा तम: मानसदोष द्वय के विकार हैं।[1] भगवान् यास्क रज: को काम (Attraction) तथा तम: को द्वेष (Repulsion) कहते हैं।[2] इस प्रकार यह विदित होता है कि रज: तथा तम: अथवा राग एवं द्वेष आन्तर तथा बाह्य सभी प्रकार के विकार के कारण हैं, शास्त्र का भी यही मत है।

मनुष्य जिन सब कर्मों को करता है, उनका स्वरूप चिन्तन करने से तथा उनकी उपलब्धि करके हमारे मन में क्या आता है? कर्म के स्वरूप का विचार करने से हमें प्रतीत होता है कि कर्ममात्र ही त्याग ग्रहणात्मक है। हम ईप्सित रूप से निश्चित पदार्थ के ग्रहण के लिए तथा त्याज्य एवं अनीप्सित रूप अवधारित पदार्थ का परिहार करने के लिए कर्म करते हैं। मानस तथा शारीर सभी कर्म त्याग-ग्रहणात्मक है। रज:-तम: अथवा राग एवं द्वेष सर्व प्रकार के कर्म के प्रवर्त्तक हैं— जो इसे स्वीकार करते हैं, उनके लिए यह अवधारण सुगम होगा कि कर्ममात्र त्याग-ग्रहणात्मक है। त्याग-ग्रहणात्मक कर्म का उद्देश्य क्या है? सुख-दु:ख में से सुख की प्राप्ति तथा दु:ख का परिहार ही इसका उद्देश्य है। जो आत्मा का अनुकूल वेदनीय है वह है सुख, जो प्रतिकूल वेदनीय है उसका परिहार करने के लिए कर्म किया जाता है।[3]

---

1. ''रजस्तम मानसौ दोषौ, तयोर्विकाराकामक्रोधलोभमोहेर्षामानमदशोक चित्तोद्वेग- भयहर्षादय:''
—चरकसंहिता, विमान स्थान
2. ''सत्त्वं तु मध्ये विशुद्धं तिष्ठत्यभितोरजस्तमसौ रज: इति कामद्वेषस्तम इति।'' निरुक्त
3. छान्दोग्य श्रुति में कहा है कि सुख के लिए ही लोगों में कर्मप्रवृत्ति होती है। सुखलाभार्थ सब कर्म करते हैं। कृति सुखोद्देश पूर्विका है। सुख न पाने पर कोई स्वेच्छा से कोई कर्म नहीं करता। जिस कर्म में सुख की आशा नहीं है, उसमें किसी की स्वत: प्रवृत्ति नहीं होती।
''यदावैसुख लभतेऽथ करोति नासुखं लब्धाकरोति सुखमेव लब्धाकरोति''—छान्दोग्योपनिषत्

सुख-दुःख इन पदार्थ द्वय का स्वरूप चिन्तन करने पर विदित होता है कि आत्मा की अबाधित तथा निरर्गल अवस्था ही सुख है और अवरुद्ध अर्वस्था ही दुःख है। जिसकी अबाधितावस्था सुख है और बाधितावस्था दुःख है, उस आत्मनामक पदार्थ का स्वरूप क्या है ?

'आत्मन्' शब्द सातत्यगमनवाची अत् धातु के उत्तर में मणिन् प्रत्यय करके निष्पन्न होता है। जो सर्वग हैं, जिनके द्वारा निखिल पदार्थ व्याप्त है, जो नित्य है, वे आत्मा हैं।[1] जो सर्वगत हैं, सर्वव्यापक हैं, जो नित्य हैं, वे आत्मा हैं। आत्मा शब्द का यही प्रकृत अथवा पारमार्थिक अर्थ है। द्वेषविनिर्मुक्त पुरुष के बिना आत्मा के इस पारमार्थिक अर्थ को यथायथ भाव से ग्रहण करना अन्य के लिए साध्य नहीं है। छान्दोग्य श्रुति ने कहा है कि "आत्मा अधोदेश में विद्यमान है। आत्मातिरिक्त अधोदेश में अन्य पदार्थ नहीं है। इस प्रकार वही ऊर्ध्व है, वही पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण में स्थित है। मनः-बुद्धि-प्राण-आशा-स्मृति-आकाश-तेजः-अप-बल-कर्म इत्यादि सर्व पदार्थ का आत्मा से ही आविर्भाव-तिरोभाव होता है। आत्मा ही अखिल पदार्थ की उत्पत्ति-स्थिति तथा लय कारक है।[2]" बृहदारण्यक श्रुति में कहा गया है कि आत्मा जब प्राणन क्रिया सम्पादित करता है, तब प्राण नाम से, जब वाक्य का उच्चारण करता है तब वागिन्द्रिय नाम से, जब ऐन्द्रियक कार्य करता है, तब चक्षुरादि इन्द्रियों के नाम से, जब मनन कार्य करता है, तब मनः नाम से उक्त होता है।

प्राण-वाक् (यहाँ वाक् से कर्मेन्द्रियसमूह का तात्पर्य) चक्षु-श्रोत्र-मनः इत्यादि आत्मा के कर्मज नाम हैं। एक सामान्य शक्ति के क्रियाभेद के कारण नानाविध नाम हो जाते हैं। भगवान् शंकराचार्य कहते हैं कि वाक् तथा प्राण द्वारा यहाँ क्रियाशक्ति विकार एवं चक्षु-श्रोत्र द्वारा यहाँ विज्ञान शक्ति विकार प्रदर्शित है। मनः ज्ञान शक्ति विकार का साधारण कारण है। पुरुष (कर्त्ता) जिसके द्वारा मनन कार्य सम्पन्न करता है, वह पदार्थ है मनः। मननशील पुरुष ही मनः नाम से लक्षित होते हैं।[3] श्रुति का उपदेश है कि अहं (मैं) शब्द से जिस पदार्थ को लक्ष्य करते हैं, वही आत्मा है। छान्दोग्योपनिषत् ने यह समझाने के लिए कि अहं तथा आत्मा एक ही पदार्थ है, कहा है कि मैं ही अधः में,

---

1. "आत्माातते वाप्तेर्वापि व्याप्त वाप्तेर्वापि व्याप्त इव स्याद यावद्वयाप्तिभूत इति-निरुक्त—नैघण्टुकाण्ड

2. "आत्मैवाधस्तादत्मैवोपरिष्ठादात्मापश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति।"..... "आत्मतः प्राण आत्मत आशात्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यान-मात्माश्चित्तमात्मतः सङ्कल्प आत्मतो मन आत्मतोवागात्मतो नामात्मतो मन्त्राः।"

3. "प्राणन्नेव प्राणी वदन्वाणी त्याभ्यां क्रियाशक्त्यपद्भवं प्रदर्शितो भवति पश्यंश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रमित्याभ्यां विज्ञानशक्त्युद्भवं प्रदर्शितो भवति पश्यंचक्षुः शृण्वन् श्रोत्रमित्याभ्यां विज्ञानशक्त्युद्भव प्रदर्श्यते। मन्वानी मनो मनुत इति ज्ञानशक्तिविकासानां साधारणं करणं मनः मनुतेऽनेनेति पुरुषस्तु कर्त्ता सन्मन्वाणो मन इत्युच्यते।" (शांकरभाष्य)

ऊर्ध्व में, पश्चिम में, पूर्व में, दक्षिण में, उत्तर में अर्थात् मैं ही सभी दिशाओं में, सर्वकाल में, सर्ववस्तु में हूँ, मैं ही सर्वमय हूँ। 'मैं' से भिन्न कोई पदार्थ नहीं है।[1]

हम सर्वत्र अहं कहकर जिस पदार्थ का भान करते हैं, क्या वह सर्वव्यापक अपरिच्छिन्न आत्मा है ? हम साधारणतः अहं अथवा 'मैं' को प्रकृतरूपेण लक्ष्य नहीं कर पाते। क्योंकि आत्मा का प्रकृतरूप अविद्यापरिच्छिन्न हृदय में प्रतिभात नहीं होता। आत्मा के परिच्छिन्न रूप से ही हमारा परिचय है। अतएव हम 'अहं' द्वारा जिस पदार्थ को लक्ष्य करते हैं, वह यहाँ उद्धृत् श्रुतिवर्णित सर्वव्यापक अपरिच्छिन्न आत्मा नहीं है। निरुक्त टीकाकार भगवान् दुर्गाचार्य कहते हैं, आत्मा के सर्वगत होने पर भी जैसे प्रतप्त लौह पर एक मुट्ठी कुश घास छोड़ने पर वहाँ तत्काल अग्नि की अभिव्यक्ति हो जाती है, वैसे ही सर्वगत आत्मा कार्य-कारण संघात द्वारा जब तक व्याप्त रहता है, तब तक ही आत्मा लक्ष्यीभूत होता है, तब तक ही चैतन्यशक्ति की अभिव्यक्ति होती है। जो स्थूल है, वह कार्य है। वह सूक्ष्म अथवा कारण द्वारा व्याप्त है। जो स्थूल है, वह कार्य है। अतएव कार्य कारणात्मक है। वह अन्तः एवं बहिरूप अवस्थाद्वय युक्त है। जिसका जो सूक्ष्म होता है, जिसका जो कारण तथा व्यापक है, वही उसका आत्मा है। विज्ञानभिक्षु सांख्यसार में अनेकतः यही बात कहते हैं। वे समझाते हैं कि जिसका जो कारण है, वह उसका व्यापक है। वह उसकी आत्मा है। वही उसका ब्रह्म है।[2]

हम परमात्मा को, अपने अपरिच्छिन्न वास्तविक अहं को क्यों नहीं जान पाते ? अहं प्रत्ययगम्य जीवात्मा के अन्तर्वर्त्ती-अन्तर्यामी परमात्मा का अस्तित्व हमारे

---

1. ''स एवाधस्तात् स उपरिष्ठात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वमित्यथातोहङ्कारोदेश एवाऽमेवाधस्तादऽमुपरिष्ठादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तर-तोऽहमेवेदं सर्वमिति''—छान्दोग्योपनिषत्

2. आत्मा अततेर्वा सर्वमेव हि तेनाततिं भवति सर्वगत्वात् कापेर्वा सर्वमेव हि तेन व्याप्तं भवति सर्वगतत्वादेव। अपिव्याप्तं इव सद्वातेत्तामि कार्य कारणस्थः यावद्व्याप्तिभूत इति अपिचैव-मन्यथास्यात् आप्तव्याप्तो हैवस्तात्। किञ्च सर्वगत्वेऽपि सति यावन्मात्रमेव तस्य कार्यकारण-संघातेन व्याप्यते तावन्मात्रभूत एवासौ लक्ष्यते, तावन्मात्र हि प्रदेशे तस्य चैतन्यशक्तिरभिव्यज्यते, तप्तायसि दर्भमुष्टिप्रक्षेपात् अग्न्याभिव्यक्तिवदिति। सूक्ष्मेण हि स्थूलं व्याप्यते, न स्थूलेन सूक्ष्मम्। स्थूलस्य कार्यकारणम्। सूक्ष्म आत्मा, तस्मादिवशब्दः—निरुक्त टीका

तथा ''यस्य यद्व्यापकं तस्य तद्ब्रह्माऽतो धारादिकम्''—सांख्यसार

सायणाचार्य ऐतरेय आरण्यक श्रुति का भाष्य करते हैं ''आत्मा व्यवहार विशिष्ट तथा केवल रूपेण द्विविध है। इस द्वैविध्य का स्वरूप बताने के लिए महर्षिगण यह निरुक्ति करते हैं'' जो प्राप्त है—(स्वप्नावस्था में जीव जागरणावस्था की सभी वासनाओं को ग्रहण किये रहते हैं) जो भोग करता है और जिसका स्वभाव सन्तत है, परिच्छेद रहित है। व्यवहार विशिष्ट आत्मा की जागरण, स्वप्न-सुषुप्तिरूप त्रिविधावस्था है। तीन अवस्थाओं में यह त्रिविध निर्वाचन किया गया है। ''जिनका स्वभाव संतत (Persistant unconditioned) है,'' यह केवलात्मा का स्वरूप निर्देशक है। ''आत्मशब्द स्यार्थो महर्षिभिरेवं स्मर्यते। यश्चाप्नोति यदादत्तेयश्चात्ति विषयानिह। यश्चास्य सन्तति भवस्तस्मादात्मेतिकीर्त्यते।'' इति। द्विविधो हि आत्मा। व्यवहार विशिष्ठः केवलश्चेति। विशिष्टव्यवहारोऽपि त्रिविधः। जागरणं स्वप्न सुषुप्तिश्चेति''—ऐतरेय आरण्यक भाष्य

विश्वास में क्यों नहीं आता? देहादि से अलग, व्यतिरिक्त स्वतन्त्र आत्मा नामक पदार्थ के अस्तित्व को हम कल्पना का विजृम्भण कहकर क्यों इसे नहीं मानते? ऋग्वेद संहिता में कहा है कि जो नीहारप्रावृत्त-नीहारसदृश अज्ञान से आच्छन्न हैं जिनका उदरपूरण, इन्द्रिय-सेवा, इन्द्रिय सुखभोग ही जीवन का उद्देश्य है, वे कभी परमेश्वर का तत्वविचार नहीं करते, वे कभी अहं प्रत्ययगम्य जीवात्मा के अन्तर्वर्त्ती-अन्तर्यामी परमात्मा को नहीं जान पाते। स्थूल प्रत्यक्ष प्रमाणगम्य विषय के किसी भी विषयान्तर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं कर पाते।[1] जीवात्मा को ही हम अहं शब्द द्वारा साधारणतया लक्षित करते हैं। जीवात्मा कौन पदार्थ है? वेदान्तदर्शन जीवात्मा के स्वरूप दर्शनार्थ जो कहते हैं, उसका संक्षिप्त संवाद यहाँ सन्निवेशित किया जा रहा है।

सच्चिदानन्दमय ब्रह्म में प्रतिबिम्ब समन्वित त्रिगुण की साम्यावस्था प्रकृति है। माया तथा प्रकृति एक पदार्थ है। श्वेताश्वतर श्रुति ने माया को ही प्रकृति कहा है। माया तथा प्रकृति, दोनों के लिए श्वेताश्वतर की समान दृष्टि है।[2] पंचदशी ने प्रकृति को द्विधा विभक्त किया है—माया एवं अविद्या। इस ग्रन्थ में रज: तथा तम: से अभिभूत मलिन सत्ता प्रकृति अविद्या कही गयी है। माया प्रतिबिम्बित चैतन्य जो माया को वशीभूत करके विद्यमान हैं, माया जिनके अधीन है, जो सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान हैं, वे ईश्वर हैं तथा अविद्या से प्रतिबिम्बित अविद्यावशग चैतन्य जीव कहलाता है। अप्पय दीक्षित स्वप्रणीत सिद्धान्तलेशसंग्रह ग्रन्थ में कहते हैं कि "चिन्मात्र स्वरूपिणी, चिन्मात्राश्रित, भूत प्रकृति अथवा माया में जो चित्प्रतिबिम्ब है, वह ईश्वर है और आवरण-विक्षेप शक्ति विशिष्ट अविद्या संज्ञक पदार्थ से परिच्छिन्न अनन्त प्रदेशसमूह में प्रतिबिम्बित जो चित् प्रतिबिम्ब है, वह है जीव। 'संक्षेप शारीरक' ग्रन्थकार सर्वज्ञमुनि "कार्योपाधि जीव तथा कारणोपाधि ईश्वर" के श्रुति वाक्य का अनुसरण करते हुए अविद्या में चित् प्रतिबिम्ब को ईश्वर तथा अन्तकरण के चित्प्रतिबिम्ब को जीव कहते हैं।[3]

---

1. "न तं विदाय य ईसा जजान्यद्युस्माकमन्तरं वभूव। नीहारेण प्रावृता जल्प्याचासुतृप उकथ शासश्चरन्ति"—ऋग्वेद संहिता 10/6/82
2. "माया तु प्रकृतिं विद्यात्"—श्वेताश्वतरोपनिषत्
3. चिदानन्दमयं ब्रह्म प्रतिबिम्बसमन्विता।
   तमोरतं सत्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा चसा॥
   सत्वशुध्याविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्ये च ते मते।
   मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वजते ईश्वरः।
   अविद्यावशःगस्त्वन्युस्तद्वैचित्यादनेकधा" —पंचदशी

तथा—"तत्त्वविवेके तु त्रिगुणात्मिकाया मूलप्रकृतेः जीवेशावभासने करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवतीति श्रुतिसिद्धौ हि रूपभेदौ। रजस्तमोऽनभिभूतशुद्धसत्त्वप्रधाना माया, तदभिभूतमलिनसत्वा अविद्येति मायाविद्याभेदं परिकल्प्य मायाप्रतिबिम्ब ईश्वरः अविद्या-प्रतिबिम्बोजीव इत्युक्तम्। अनादिरनिर्वाच्यभूत प्रकृतिचिन्मात्रसम्बन्धिनो माया। तस्यां चित्प्रतिबिम्ब ईश्वरः तस्या एव परिच्छिन्नानन्तु प्रदेशेष्वावरणविक्षेप शक्तिमत्स्वविद्याभिधानेषु चित्प्रतिबिम्बो जीव इति।"

—सिद्धान्तलेशसंग्रह

ऋग्वेदसंहिता में कहते हैं कि सर्वशक्तिमान इन्द्र (परमात्मा) माया अथवा स्वीयसंकल्पशक्ति से पुरुरूप विविध शरीर धारण करता है। यह इन्द्र आकाशवत्, सर्वगत्, सदानन्दरूप हैं। यह अन्तःकरणादि उपाधि से प्रति शरीरावच्छिन्न होकर जीवात्मा हो गये हैं। ये ही अनादि मायाशक्ति द्वारा वियादादि जगदात्मा में विवर्तित हो जाते हैं। शब्दादि विषय हरणशील इन्द्रिय वृत्तिसमूह इनसे ही सम्बद्ध है।[1]

योगवाशिष्ठ में कहते हैं कि चित्संवित् सर्वत्र, सर्ववस्तु में विद्यमान है। चित्संवित् अपरिच्छिन्न, अनन्त तथा पूर्ण है। यह देशतः-कालतः-वस्तुतः परिच्छिन्न नहीं है। चित्संवित् सर्वदा सर्वत्र विद्यमान होने पर भी, जैसे शक्ति यन्त्रगत हुए बिना अभिव्यक्त नहीं होती, विरुद्ध बल से बाधित न होने पर वह अभ्युदिता नहीं होती, उसी प्रकार भूत तन्मात्र द्वारा बाधित न होने पर चित्तसंवित् अभ्युदिता नहीं होती। सौर आतप सर्वग होने पर भी जिस प्रकार से भित्ति (दीवार-छत) आदि रहने से विजृम्भित होता है, इनके द्वारा प्रतिबद्ध न होने पर भी, उपाधिगत न होने पर भी अभिव्यक्त नहीं होता, उसी प्रकार देहावच्छिन्न न होने पर सर्वव्यापिनी चित्संवित् स्फुरिता नहीं होती। उपाधिगता नहीं होती। जो चित्संवित् उपलब्धा, अनुभूता होती है, वह बुद्धि प्रतिबिम्बिता है।[2] शुद्ध-सूक्ष्म ईश्वर के परिस्पन्दन से ताप, तड़ित्, आलोक प्रभृति भौतिक शक्तिसमूह की उत्पत्ति होना जिस कारण से युक्तिसंगत नहीं होता, बाधा न होने पर किसी शक्ति का उदित अथवा क्रियाशक्ति में आगमन जिस कारण से असंभवपर है, अनेकतः उसी कारण से ही भूततन्मात्रवशगा न होने पर चित्संवित् अभिव्यक्ता नहीं होती। देह के बिना इसका स्पन्दन नहीं हो सकता। ये तरलायिता हैं, चंचलीभूत नहीं होतीं। बुद्धि की चंचलता से ही ये चंचला हो जाती हैं। चंचलवत् प्रतीयमान होती हैं।

क्या जड़वस्तु में चित्संवित है? जब चित्शक्ति अपरिच्छिन्न है, अनन्त तथा पूर्ण है, तब ये जड़ में भी विद्यमान हैं। यदि ये जड़ में विद्यमान हैं, तब उनमें अनुभूति

---

1. ''रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव तदस्यरूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ताह्यस्य हरयः शतादश।'' —ऋग्वेद संहिता 4/47/18
इन्द्रोमायाभिः ज्ञाननामेतत् ज्ञानैरात्मीयैः सङ्कल्पैः पुरुरूपो बहुविधशरीरः सन् ईयते। ...स एवोपाधिभिरन्तकरणैः प्रतिशरीरमवच्छिन्नः सन् जीवात्मेति व्यपदिश्यते स एव अनादिमायाभिः वियदादिजगदात्मना विवर्त्तते शब्दादि विषयहरणशीला इन्द्रियवृत्तयश्च सम्बन्धाः।
—सायणभाष्य

2. ''सर्वत्र सर्वदा सर्वं चित्संविद् विद्यतेनघः।
किन्त्वस्या भूततन्मात्रवशाद्भ्युदयः क्वचित्।
सर्व विद्यमानापि देहेषु तरलायते।
सर्वगोऽप्यातयः सौरीभिः इत्यादौ वै विजृम्भते।'' —योगवाशिष्ठ
''क्वचिन्नष्टं क्वचित् स्पष्टं क्वचिदुच्छिन्नतां गतम्। वस्तुवस्तुनि दृष्टं तत्तत् सद्भावै विजृम्भितम् चिदशं इव ना सत्तांशे तारतम्यमित्याह तदिति। तेषां त्रिविधोपाधीनां सर्वानुभवसिद्धैः सद्भावैरेव लिङ्गैः तत्सर्वत्र विजृम्भितमनभिभूतमित्यर्थः''—योगवाशिष्ठ टीका

का अभाव क्यों है? ऐसी स्थिति में ये अचेतन क्यों हैं? पूज्यपाद वशिष्ठ देव इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि उपाधि के कारण जिस चित्संवित् की अभिव्यक्ति होती है, वह पहले कहा गया है। इस उपाधि की मालिन्यता के कारण चिदभिव्यक्ति का तारतम्य हो जाता है। मृत्तिका, शिला इत्यादि वास्तव में चित्पदार्थ अविद्या की तमोगुण बहुल प्रकृति के जाड्याभिभव के कारण तप्तवारिस्थ शैत्य के समान नष्ट हो जाते हैं (जैसे उबलते पानी में हिम नष्ट हो जाता है)। अदृश्य हो जाते हैं। तप्तवारिस्थ शैत्य जैसे विलुप्त हो जाता है, मृच्छिलादि (शिला, मिट्टी आदि) जड़वस्तुनिष्ठ चिच्छक्ति उसी प्रकार से विलुप्त हो जाती है। देव-मनुष्यादि की उपाधि स्वच्छ है। इसीलिए देव-मनुष्यादि की उपाधि में चित् की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है। वृक्षादि की उपाधि में चित् को उच्छन्नता, बहिःसंवेदनविवेकाक्षमता प्राप्त होती है। सच्चिदेकरस आत्मा का चिदंश ही उपाधिमालिन्य तारतम्य के कारण अब अभिव्यक्ति तारतम्य हो जाता है, किन्तु सत्तांश का तारतम्य नहीं होता। प्रागुक्त सभी उपाधि में आत्मा का सत्तांश विजृम्भित होता है। आत्मा का सत्तांश सर्वत्र अनभिभूत है। वह सर्वानुभवसिद्ध है।[1]

चेतनाचेतन भूतजात अखिल व्योम ही सभी में वस्तुतः परमेश्वर की मायाकल्पित भिन्न-भिन्न अभिव्यक्ति है, Manifestation है। प्राण-मनः-बुद्धि-ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ, इनमें पंचतन्मात्र पंचधागत पंच प्रकार से अभिव्यक्त हैं। पंच प्रकार से स्पन्दित पंचविध अवस्था! तन्मात्र पंचक की पंच प्रकार से स्पन्दित प्राणादि पंच पदार्थ की समष्टि को सूक्ष्म अथवा लिंगदेह (Astral Body) कहते हैं। इस सूक्ष्म अथवा लिंगशरीर में प्रतिबिम्ब रूप से प्रविष्ट चित्संवित ही 'जीव' है। "मैं" कहने से जीवत्वावच्छिन्न, जीवभावापन्ना, लिंगशरीर प्रतिबिम्बिता चित्संवित् ही लक्षिता है।[2] जीव जैसा कर्म करता है, लिंगदेह वैसे ही संस्कार में संलग्न होता है। लिंगदेह उसी प्रकार वासना से वासित होता है। लिंगदेह की वासना अथवा संस्कार के अनुसार सूक्ष्मभूत अथवा पंचतन्मात्र के पंचीकरण से स्थावर, जंगम, अचेतन, रूप सर्वपदार्थ का स्थूलदेह उत्पन्न होता है। लिंगशरीर (सूक्ष्मदेह) के भेद के ही कारण व्यक्तिभेद होता है। योगवाशिष्ठ में जिस प्रकार से स्थावर-जंगम सर्वप्रकार के शरीरी पदार्थ का अस्तित्व अंगीकार किया है, इसे सुना।

विद्वान् रिचमण्ड (Olney H. Richmond) कहते हैं कि जैसे लिंगशरीर ही मनुष्य को मनुष्य करता है, मनुष्य को मानवीयाकृति में परिणत तथा मानवोचित बुद्धियुक्त करता है, जैसे लिंगशरीर ही व्यक्तिगत मानवीय अस्तित्व के नानाविधत्व

---

1. "क्वचिन्नष्टं क्वचित् स्पष्टं क्वचिदुच्छिन्नतां गतम्।
वस्तुवस्तुनि दृष्टं तत्तसम्भावैर्विजृम्भितम्॥" —योगवाशिष्ठ
2. "तत्पञ्चधागतं द्वित्वं लक्ष्यसे त्वं स्वसंविदम्।
अन्तर्भूतविकारादि दीपाद्दीपशतं यथा।" —योगवाशिष्ठ

अथवा वैचित्र्य का कारण है, वैसे ही जड़ सांयोगिक का लिंगदेह ही उसे विभिन्न धर्माक्रान्त करता है। पृथक्-पृथक् गुणयुक्त करता है।[1] विद्वान् रिचमण्ड पुन: कहते हैं कि लिंग अथवा सूक्ष्मदेह का अस्तित्व अंगीकार न करने पर कतिपय पदार्थों के संयोग-विभाग तथा स्पन्दन तारतम्य के कारण समस्त उच्चावच पदार्थ सृष्ट होते हैं अथवा हो रहे हैं, यह बात उपपन्न नहीं होती।[2]

सांख्यदर्शन ने इन्द्रिय (5 ज्ञानेन्द्रिय-5 कर्मेन्द्रिय-तथा मन:), पंचतन्मात्र अथवा सूक्ष्मभूत तथा बुद्धि (अहंकार भी बुद्धि के अन्तर्भूत है) के साथ लिंगशरीर को 17 अवयवों से युक्त कहा है। सुख-दु:ख का भोग लिंगशरीर ही करता है। लिंगशरीर जब स्थूल शरीर से निष्क्रान्त होता है, तब मृत्यु हो जाती है। मृतशरीर में सुख-दु:खादि का अभाव रहता है। अतएव स्वीकार करना होगा कि सुख-दु:ख भोग स्थूलशरीर का नहीं होता। लिंगशरीर एक है अथवा अनेक है? आदिसर्ग में हिरण्यगर्भोपाधिरूप एक समष्टि लिंगशरीर था, पश्चात् उसका व्यक्तिभेद होने से, व्यक्तिरूप में अंशत: नानात्व हो गया। ऐसा क्यों हुआ? कर्मविशेष से ही भिन्न-भिन्न जीवों का भोगहेतुक कर्मभोग ही व्यक्तिभेद का कारण है। जीवों का साधारण कर्म समष्टि सृष्टि का हेतु है। विशेष-विशेष कर्म व्यष्टि सृष्टि का हेतु है।[3]

---

1. "This show that just as the soul or astral in man is what 'makes the man' so the astral in an inorgance compound is what gives character to the compound." —Religion of the Stars by. O.H. Richmond, p. 99
2. "Chemists are constantly taking advantage of this law of life without knowing really what it is. For instance, I wish to form a certain compound that requires a peculear astral body or real soul force, to make it what it required. What must I do? I must take steps to liberate the right kind of an astral force at the exact instance that I wish the union to take place. I then get the chemical properties wanted, otherwise I would not.

   The reason for this, that the peculear astral having the vibrating force needed is not common, and under other circumstances than those named I cannot cause the incarnation. Materialistic chemists explain this property of matter by calling it the 'nascent' or just born state of matter, which does not explain it at all." —Religion of Stars, p. 97
3. "सत्पदशैक लिङ्गम्" —सांख्यदर्शन 3/9

   "व्यक्तिभेद: कर्मविशेषात्।" —वही 3/10

   "यद्यपि सर्गादौ हिरण्यगर्भोपाधिरूपमेकमेव लिङ्गं तथापि तस्य पश्चाद्व्यक्तिभेदो व्यक्ति-रूपेणांशती नानात्वमपि भवति।"

   "तत्र कारणमाह कर्मविशेषादिति। जीवान्तराणां भोगहेतुकर्मादेरित्यर्थ।
   अत्र विशेषवचनात् समष्टि सृष्टिर्जीवानां साधारणैकर्मभिर्भवतित्यायातम्।"

   —सांख्यप्रवचन भाष्य

डेकार्ट, लीवनीज्ड, डूगाल्ड स्टीवर्ट प्रभृति विद्वान् स्वीकार करते हैं कि मानव कतिपय सहजज्ञान (पूर्व संस्कार) Innate Ideas के साथ जन्म लेता है। हमारा यह संस्कार सहज है कि "कार्यमात्र की कार्योत्पत्ति बिना कारण नहीं होती।" "कार्य मात्र का कारण है"। पाश्चात्य वैज्ञानिकों-दार्शनिकों में से जो कार्य-कारण सम्बन्ध को सहज मानते हैं, वे भी यह समझाने में सफल नहीं होंगे कि किस प्रकार से कार्यकारण ज्ञान मानव में सहज हो सकता है? सूक्ष्मशरीर का अस्तित्व स्वीकार किये बिना मानव का सहसंस्कार तत्व कैसे प्रतिपन्न होगा? न्यायदर्शन में इच्छा-द्वेष-प्रयत्न सुख, दुःख तथा ज्ञान को जीवात्मा का धर्म कहा जाता है। न्यायदर्शन प्रेत्यभाव अथवा पुनर्जन्म को मानता है। पूर्वशरीर से अनुष्ठित कर्मफल के कारण वर्तमान शरीर की उत्पत्ति होती है, क्योंकि पूर्वकर्म जीवात्मा में संस्काररूपेण संचित हो जाता है। यह न्यायदर्शन को स्वीकार है। कर्मभेद ही व्यक्तिभेद का कारण है। इसे न्यायदर्शन मानता है। इसलिए प्रकारान्तर से न्यायदर्शन ने सूक्ष्मशरीर को स्वीकार किया है, यह कह सकते हैं। यदि जीवात्मा केवल चित् होता, तब उसमें संस्कार संचित कैसे होता? जीवात्मा का विश्लेषण करने पर चिद् के व्यतीत और जो कुछ भी मिलता है, उसे भूत या शक्ति कहा गया है। क्योंकि भूत (भौतिक शक्ति) एवं चित् (Matter and Spirit), इन दोनों के बिना वास्तव में अन्य पदार्थ नहीं है।[1]

विद्वान् रिचमण्ड सूक्ष्मशरीर (Astral Body) के स्वरूप निर्धारणार्थ कहते हैं कि आत्मतत्व ही, अहंपदवाच्य अर्थ ही (The Ego, The real personality—The I Am), वह पदार्थ है जिसकी उत्पत्ति नहीं है, ध्वंस नहीं है। जो पदार्थ धर्माधर्म अथवा शुभाशुभ कर्म संस्कार द्वारा उपलिप्त होकर, वासनावासित होकर व्यक्तिगत भिन्न-भिन्न अहं-पृथक्-पृथक् 'मैं' हुआ है, वह पदार्थ ही सूक्ष्म अथवा लिंगदेह है। पण्डित रिचमण्ड ने जीवात्मा तथा लिंगशरीर (Spritual Entity) को यहाँ एकार्थ में ही प्रयुक्त किया है।[2]

जीवात्मा के स्वरूप सम्बन्ध में वेदान्तिक शास्त्रों का उपदेश संक्षेप में बतलाया गया। लिंग-सूक्ष्मशरीर का भी कुछ विवरण प्रस्तुत किया गया। परिच्छिन्न प्रकृति तत्व व्याख्या करने के लिए सुख-दुःख का स्वरूप प्रदर्शन करने के लिए यह जानना है कि सम्मान कौन सा पदार्थ है, हमें सम्मान की आकांक्षा क्यों होती है? इसे जानने के लिए उन्नति-अवनति का तत्ववधारण करना होगा। जीवात्मा तथा लिंग अथवा सूक्ष्मशरीर का स्वरूपावधारण अवश्य कर्त्तव्य है।

---

1. "इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनोलिङ्गमिति"—न्यायदर्शन 1/1/10
तथा "पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः" —न्यायदर्शन 3/2/44
2. "The Astral or the Astral Body as it is sometimes called, is the spiritual entity, the ego, the real personality, the 'I am' that has lived in the past for ages and ages and has gained its present power, knowledge, experience and general status as an individualised being, by the experience gained in the past."
—Religion of the Stars, p. 300

आत्मा की अबाधितावस्था 'सुख' तथा बाधितावस्था 'दुःख' है। यहाँ जो 'आत्मा' का उपयोग किया गया है, वह जीवात्मा का तात्पर्य है। क्योंकि परमात्मा की बाधितावस्था हो ही नहीं सकती। श्रुति का कथन है कि जो भूमा है, महत्, निरतिशय-अपरिच्छिन्न है, जो देशादिद्वारा परिच्छिन्न अथवा बाधित नहीं है, वही सुख है। जो अल्प है, सातिशय है, जिसका अतिशय है, जो देशादि द्वारा परिच्छिन्न अथवा बाधित है, वह सुख नहीं है।[1] जगत् परमात्मा का मायापरिच्छिन्न रूप है। यह अखण्डैकरस परमात्मा का स्वरूप नहीं है। अतः यह स्पष्ट है कि कोई भी जागतिक पदार्थ स्वस्थ, स्वभावस्थित नहीं है, वह निरतिशय सुख को नहीं देख पाता। परिच्छिन्न में निरतिशय सुखभोग असम्भव है।

पहले कहा गया है कि जो आत्मा का अनुकूल वेदनीय है, हम उसे पाना चाहते हैं। जो आत्मा का बाधारूप है, हम उसे त्याज्य रूप से निश्चित कर देते हैं। ईप्सित पदार्थ की प्राप्ति के लिए तथा अनीप्सित के परिहारार्थ हम कर्म करते हैं। इसलिए जिज्ञासा होती है कि सभी की कर्मप्रवृत्ति का कारण एक रूप है। ऐसी स्थिति में व्यक्तिभेद में रुचिभेद तथा व्यक्तिभेद में प्रवृत्तिभेद क्यों? व्यक्तिगत भेद ही रुचि अथवा प्रवृत्तिभेद का कारण है। व्यक्तिगत भेद का कारण क्या है? व्यक्तिगत भेद का कारण है कर्मभेद। हम समान प्रकृति, समप्रकृति नहीं हैं। हमारे लिंगदेह में लग्न तथा आत्मा में अनुबन्धित संस्कारसमूह एक प्रकार का नहीं है। इसलिए हमारी प्रवृत्ति, हमारा मनोभाव, हमारी शारीरिक अवस्था समान नहीं हो सकती। हमारी दैहिक मानसिक प्रकृति के लिए जो अनुकूल है, वह अन्य की दैहिक तथा मानसिक प्रकृति के प्रतिकूल होगा, यह आश्चर्य की बात नहीं है। एक व्यक्ति के लिए एक ही पदार्थ शारीरिक-मानसिक अवस्था भेद से कभी प्राप्तव्य है, कभी द्वेष्य है, कभी उपेक्षणीय रूप से विवेचित है। जैसी जिसकी प्रकृति है, जैसी जिसकी प्रतिभा है, संस्कार है, जो धर्मी जैसा संस्कार (धर्म अथवा योग्यता) लेकर जन्मा है, उसका कर्म तद्रूप ही होगा। उसका ईप्सित तथा प्राप्तव्य पदार्थ तदनुसार ही विनिश्चित होगा। नीच प्रकृति अथवा मन्दशक्ति लेकर जिसने जन्म लिया है, जिसकी आत्मा नितान्त संकीर्ण है, नितान्त परिच्छिन्न है, उसके जीवन का लक्ष्य कभी भी उच्च नहीं हो सकेगा।[2]

जर्मनी के विद्वान् कान्ट (Kant) कहते हैं कि परिच्छिन्न बुद्धि अथवा अभाव युक्त मानव मात्र ही अपने स्वप्रयोजन, अपूर्णकाम अपनी आत्मा की प्रेरणा से सुखी होने

1. "यो वै भूमा तत्सुखं नाऽल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्" —छान्दोग्य उपनिषत्

2. विद्वान् काल्डरवुड यह कहते हैं—

"The end or final object of any being is determined by the nature of the being itself. That end must be according to the capacities and faculties possessed. A being of lower power must have a lower end of life, a being with higher faculities must have a nobler end of life. Even if happiness were the end of all life, still would it be a distinct happiness in each case, according to the different possibilities of each form of life." —Handbook of Moral Philosophy, p. 131

की इच्छा करते हैं। सुखी होने की इच्छा ही व्यक्ति को कर्म में प्रवृत्त करती है। यदि मानव अभावयुक्त न होता, तब अपनी अवस्था से सन्तुष्ट रहता। आत्मक्रीड़-आत्ममिथुन-आत्मानन्द होता। सुखी होने के लिए अन्य पदार्थ की कामना न करता। कर्म में भी प्रवृत्त न होता। अतएव मानव पूर्ण नहीं है। वह अभावयुक्त है। अपना अभाव तथा अपूर्णता ही मानव को सुख नामक पदार्थ के अनुसन्धान में प्रणोदित करते हैं। यद्यपि सुख ही मानव का ईप्सित है, तथापि वह इतना अनिर्णीत स्वरूप है कि कोई भी व्यक्ति यह समझ नहीं पाता कि वह जो चाहता है, वह वास्तव में क्या है? क्या धन मानव के लिए ईप्सित है? धनिक से लोग द्वेष रखते हैं। इसलिए धनिक न जाने कितनी दुश्चिन्ता से घिरा रहता है। तब सद्गुण एवं विपुल विद्या ही ईप्सित है? नहीं, वह भी नहीं, क्योंकि यह दोनों सर्वदा हितकर नहीं हैं। यह कभी-कभी दुःख का हेतु हो जाता है। विविध संशय उपस्थित होते हैं। अनेक अज्ञातपूर्व अभाव का बोध उदित होता है। तब क्या दीर्घ जीवन इप्सिततम है? क्या मानव दीर्घजीवन की प्रार्थना करता है? यदि दीर्घ जीवन दुःखमय हो तब उससे क्या होगा? यह भी विदित है कि कोई भी दुःखमय जीवन नहीं चाहता। तब क्या स्वास्थ्य प्रार्थनीय है? ना, यह भी नहीं! स्वस्थ भी उद्वेगरहित नहीं है। उसे सदा सावधान रहना पड़ता है कि किसी अत्याचार से स्वास्थ्यभंग न हो। रोगाक्रमण न हो। सम्पूर्ण स्वास्थ्य व्यक्ति को कुपथ पर ले जाता है। इसलिए उसे स्वास्थ्य च्युतिकारक मिथ्याचारी लोगों से सदा रक्षा करनी पड़ती है।

फलतः कैसे मानव सुखी हो सकेगा? इसका यथायथ निर्णय करना परिच्छिन्न ज्ञान मानव के लिए साध्यातीत है। जो सर्वज्ञ हैं, वे ही यह बता सकते हैं कि[1] मानव

1. To be happy is a desire entertained of necessity by every finite intellegence, and a therefore inevitable a determinator of choice contenment with our state of existence is no bright of man. If it mere, it sould be fitly termed Blessedness, and would consist in consciousness of man's all sufficiency and independent self-contenment. On the contrary, happiness "is a problem : urged upon man's notice by the wants and is sufficiency of his finite nature." The metaphysic of Ethics by Emmanual Kant, p. 89
"....But unfortunately the conception Happiness is so vague, that although all wish to attain it, yet no everable to state distinctly to himself what the object willed is, the reason whereof if, that the elements consisituting the conception happiness are cognisable a posteriori only and must be inferred inductively from imagination, happiness demands an absolute whole i.e. a maximum of well being, both in my present and every future state, and what this may in real fact and event amount to, no finite intellegent can explain, nor can be he tell what it is he chooses in such volition. Is wealth the object of his desire? How much every and detraction may that not entail upon him? In what perturbations may that not involve him? Are superior parts and vast learning the object of his choice? Such advantages might prove but a sad eminence

का प्राप्तव्य क्या है, क्या पाने से मानव कृतकृत्य हो सकेगा? संसार की कोई भी अवस्था सर्वतोभावेन सुखकारी नहीं है। कोई भी अवस्था दु:खविरहिता नहीं है। यह पण्डित कान्ट समझाते हैं। भूमा ही निरतिशय तथा अपरिच्छिन्न सुख है। अल्प में सुख नहीं है। पण्डित कान्ट ने इस श्रुति के उपदेश को शिरोधार्य किया है। सुख कहने से हम जो समझते हैं, वह परिच्छिन्न तथा आपेक्षिक सुख है। हमारी परिच्छिन्न प्रकृति में जो अनुकूल है, जो संवादी है (Concordent, harmonious, agreeble) उसे पाने से ही हमारी परिच्छिन्न प्रकृति जो करना चाहती है, यदि वह अबाधित करने में सक्षम हो जाती, तब हम सुखानुभव करते हैं। इससे विपरीत स्थिति में हमें दु:ख होता है।

संसार में परमार्थत: हितकर अथवा अहितकर वस्तु क्या है? श्रुति का कथन है कि कौन वस्तु वास्तव में अहितकर अथवा विष नहीं है। प्रकृति की परिच्छिन्नता के कारण कोई वस्तु हितकर है। कोई विशिष्ट प्रकृति के अनुकूल है, कोई संवादी है, तो कोई अहितकर भी है। विषय वैषम्य ही विष है। विष वास्तव में परमार्थत: विष नहीं है। डॉक्टर हार्टमन ऐसी ही बात कहते हैं।[1] चरकसंहिता के अनुसार जो अन्न प्राण के लिए प्राणस्वरूप है, अयुक्तिपूर्वक खाने से वह अन्न जीवन-संहार कर देता है और विष प्राणहर होने पर भी यदि युक्तिपूर्वक व्यवहृत हो, तब वह रसायन प्राणप्रद है। संसार का कोई भी द्रव्य पूर्णत: हितकारी अथवा अहितकारी नहीं है। भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं कि जब यह देखा जाता है कि द्रव्यसमूह में स्वभावत: तथा

---

whence to decry evils at present hidden from his sight, or they might become a source of new and previously unknown wants; and he who should increase in knowledge might eminently increase in sorrow. Does he choose long life? What if it should turn out a long mesiry? Or even if health were his chosen object, must he not admit that indisposition has often guarded from excess and screened from temptations, into which exuberant health might have misled him? In shorty it is quite beyond man's power to determine with certainty what would make him happy. Ommniscience alone could solve this question for him.

—वही, पृ० 30-31

1. विषं विषयवैषम्यं न विषं विषमुच्यते—महोपनिषद्

"Nothing is poisonous or impure if it stands by itself only if two things whose natures are incompatiable with each other come into contact, can a poisonous action take place or an impure condition be produced. Everything is in itself perfect and good, only when it enters into relation with another thing does relative good and evil come into existence. If anything enters into the constitution of man, which is not in harmoney with its elements the one is to the other an impurity and can become a poision".

—Paramirem II,I.

Ocult Science in Medicine by Hartmann, p. 56

संयोगतः कतिपय द्रव्य पूर्णतः हितकर है, कोई द्रव्य पूर्णतः अहितकारी है, तब कोई द्रव्य पूर्णतः हितकर तथा पूर्णतः अहितकर नहीं है। ऐसा सिद्धान्त समीचीन नहीं है। जल, घृत, दुग्ध, अन्न स्वभावतः हितकारी हैं। क्षार, विष इत्यादि पूर्णतः अहितकारी हैं। द्रव्य भी द्रव्यान्तर के संयोग से विषतुल्य हो जाते हैं।[1]

हमारा विश्वास है कि भगवान् धन्वन्तरि ने जो कहा है, वह भी सत्य है और यह भी मिथ्या नहीं है कि कोई वस्तु पूर्णतः हितकारी अथवा पूर्णतः अहितकारी नहीं है। मंगलमय विश्वविधाता का सभी कार्य जीव-हितकारी है। कोई भी वस्तु स्वरूपतः अहितकर अथवा विष नहीं है। अवस्था-देश तथा कालभेद से विष भी अमृत हो जाता है तथा अमृत भी विष बन जाता है। एक द्रव्य जो एक समय देह में विषक्रिया करता है, वही समयान्तर से, अवस्था भेद से उसी की देह में अमृत क्रिया करने लगता है। देशभेद में भी द्रव्यसमूह में क्रियाभेद लक्षित होता है। अहिफेन तुर्कवासियों के लिए उतना भयानक नहीं है, यहाँ तक कि अधिक मात्रा में अहिफेन का सेवन करने से भी उनका विशेष अनिष्ट नहीं होता, किन्तु अन्यदेशीय की प्रकृति में वह स्वल्प मात्रा में भी अनिष्टकर तथा मत्तताजनक है। हेमलक (Hemlock–Conium) ग्रीस देश वालों के लिए भयंकर विष है, किन्तु अन्य देश वालों के लिए वह उतना भयंकर नहीं है। अभ्यास से विष भी अमृत हो जाता है। जिस मात्रा में अहिफेन (अफीम) का सेवन करने से एक व्यक्ति मर जाता है, अभ्यास द्वारा उसे भी सौ गुना अधिक मात्रा में अफीम-सेवन की आदत बन जाती है।[2]

इष्ट-अनिष्ट ज्ञान, मायिक है। रागद्वेषोपहत चित्त की परिच्छिन्न प्रकृति से संस्काररंजितता अथवा विकृति के कारण द्रव्यसमूह हिताहितरूपेण प्रतिभात होता है। जब तक अविद्या के अधीन होते हैं, त्रिगुणमयी प्रकृति की कठपुतली होकर अवस्थित रहते हैं, तब तक हमारे लिए कोई द्रव्य पूर्णतः हितकर अथवा सर्वथा अहितकर रूप से प्रतीयमान नहीं होगा। तब जो द्रव्य साधारण मानव प्रकृति का प्रायशः विसंवादी है, उसकी हितकर रूप से अवधारणा करना होगा। भगवान् धन्वन्तरि इसीलिए कहते हैं

---

1. "प्राणं प्राणभृतामन्नं तद्युक्त्या निहन्त्यसून्।
विषं प्राणहरं तच्च युक्तियुक्तं रसायनम्।" —चरकसंहिता, चिकित्सा स्थान
"न किञ्चिद्रव्यमेकान्तेन हितमहितं वास्तीति केचिदाचार्य ब्रुवते तत्तु न सम्यक्"
—सुश्रुतसंहिता, सूत्रस्थान

2. "पूज्यपाद वशिष्ठदेव कहते हैं कि सतत अभ्यासयोग द्वारा दुःसाध्य भी सुसाध्य हो जाता है। विष भी अमृत हो जाता है—
"दुसाध्याः सिद्धमायान्ति रिपवो यान्ति मित्रता।
विषाण्यमृततां यान्ति सन्तताभ्यासयोगतः।" —योगवाशिष्ठ
"Opium in Turkey both scarce offend, with us in a small quantity is stupifies. Cicuta or hemlock is a strong poison in Greece but with us it hath no such violent effects.
—Care of Melancholy, p. 430

कि कोई द्रव्य पूर्णतः हितकारी अथवा पूर्णतः अहितकारी नहीं होता। अवस्था, देशकाल-भेद से शक्तिसमूह जब पृथक्-पृथक् रूप से क्रिया करते हैं, तब किसी द्रव्य को पूर्णतः हितकारी अथवा पूर्णतः अहितकारी नहीं कहा जा सकता। चरकसंहिता के उपदेश का यही तात्पर्य है।

संसार में कोई भी वस्तु सर्वतोभाव से हितकारी अथवा सर्वतोभावेन अहितकारी नहीं है। विष वास्तव में अनन्यसम्बन्धभावेन विष नहीं है, विष वैषम्य ही विष है। प्रकृति की परिच्छिन्नता से हम किसी को हितकारी एवं किसी को अहितकारी कहकर अवधारित करते हैं। अवस्था-देश-काल भेद से वस्तुसमूह भिन्न-भिन्न रूप से क्रिया करते हैं, यह जान लिया गया। अब यह चिन्तन करना है कि हमारी परिच्छिन्न प्रकृति का जो संवादी है, उसे पाने पर हमें जो सुख होता है, उस सुख पदार्थ का स्वरूप क्या है ?

इसके पहले कहा जा चुका है कि आत्मा की अबाधित अवस्था सुख है तथा आत्मा की बाधितावस्था ही दुःख है। यहाँ पर आत्मा शब्द पूर्णतः जीवात्मा का वाचक है। जीवात्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में शास्त्र से जिज्ञासा करने पर हमें ज्ञात होता है कि तमोगुणबहुल प्रकृति अथवा अविद्या से प्रतिबिम्बित चैतन्य ही जीवात्मा है। योगवाशिष्ठ में कहते हैं कि लिंग अथवा सूक्ष्मदेहावच्छिन्न चित्संवित् ही जीवात्मा है। मनुष्य जो भी कर्म करता है, वह सब उसके लिंगदेह में संस्काररूप से लग्न हो जाता है। संस्कार अथवा वासना के भेद के कारण लिंगदेह में भिन्नता होती है। लिंगदेह का पार्थक्य ही शरीर तथा मानस प्रकृतिभेद का हेतु है। मैं अहं (मैं) शब्द द्वारा जिस पदार्थ को लक्ष्य करता हूँ, वह लिंगदेहावच्छिन्न चित्संवित् है। हम कहते हैं कि परिच्छिन्न प्रकृति की प्रेरणा से मानव स्वयं को नीच अथवा गुणभूत मानने को तैयार नहीं होता। 'परिच्छिन्न प्रकृति' यह शब्द हम जिस अर्थ में प्रयोग करते हैं, वह बतलाने का अब अवसर आ गया है। परिच्छिन्न प्रकृति से हम धर्माधर्म संस्कारावच्छिन्न लिंगदेह को ही लक्ष्य करते हैं। हम एक बार कहते हैं—"आत्मा की अबाधित अवस्था सुख है तथा बाधितावस्था दुःख है तथा जो जिसकी आत्मा के अनुकूल है, संवादी है, उसके प्रति उसका राग है एवं जो जिसकी आत्मा के प्रतिकूल है उसके प्रति उसका द्वेष हो जाता है।" अब अन्य बार कहते हैं—"जो हमारी विशिष्ट अथवा परिच्छिन्न प्रकृति के अनुकूल है, वह हमारा हितकर रूप है। जो जिसके प्रतिकूल है, वह अहितकर रूप से विवेचित होता है।" अतः जिज्ञासा होती है कि क्या आत्मा एवं प्रकृति समानार्थक है ?

श्रुति स्मृत्यादि शास्त्रों का उपदेश कि विश्वजगत् चैतन्याधिष्ठिता त्रिगुणात्मिका प्रकृति का परिणाम है। प्रकृति सर्वव्यापक, सर्वकारण परमात्मा की शक्ति है। शक्ति कदापि शक्तिमान से भिन्न पदार्थ नहीं है। योगवाशिष्ठ में कहा है, स्पन्द (Vibration) तथा पवन यह दो भिन्न नाम हैं। स्पन्द तथा पवन दो भिन्न नाम अवश्य

हैं किन्तु यह दो भिन्न सामग्री नहीं है।[1] अतएव आत्मा तथा प्रकृतिं परमार्थतः अद्वैत दृष्टि से भिन्न नहीं है। प्रकृति शब्द 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु के उत्तर में क्तिच् अथवा क्तिन् प्रत्यय करके सिद्ध होता है। गुणसाम्य-स्वभाव-कारण-प्रकृति इत्यादि अनेक अर्थ में इसका व्यवहार होता है। मानव की प्रकृति यहाँ 'स्वभाव' अर्थ का वाचक है। जो मानव का स्वभाव है, वही है मानव की प्रकृति। मानव का स्वभाव क्या है? मानव शब्द परिच्छिन्न भावविशेष का वाचक है। परिच्छिन्न भाव का स्वरूप क्या है, यह जिज्ञासा शास्त्र से करने पर ज्ञात होता है कि चित् संविद् प्रतिबिम्बित त्रिगुणात्मिका प्रकृति का भिन्न-भिन्न रूप विकार ही परिच्छिन्न भाव है तथा गुणत्रय का भागवैषम्य ही परिच्छिन्नभाव के नानात्व का कारण है। परिच्छिन्न भावजात जो भाव जिस रूप से परिच्छिन्न है, जिस रूप से रंजित अथवा विकृत है, जिसका जैसा कर्मसंस्कार है, जैसी वासना है, उसका स्वभाव, उसका स्वरूप यही है प्रकृति। त्रिगुण के जिस भाव से परिच्छिन्न होने पर सामान्यतः मनुष्य नामक भावविकार की उत्पत्ति होती है, वही है मनुष्य की सामान्य प्रकृति।

मानव का स्वभाव क्या है? मानव शब्द परिच्छिन्न भावविशेष का वाचक है। परिच्छिन्न भाव का स्वरूप क्या है? शास्त्र से जिज्ञासा करने से ज्ञात होता है कि चित् संवित् प्रतिबिम्बित त्रिगुणात्मिका प्रकृति का भिन्न-भिन्न रूपविकार ही परिच्छिन्न भाव है तथा गुणत्रय का भागवैषम्य ही परिच्छिन्नभावसमूह के नानात्व का कारण है। परिच्छिन्न भावजात में जो भाव जैसे परिच्छिन्न है, जिस रूप में रंजित अथवा विकृत है, जिसका स्वरूप कर्मसंस्कार है, वासना जिसका स्वभाव है, वही है स्वरूप तथा प्रकृति। गुणत्रय के जिस भाव से परिच्छिन्न होने पर मनुष्य नामक भावविकार की अभिव्यक्ति होती है, वही है मनुष्य की सामान्य प्रकृति। मनुष्य गुण में देशादिनिमित्त भेद के कारण प्रकृतिगत भेद हो जाता है। विशेष-विशेष मानव प्रकृति का विकास होता है। फलस्वरूप कर्मविशेष ही व्यक्तिभेद का कारण है। मनुष्य को कैसे सुख होता है, कैसे दुःख होता है, यह जानने के लिए मनुष्य प्रकृति का स्वरूपचिन्तन आवश्यक है। किसी की प्रकृति के परिचायक लक्षण से अवगत होने के लिए उसके

---

1. "एका शक्ति शिवै कोऽपि शक्तिमानुच्यते शिवः।
शक्तयः शक्तिमन्तोऽन्ये सर्वशक्तिसमुद्भवाः॥
शक्ति शक्तिमतोर्भेदं वदन्ति परमार्थतः।
अभेदश्चानुपश्यन्ति योगिनस्तत्वचिन्तकाः॥" —कूर्मपुराण, पूर्वभाग

"यथैकं स्पन्दपवनो नाम्ना भिन्नो न सत्तया।
तथैकमात्मप्रकृतो नाम्ना भिन्ने न सत्तया॥" —योगवाशिष्ठ

"All phenomena appertain to matter, there phenomena are the appreciable expression of the forces inherent in matter. The forces themselves are not appreciable, they are the causes of the phenomena."

—A Textbook of Human Psychology by L. Landis, Introduction

कर्म का अनुसन्धान करना होता है। मनुष्य जो कर्म करता है, उन सबका स्वरूप दर्शन होने पर ही मानव प्रकृति का परिचय मिलता है। प्रकृति अथवा कारण की आत्मभूता शक्ति होती है तथा शक्ति का आत्मभूत है कार्य। शक्ति के साथ हमारा साक्षात् परिचय नहीं है। कर्म देखकर शक्ति का अनुमान किया जाता है।

कर्म कौन पदार्थ है ? शक्ति की स्थानपरिवृत्ति अथवा रूपान्तर परिणाम क्रम ही कर्म शब्द का वास्तविक अर्थ है। शक्तियंत्र अथवा शरीर के बिना कर्म नहीं हो सकता। यंत्र अथवा शरीर शब्द का क्या अर्थ है ? संयमन अथवा संकोचनार्थक 'यत्रि' धातु के उत्तर में अच् प्रत्यय करके यन्त्र शब्द निष्पन्न होता है, जिसके द्वारा कुछ नियमित, संयमित होता है, वह यंत्र है। कोई क्रिया चाहे जिस प्रकार की क्यों न हो, उसकी निष्पत्ति हेतु सत्व, रज, तमः, इन तीनों का प्रयोजन है। यह सांख्यदर्शन का उपदेश है। संयमन (Resistence Retardation) यह तमोगुण का कार्य है, जो स्थितिशील है। इसलिए यंत्र तमोगुण प्रधान है। तमोगुण प्रधान परिणाम है। इसे तामस शक्ति कहना उचित है। शक्ति सदैव यंत्रगता है। ''यंत्रगता होने पर ही कार्य करती है। अन्यथा कोई कर्म नहीं कर सकती।'' इस कथन का तात्पर्य यह है कि कोई शक्ति विरुद्धशक्त्यन्त द्वारा बाधित हुए बिना अपनी कार्यकारिता व्यक्त नहीं कर सकती।[1] जब हमें किसी विरुद्ध शक्ति के लिए कार्य करना होता है, किसी बाधा का अतिक्रमण करना पड़ता है, तब हमें ज्ञात होता है कि हमारे शरीर में कितना बल है।

आंग्ल भाषा में मशीन (Machine) शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है, यन्त्र भी उसी अर्थ का वाचक है। शक्ति को एक स्थान से अन्य स्थान पर प्रवाहित करने के लिए अथवा कार्यकारिता संवर्धनार्थ तथा उसके नियमनार्थ जो उपाय है, वह है मशीन।[2] जो भोगायतन है, जो शक्ति का आधार है, वह शरीर है। महर्षि गौतम कहते हैं जो चेष्टा का, हितप्राप्ति तथा अहित परिहार योग्य व्यापार का आश्रय है, जो इन्द्रियों का आश्रय है, जो इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से उत्पन्न सुख-दुःख का आश्रय है, वह शरीर है।[3] महर्षि गौतम इसके द्वारा जैवशरीर की ही बात कह रहे हैं। भगवान् आत्रेय पुनर्वसु चेतनाधिष्ठित पृथ्वी आदि पंचभूत विकार समूहात्मक पदार्थ को शरीर कहते

---

1. "To resist to act. .... But resistence is action, for nothing but action produces a quality of motion contrary to that of the impinging body." —The Elements of Molecular Mechanic by J. Bayma, S.J., p. 38
2. A machine may be define as an instrument, or a system of bodies, by means of which force may be transmitted from one point to another and altered both in magnitude and direction." —Elementary Dynamics, by W.G. Wilson, p. 132

   विद्वान् रेडायल कहते हैं—"They contrivance for transmitting force from one point to another or of increasing or regulating the effect of a given force." —डिक्शनरी ऑफ साइंस, पृ० 341
3. ''चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्''—न्यायदर्शन

हैं।[1] 'शृ' धातु के उत्तर में 'ईरन्' प्रत्यय लगाने से शरीर पदसिद्ध होता है। जो शीर्ण होता है, क्षयित होता है, जो परिणामी है, वह है शरीर। यह इसका व्युत्पत्ति से प्राप्त अर्थ है। संहनन शरीर का पर्यायान्तर (Synonym) है। जो संहत होता है, परार्थ पर-प्रयोजन सिद्धि के लिए संसृष्ट होता है, क्षुद्र-क्षुद्र बहुः पदार्थों के मिलन से उत्पन्न होता है, वह संहनन है। आंग्ल भाषा में Body शब्द से जिसको लक्ष्य करते हैं, संहनन उसका ही वाचक है।

शरीरविज्ञानवेत्ता विद्वान् फास्टर बॉडी (Body) का लक्षण बतलाते कहते हैं कि प्रत्युतकार्यकारी शक्ति को (रसायनशास्त्र के दृष्टिकोण से) सम्भार विशिष्ट रासायनिक द्रव्य संहतिरूप से ग्रहण करना पड़ता है। Body शब्द अनेक अर्थ में व्यवहृत होता है। विद्वान् स्पेन्सर कहते हैं कि जो देशतः परिच्छिन्न-सीमाबद्ध है, जो प्रतिघातधर्मक है वह Body है। अध्यापक हेलमन् (Helman) मूर्त्त तथा परिच्छिन्न द्रव्यांश को Body शब्द द्वारा संकेतित करते हैं। आधुनिक मेटाफिज़ीशियन (Metaphysicians) के अनुसार जो संवेदन का बाह्यकारण है, वह Body है।[2] भूततंत्र (Physics) एकाधिक इन्द्रियग्राह्य तथा एकेन्द्रियग्राह्य रूप से Body को भागद्वय में विभक्त करता है। एकाधिक इन्द्रियग्राह्य संघात अथवा पिण्ड Ponderable Body है और एकेन्द्रिय ग्राह्य संहनन Imponderable Body है। डॉक्टर हूपर ताप-आलोक-तड़ित आदि पदार्थों को Imponderable Body कहते हैं।[3] अध्यापक Landoi [4] ईथरीय अणुओं को अपिण्डीभूत-अमूर्त्त (Imponderable) भूत कहते हैं। ताप-आलोक-शब्द-ताड़ित प्रवाह इत्यादि

---

1. ''तत्र शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं पञ्चभूत विकार समुदायात्मकं''—चरक, शारीरस्थान
2. "Thus the body as a whole may, from a chemical point of view, be considered as a mass of various, chemical substances, representing altogether a considerable capital of potential energy."
—A Textbook of Physiology by M. Faster, Part I, p. 1
"We think of body as bounded by surfaces that resist." —First Principle, H. Spencer, p. 166
"Bodies and objects : limited portions of substance."–Holman
"A body, according to the received doctrine of modern metaphysicians may be defined, the external cause to which we ascribe our sensations." —System of Logic by J.S. Mill, p. 36
3. "Imponderable bodies are those which in general, only act on one of our sences, the existence of which is by no means demonstrated and which perhaps, are only forces, or a modification of other bodies, such are caloric, light, the electric and magnetic fluids."
—Dr. Hooper
4. "We distinguish ponderable matter which has weight and imponderable matter which cannot be weighed in a balance. The latter is generally termed ether." —A Textbook of Human Physiology by Dr. L. Landoi (Introduction)

पदार्थ के स्वरूप सम्बन्ध में वैज्ञानिकों में मतभेद है। अध्यापक P.G.Tait का कथन है कि ताप तथा आलोक, शब्द, ताड़ित पदार्थ इत्यादि यद्यपि भूतविशेष नहीं है, तथापि जब ये शक्तिविशेषरूप से परिदृष्ट होते हैं, तब इनको भौतिक पदार्थरूप से ग्रहण करना होगा।[1] अध्यापक क्लिफोर्ड का कथन है कि[2] जो देशवृत्तिक है, जो स्थान पर अधिकार करे, वह Body है। विद्वान् हेलमन का कथन है कि जो सब पदार्थ आकाशवृत्तिक तथा शक्ति-विशिष्ट रूप से गृहीत होते हैं, वे ही द्रव्य हैं। द्रव्य का लक्षित अंश विशेष है Body।[3] जो कुछ भी हो, देशवृत्तिक पदार्थ को बताने के लिए Body शब्द का साधारणतः व्यवहार होता है।

अमिश्र तथा सांयौगिक (Compond & Simple) भेद से Body को भागद्वय में विभक्त किया जाता है। सांयौगिक संहनन (Body) समूह में जिसका सन्धान स्थिर, दृढ़ (Constant) है, उसे जड़ अथवा अप्राण संहनन (Inorganic) तथा जिसका सन्धान परिवर्तनीय है, उसे सप्राण संहनन (Living, organized Bodies) कहा है। सप्राण संहनन उद्‌भिज तथा जैवभेद से द्विविध है। जैव शरीर में भी हिताहित विवेकक्षम लोकालोकज्ञ विशिष्ट चेतन तथा आसन्न चेतन गो-अश्व प्रभृति द्विविध जीव भेदवशात् द्वैविद्य सिद्ध होता है। मनुष्य शरीर का कर्मतत्व ही हमारे लिए अनुसन्ध्येय है।

इसके पहले कहा गया है कि किसी भी कर्म के लिए यन्त्र तथा शक्ति, इन दो का प्रयोजन है। इसलिए मानव शरीर के कर्मतत्व का अनुसन्धान करने के लिए मनुष्य-शरीर यन्त्र तथा तन्निष्ठ शक्तिसमूह का स्वरूप दर्शन आवश्यक है। मनुष्य जीवन तत्वतः नानाजातीय शक्ति का अभिव्यंजनात्मक रूप है तथा मनुष्य शरीर यन्त्र समूह इन सभी शक्तिसमूह की अभिव्यक्ति का करण-साधन (Instrument) है।[4]

जिस विज्ञान में नरशरीर के कर्म तत्व की व्याख्या की गयी है अथवा व्याख्यान की चेष्टा की गयी है, उसे Human Physiology (नरशरीर विज्ञान) कहा है। पाश्चात्य शरीर विज्ञान ने यथासम्भव स्थूल शरीर के कर्मसमूह के तत्त्व-निरूपण का

---

1. "Heat, therefore, as well as light, sound, electric currents, & ect. though not forms of matter, must be looked upon as being as real as matter, simply because they have been found to be forms of energy."—Heat by P.G. Tait, p. 7
2. "A body is any thing, that takes up room." —Seeing & Thinking by W.K. Clifford, p. 137
3. "A body is any designated portion of substance." —Holman
4. निरुक्तभाष्य में कहा है, ''इह द्विविधा आकारिणीऽर्था चेतनाश्चाचेतना, तत्र चेतना मनुष्यादयः, अचेतनाश्च पात्राणादयः''—निरुक्तभाष्य

   शरीरविद्या प्रवीण कार्पेन्टर कहते हैं, "The life of man essential consists in the manifistation of forces of various kinds, of his organism is the instrument." —Principles of Human Physiology

प्रयत्न किया है। सूक्ष्म शरीर के सम्बन्ध में इन्होंने स्पष्टतः कुछ नहीं कहा है। शास्त्र पढ़ने से विदित होता है कि स्थूल-स्थूल-कारण ये त्रिविध शरीर हैं। जो वेदान्तदर्शन का अध्ययन करते हैं, वे पंचकोष (Sheath) का तत्व जानते हैं। अन्नमयकोष, स्थूल उपाधि, स्थूलशरीर, यह सब एक है। अन्नमय तमोगुण प्रधान है। इस गुण की प्रधानता से यह आविर्भूत होता है। यह जाड्य बहुल है। प्राणमय कोष में रजोगुण की बहुलता है। यह प्रवृत्ति अर्थात् क्रियाशक्तिं बहुल है। मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय सात्विक सत्वगुण प्रधान है। फिर भी इन तीनों में समान मात्रा में सत्वगुण नहीं है। तम:मिश्र सत्व = मनोमय। रजोमिश्र सत्व = विज्ञानमय। शुद्धसत्वगुण = आनन्दमय कोष। मनोमयकोष प्राणमय के अन्तर्गत होने के कारण यहाँ आत्मचैतन्य अपेक्षाकृत प्रत्यासन्न है। इसमें सर्वान्तर आत्मचैतन्य की अभिव्यक्ति होती है। इसी कारण स्थूलदर्शी लोग मनोमय को ही आत्मा कहने लगते हैं। यहाँ जैसे क्रियाशक्ति आपादमस्तक विद्यमान रहती है, वैसे यहाँ ज्ञानशक्ति की भी आपादमस्तक उपलब्धि होती है। सभी ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियाँ मनोमयकोष के अन्तर्भूत हैं।[1]

पाश्चात्य नरशरीरविज्ञानी तथा मनोविज्ञानी सुधीवर्ग में से अनेक मस्तिष्क (Brain) को ही ज्ञानशक्ति का आधार कहते हैं, किन्तु श्रुति आदि शास्त्र के उपदेश से मस्तिष्क ही एकमात्र आधार नहीं है। ज्ञानशक्ति तो क्रियाशक्तिवत् सर्वशरीर में व्याप्त है। मस्तिष्क उसका एकमात्र आश्रय अथवा अधिकरण नहीं है। हैमिल्टन, लाड, रिचमण्ड आदि ने यह स्वीकार भी किया है अथवा आत्मार्थ के लिए Mind का प्रयोग अनेक करते भी हैं। हम 'मनः' शब्द द्वारा जिस पदार्थ को लक्ष्य कर रहे हैं, पाश्चात्यगण Mind शब्द द्वारा ठीक उसे ही लक्ष्य करते हैं, यह विचारणीय है। विद्यारण्य मुनि स्वप्रणीत तैत्तरीयोपनिषद् दीपिका में कहते हैं कि एक ज्ञानशक्ति के त्रिगुण तारतम्य भेद के कारण करणशक्ति, कर्तृशक्ति तथा भोगशक्तिरूपी त्रिविधभेद हो गया है। मनः करण शक्तिजन्य है। तमोमिश्र सत्वगुण मनोमय कोष का कारण है। काम-संकल्प-विचिकित्सा, तृष्णा, राग, लोभ इत्यादि करण शक्तिजन्य मन का विकार अथवा वृत्ति है।[2] मनोमय कोष प्राणमय के आभ्यन्तर में है, इसमें सर्वान्तर

1. "तत्र तमोगुणभागस्यान्नमयकारणात् तस्मिन् कोशे जाड्यमेव बहुलमुपलभ्यते। न तु क्रियाशक्तिः ज्ञानशक्तिर्वा तस्मिन्नास्ति। रजोगुणभागस्य प्राणमयकारणत्वात्तस्मिन् प्राणमये क्रियाशक्ति रुपलभ्यते। सत्त्वगुणभागस्य मनोमयादि कोशत्रयकारणत्वात्तेषु त्रिषु कोशेषु ज्ञानशक्ति रुपलभ्यते। तमोमिश्र सत्त्वगुणो मनोमयकारणम्....रजोमिश्रः सत्त्वगुणो विज्ञानमयकारणम्... शुद्ध सत्त्वगुण आनन्दमयकारणम् ....सोऽयं मनोमयः प्राणमयादभ्यन्तरः। अतएव प्रत्ययासन्न-त्वान्मनस्यात्मचैतन्य सर्वान्तरमभिव्यज्यते। तदभिव्यक्ति वशादेव मनोमयस्यात्मत्वम्। यथा क्रियाशक्तेः आपादमस्तकं व्याप्तिस्तथा ज्ञानशक्तेरपि व्याप्तिरुपलभ्यते....। अतः सर्वेषां ज्ञानेन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणां च मनोमयाख्यं कोशेऽन्तर्भावी द्रष्टव्य॥" —तैत्तरीयोपनिषद्दीपिका

2. "यद्यपि स्वरूपेणैकेवज्ञानस्तथापि तदनान्तरभेदास्त्रिविधा। करणशक्तिः कर्त्तृशक्ति- र्भोगशक्ति-र्भोगशक्तिश्चेति। तत्र करणशक्तिजन्य मनस्तस्य विकारः कामसंङ्कल्पादिवृत्ति-समूहोमनोमयः" —तैत्तरीयोपनिषत् दीपिका

आत्मचैतन्य की अभिव्यक्ति होती है। आत्मचैतन्य की अभिव्यक्ति के कारण मनोमय कोश को ही बहुत से लोग आत्मा मान लेते हैं। अत: यह उपलब्धि होती है कि मनोमय कोष को ही पाश्चात्य दर्शन में Mind कहा गया है। विषयी तथा विषय, द्रष्टा-दृश्य, भोक्ता-भोग्य, (Subject and object, Mind and Matter) इनके स्वरूपावधारण को आसानी से नहीं समझा जा सकता। स्थूल प्रत्यक्ष तथा तदुपजीवक अनुमान इनके स्वरूप निरूपण का पर्याप्त साधन नहीं है।

भगवान् वेदव्यास स्वप्रणीत पातंजलदर्शन भाष्य में 'आत्मा चित्तव्यक्तिरिक्त पदार्थ है', यह समझाने के लिए जो कुछ कह गये हैं, उसका अवश्य मनन करना चाहिए। आत्मतत्व जिज्ञासु के लिए वह सब सुनना आवश्यक है। मनन करना भी अभिप्रेत है। पतंजलिदेव कहते हैं कि चित्त ही द्रष्टा (पुरुष-चिच्छक्ति) तथा दृश्य (शब्द विषय तथा चक्षुरादि इन्द्रिय) से सम्बद्ध होकर सभी विषयों का प्रकाशक हो जाता है।[1] भगवान् वेदव्यास इस पातंजलोक्त सूत्र का भाष्य करते हुए कहते हैं कि "चित्त-मन: मन्तव्य (ज्ञेय-Object) पदार्थ में उपरक्त अर्थात् मन्तव्य पदार्थ के आकार में आकारित हो जाता है। विषयी अर्थात् आत्मा के साथ उसका अपनी वृत्तियों के कारण अभिसम्बन्ध भी हो जाता है।" चित्त ही विषय (Object) तथा विषयी (Subject) के साथ सम्बद्ध होकर विषय तथा विषयी रूप से भासमान होने लगता है। विषयात्मक (पुरुष तथा आत्मा का दृश्य) होकर अविषयात्मक रूप से स्वयं द्रष्टा (Subject) रूप से अचेतन होकर भी चेतनवत् प्रतिभात होने लगता है। प्रतिबिम्बग्राही स्फटिक मणि के समान सर्व पदार्थ का अवभासक उसे कहा जा सकता है। चित्त आत्मा के समान आकार धारण कर लेता है, इसलिए लोग 'चित्त ही एकमात्र सत् है, दृश्यमान वस्तु समूह चित्त से अतिरिक्त नहीं है, चेतनाचेतन जगत् विज्ञान विजृम्भित है' ऐसा कहते हैं। भगवान् वेदव्यास कहते हैं कि ऐसा कहने वाले स्वल्पज्ञानी हैं। इन पर दया करना चाहिए। इनका भ्रम में पतित होना भी कुछ कारण से है। क्योंकि चित्त, विषय तथा विषयी, उभयरूपेण प्रतिभात होता है। इसलिए इनको चित्त में आत्मभ्रम हो रहा है।

भगवान् वेदव्यास के इन सभी अमूल्य उपदेशों[2] के तात्पर्य परिग्रह से जड़वाद-विज्ञानवाद के आविर्भाव का रहस्य प्रकट हो जाता है। पाश्चात्य दार्शनिक चित्त के अतिरिक्त आत्मा नामक पदार्थ का रूप स्पष्टत: नहीं देख सकते। यह हमारी धारणा

1. "द्रष्टृदृश्यापरक्तं चित्तं सर्वार्थम्"—पातंजल दर्शन, कैवल्यपाद, सूत्र 23
2. "मनो हि मन्तव्येनार्थेनोपक्तं तत् स्त्रयञ्च विषयत्वात् विषयिणा पुरुषेणात्मीययावृत्याऽभिसम्बद्धं तदेतश्चित्तमेव द्रष्टृदृश्योपरक्तं विषयविषयिनिर्भासं चेतनाचेतनस्वरूपापन्नं विषयात्मकप्य-विषयात्मकमिवाचेतनं चेतनमिव स्फटिकमणिकल्पं सर्वार्थ मित्युच्यते, तदनेन चित्तसारुप्येण भ्रान्ता: केचित्तदेव चेतनमित्याहु: अपरे चित्तभावमेवेदं सर्वे नास्ति खल्वयं गवादिघटादिश्च सकारणोलोक: इति अनुकम्पनीयास्ते कस्मात् अस्ति हि तेषां भ्रान्तिबीजं सर्वरूपाकारनिर्भासं चित्तमिति"—योगसूत्रभाष्य

है। क्योंकि चित्त से अलग आत्मा नामक पदार्थ का दर्शन करने के लिए समाधिनेत्रों को खोलना पड़ेगा। आत्मा नामक पदार्थ का रूप स्थूलप्रत्यक्ष का विषयीभूत नहीं हो सकता। यह अनुमान नेत्रों के समक्ष भी प्रकट नहीं होता।

लिंग अथवा सूक्ष्म शरीर की तत्वावगति के बिना अन्नमय-प्राणमय-मनोमय तथा विज्ञानमय रूप कोष्ठ चतुष्टय का स्वरूपदर्शन न होने से शरीर-मनः-आत्मा इन पदार्थत्रय का तत्व यथायथरूप से अवगत हो सकना असम्भव है। प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमयरूपी कोषत्रय ही सूक्ष्मशरीर है। सूक्ष्मशरीर तथा सूक्ष्मउपाधि एक ही पदार्थ है। कारणशरीर तथा आनन्दमय कोष अलग सामग्री है। अब यह तत्वावधारण करना है कि स्थूल शरीर से क्या कर्म होते हैं?

किसी कर्म का स्वरूपदर्शन करने के लिए, उन यन्त्रों तथा शक्तिसमूह का तत्वनिरूपण करना है, जिससे वह कर्म निष्पादित होता है। अतः स्थूल शरीर से जो कर्म सम्पन्न होता है, उनका स्वरूपावलोकन करने के लिए हमें स्थूल शरीरयंत्र तथा उसमें निष्ठित शक्तियों का तत्वानुसन्धान करना ही होगा। यह पहले विदित हो चुका है कि कर्ममात्र त्याग-ग्रहणात्मक है। सुश्रुत संहिता में कहा गया है कि विसर्ग, आदान तथा विक्षेपरूपी त्रिविध क्रिया द्वारा देह रक्षित होता है। इन त्रिविध क्रिया का स्वरूप क्या है? विसर्ग है बल का सर्जन। त्याग-आदान है बल का ग्रहण। विक्षेप है शीतोष्णादि का विविध प्रकार से प्रेरण, संचालन। केवल क्षुद्रदेह में ही क्यों, जगत्देह में भी यह त्रिविध शक्ति की क्रिया चलती रहती है। जिस शक्ति से शरीर घृत होता है, श्रुति ने उसे प्राणशक्ति कहा है। शरीर जब उपर्युक्त त्रिविध क्रिया द्वारा घृत रहता है, तब यह प्राणशक्ति त्रिविध क्रियात्मिका है। तब स्वरूपावगति विसर्गादि त्रिविध क्रिया के स्वरूप ज्ञानाधीन है।[1]

पाश्चात्य नरशरीरविज्ञान ने कहा है कि सप्राणदेह धारणार्थ आदान-विसर्ग की द्विविध क्रिया समासतः होती है। डॉ० लैण्डोई, हालिवर्टन प्रभृति पण्डित वर्ग आदान क्रिया को संविधानात्मिका (Constructive), सम्पूरणात्मिका (Intergative), संश्लेषात्मिका (Synthetic) इत्यादि नाम से तथा विसर्ग क्रिया को क्षयात्मिका (Destructive), विश्लेषणात्मिका (Analytic) इत्यादि संज्ञा से संज्ञित करते हैं। सप्राणपदार्थसमूह यथाप्रयोजन अपने चतुःपार्श्ववर्त्ती भौतिक वस्तु का आहरण तथा परिपाक करते हैं। उन्हें शरीरोपादान के रूप में परिणामित करते हैं तथा यथासमय त्याज अंश का त्याग भी कर देते हैं। भौतिक पदार्थों के आहरण, परिपाक, समुत्सर्ग इत्यादि व्यापारों वाली प्राणनक्रिया मेटाबोलिज़्म (Metabolism) कही जाती है।

1. "विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा। धारयन्ति जगद्देहं कफापित्तानिलास्तथा।"—सुश्रुत संहिता

तथा "विसर्गः सर्जनं बलस्येतिशेषः। आदानं ग्रहणं बलस्य। विक्षेपः शीतोष्णादीनां विविधमकारेण प्रेरणम्।"—सुश्रुत टीका

मनुष्य तथा अन्य उच्चस्तरीय जीवगण का शरीर विविध विचित्रयन्त्र समष्टि है जो अनेक प्रकार के घटकावयव से संग्रथित है। वृक्ष की जड़-काण्ड-पत्र, जीव का हृदय-मस्तिष्क तथा पाकाशय आदि अन्य अंग-प्रत्यंग ये भिन्न-भिन्न शरीरयन्त्र हैं। ये सभी अत्यन्त छोटे-छोटे अवयव तथा उपादानों से निर्मित हैं। इन्हें टीशू (Tissue) कहा जाता है। टीशू तथा टेक्चर (Texture) परस्पर संहत हैं। जाल के समान परस्परतः ग्रथित भी हैं। गुम्फित, स्यूत, सूत्रित तथा उत्पदार्थ (Anything interwoven) के वाचक हैं। प्रत्येक मूर्त्त पदार्थ ही अणु अथवा सूक्ष्म-सूक्ष्म अवयवों की समष्टि है। प्रत्येक मूर्त्त पदार्थ वास्तव में एक-एक ग्रन्थि जैसा है। मानो क्षुद्र-बृहत् जाल स्वरूप। सन के तागों को ग्रथित करके जैसे एक बृहत् मत्स्यजाल (मछली पकड़ने का जाल) बन जाता है, वैसे ही प्रत्येक मूर्त्त पदार्थ भी स्वपरिणाम से अणुतर अनेक द्रव्यों से, उनके द्वारा बद्ध हो जाता है। डॉक्टर अलेक्जेंडर मैकलिस्टर स्वप्रणीत Human Analomy ग्रन्थ में कहते हैं कि कंकाल (Skeletan) अस्थिमय, पेशीय (Muscular), स्नायव (Nervous), परिपाक क्रियानिवर्त्तक (Digestive), शोणित संचालन क्रिया निर्वाहक (Circulatary) तथा प्रजनन तथा मूत्रयन्त्र (Genito-urinary), मनुष्य शरीर को इन षड्विध स्थान विभाग समुदायात्मक कहा गया है। प्रत्येक संस्थान अनेक यन्त्रों से संग्रथित है। प्रत्येक यन्त्र पुनः टीशू (Tissue) समूहों से सम्मूर्च्छित है। टीशू सबका घटकावयव है। पाश्चात्य विज्ञानी उसे Cells कहते हैं। इसे पाश्चात्य वैज्ञानिक जैवशरीर का मूल उपादान बतलाते हैं। एकक (Form-elements-unit) रूपेण ग्रहण करते हैं[1] Cell कौन पदार्थ है? स्वच्छ, श्यान अथवा पिच्छिल संकोचनशील Protoplasm नामक पदार्थ के सूक्ष्मसंघात को शेल (Cell-कोष) कहा गया है।[2] डॉक्टर वैलर (A.D. Waller) नरदेहस्थ यन्त्रों को परिपाकयन्त्र (Organs of Digestion), श्वासयन्त्र (Organs of Respirations), शोणित सचालन यन्त्र (Organs

---

1. "The essential feature of living matter is in its instability, it is the seat of chemical changes, collectively termed metabolism. These changes are divisible into constructive, integrative, anabolic, or synthetic processes, in the course of which non-living matter is annexed or assimilated by living matter, destructive, disintigrative, katabolic, or analytic processes, in the course of which living matter and storage substances are expended."
—An Introduction of Human Physiology by A.D. Waller, p. 1
2. "Man's body consists of a combination of six systems of parts, skeletan, muscular, nervous, digestive, circulatary, and geneto-urinary. Each system is made up of a set of organs; each organ is built up of tissues, whose ultimate constituents are called formelements".
—A Textbook of Human Anatomy by A. Macalister, p. 1

of Circulation), समुत्सर्ग यन्त्र (Organs of Excretion), प्रजननयन्त्र (Organs of Reproduction), पैशिक संस्थान अथवा परिचालनयन्त्र (The Muscular System or Organs of Movement) तथा स्नायव संस्थान अथवा नियामक यन्त्र (The Nervous System or Organs of Control), सामान्यत: इन सात श्रेणी में विभक्त करते हैं।[1]

बिना प्रयोजन किसी कार्य का आविर्भाव नहीं होता। शरीर यन्त्रसमूह की उत्पत्ति प्रयोजन के ही अनुसार हो सकी है। मनुष्य-शरीर जिन सभी कर्म के सम्पादनार्थ गठित है, उन सबकी निष्पत्ति में जितने तथा जितने प्रकार के यन्त्रों का प्रयोजन है, हमारे शरीर में उतने तथा उतने प्रकार के यन्त्र हैं। अत: देखा जाये कि मनुष्य-शरीर समासत: कितने प्रकार के कर्म सम्पादनार्थ निर्मित है? मनुष्य-देह में कितने प्रकार की क्रिया हो रही है?

श्रुति, वेदान्त, सांख्य, पुराणादि का अध्ययन करने से विदित होता है कि दृश्य तथा द्रष्टा रूप द्विविध पदार्थ ज्ञाननेत्रों के सम्मुख प्रतिभात होता है। शास्त्रमतानुसार प्रकाशशील सत्व, क्रियाशील रज: तथा स्थितिशील तम:, यह त्रिगुणमयी प्रकृति तथा उसका विकार मन:, इन्द्रिय, भूत तथा भौतिक पदार्थ इसके दृश्य (Object) हैं तथा चिन्मय पुरुष द्रष्टा भोक्ता (Subject) है। पुरुष के भोग तथा मोक्ष के लिए त्रिगुणात्मिका प्रकृति स्थूल-सूक्ष्मभूत तथा इन्द्रियरूपेण परिणता है। अतएव पुरुष का सुख-दुःख भोग तथा अपवर्ग ही प्राकृतिक परिणाम का उद्देश्य है।[2] पहले अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय, इन पंचकोष का संवाद दिया गया है। ये पंचकोण गुणत्रय के कार्य हैं, यह विवेचित किया गया है। अन्नमय=तमोगुण प्रधान। प्राणमय=रजोगुण प्रधान। मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय=सत्वगुण प्रधान परिणाम हैं। शास्त्र का उपदेश है कि गुणत्रय का भागवैषम्य ही सृष्टिगत वैचित्र्य का हेतु है। हमारे शरीर में ज्ञानशक्ति, परिचालनशक्ति तथा पोषणशक्ति प्रधानत: क्रियाशील रहती है। हमारे शरीर में प्रधानत: त्रिविध शक्ति की क्रिया होती है, तब शरीरयन्त्र भी त्रिविध होते हैं। पोषण-कार्य, प्राणक्रिया एक ही पदार्थ है। पोषणयन्त्र, परिचालन यन्त्र तथा ज्ञानशक्ति यन्त्र हमारे शरीर में त्रिविध यन्त्र समष्टि हैं। परिपाक-यन्त्र, श्वासयन्त्र, शोणित संचालन यन्त्र तथा समुत्सर्गयन्त्र, सभी पोषणशक्ति विभागान्तर्गत

---

1. "All human tissues consist of or are derived from cells. A cell in its simplest form is a minute mass of a transaparent gelatinous contractile meterial called protoplasm." —वही, पृ० 2, डॉक्टर वैलर की 'Human Anatomy' पुस्तक का पृ० 3 देखें।
2. ''प्रकाशक्रियास्थिति शीलं भूतेन्द्रियात्मक भोगापवर्गार्थं दृश्यम्''—पातंजलदर्शन, सा.प. सूत्र 18
''तदेतदृश्यं भूतेन्द्रियात्मकं भूतभावेन पृथिव्यादिना सूक्ष्म-स्थूलेन परिणमते तथेन्द्रियभावेन् श्रोत्रादिना सूक्ष्मस्थूलेन परिणमत् इति। तत्तुनाप्रयोजनं अपि तु प्रयोजनमुपरीकृत्य प्रवर्त्तत इति भोगापवर्गार्थ तदृश्यं पुरुषस्येति''—योगसूत्रभाष्य

हैं। पैशिक संस्थान तथा स्नायव संस्थान यथाक्रमेण परिचालन तथा ज्ञानयन्त्र श्रेणी के अन्तर्भूत हैं।

यन्त्र को चलाने के लिए यज्ञ में आहुति देना पड़ता है। अग्नि में आहुति प्रदान किये बिना यन्त्र क्रिया नहीं करते। हमारे शरीर में सर्वदा क्रिया होती रहती है। क्षय होता है और क्षय की पूर्ति के लिए आहार का प्रयोजन है।[1]

विसर्ग (त्याग—Egestion, Excretion, Getting rid of waste matter–out put), आदान (ग्रहण Ingestion, the taking in) तथा विक्षेप प्रेरण—(Distribution) इन त्रिविध क्रिया से हमारे शरीर में जो घृत होता है, उसे कहा गया। पाश्चात्य नरशरीर विज्ञानी मेटाबलिज्म (Melabolism) शब्द से विसर्गादि त्रिविध व्यापार विशिष्ट प्राणन् कार्य को ही लक्ष्य करते हैं। आयुर्वेद का उपदेश है कि शरीरयन्त्र की विसर्गादि त्रिविध क्रिया वात-पित्त तथा श्लेष्मा (कफ) से निष्पादित होती है। इन तीनों का स्वरूप क्या है? अथर्ववेद संहिता तथा सुश्रुत संहिता पाठ से ज्ञात होता है कि ये तीनों इस प्रकार से हैं, वात = वायु। पित्त = अग्नि। श्लेष्मा = सोमात्मक। अथर्ववेद का कथन है कि सूर्य स्वकीय ओज को, अपने एक तेज: अथवा शक्ति को, वायु-अग्नि तथा सोमरूपी त्रिधाविभागपूर्वक जगदेह में धारण करते हैं। सूर्य ही वात, पित्त तथा श्लेष्म लक्षण दोषत्रयरूपेण सर्वशरीर में विद्यमान हैं।[2] सुश्रुत संहिता में यही बात कही गयी है। अध्यापक लैण्डोई कहते हैं कि जीवदेह में जो शक्तियाँ हैं, वे सभी उद्भिज् से आई हैं। उद्भिज् समूह सूर्य प्रसूत हैं। इसलिए सूर्य ही सभी जैवशक्ति का कारण है। आद्यप्रभव है। अध्यापक लैण्डोई तभी अनुमान करते हैं कि सौरताप तथा सौरआलोक का उत्पत्ति तत्व मध्याकर्षण द्वारा व्याख्येय है। मध्याकर्षण ही सौरताप तथा सौरआलोक का उत्पत्ति कारण है। इसलिए मध्याकर्षण ही सम्भवत: समग्र जीवनी शक्ति का आद्यरूप है।[3] मध्याकर्षण स्वरूप ही अभी तक

---

1. डॉक्टर पार्कर कहते हैं—"Our bodies have done a certain amount of work and have undergone a proportional amount of waste, just as a fire, every time it blazes up consumes a certain weight of coal."
—Biology, T.J. Parker, p. 14

2. ''यत्रकमोजस्त्रेधा विचक्रमे''—अथर्ववेद संहिता
''य: सूर्य: एकमेव स्वकीयम् ओज: तेज:''
''य सूर्य: एकमेव स्वकीयम् ओज: तेज: त्रेधात्रिकारेण वायुवग्निचन्द्रमात्मना विचक्रमे कृत्स्नशरीराणि आक्रम्य वर्त्तते, वातपित्तश्लेष्मालक्षण दोषत्रयकारि देवतात्मना सर्वत्र अयमेव वर्त्तते।'' —सायणभाष्य

3. "All the energy of animals is derived from plants. All the energy of plants arises from the Sun. Thus the Sun is the cause, the original source of all energy in the organism, ie of the whole of life."
"As the formation of solar heat and solar light is explicable by the gravitation of masses, gravity is perhaps the original form of energy of all life."—A Textbook of Human Physiology by Dr. Landois, Introduction

निश्चित नहीं है। जो स्वयं अनिश्चित स्वरूप है, उसके द्वारा अन्य के स्वरूप का विनिश्चय कैसे होगा ? यह हमें बोधगम्य नहीं है। जो स्वयं असिद्ध है, वह अन्य का साधक कैसे होगा ? मध्याकर्षण वास्तव में त्रिगुण परिणाम है। यह सांस्थानिक संसर्ग वृत्ति शक्ति है। आणविक आकर्षण तथा मध्याकर्षण स्वरूपतः भिन्न पदार्थ नहीं है।

आकुंचन तथा प्रसारण (Contraction and Expansion) रूपी द्विविध क्रिया द्वारा आदान तथा विसर्ग रूप द्विविध कार्य निष्पन्न हो जाता है। आकुंचन सोमशक्ति का तथा प्रसारण अग्निशक्ति अथवा तापशक्ति का कार्य है। अतः सोम तथा अग्नि शक्ति द्वारा ही यथाक्रमेण ग्रहण तथा त्याग कार्य सम्पादित होता है, यह हृदयंगम हो गया।

शरीरधारण करने के लिए आहार का प्रयोजन है। खाये हुए से (भुक्त द्रव्य) देह तथा दैहिक शक्ति समूह की उत्पत्ति तथा स्थितिकार्य सम्पादित होता है।[1] द्रव्य से हमारा शरीर जिन-जिन उपादान से गठित है, हमारा आहार भी उस उपादान के तुल्य जाना जाये। साथ ही शरीर की साम्यावस्था की रक्षा के लिए, जिस परिमाण में शरीर के उपादानों का क्षय होता है, उसी परिमाण में खाद्य द्रव्य का प्रयोजन है। इस क्षय का पोषण पर्यायक्रम से न होने पर शरीर क्रमशः क्षीण होता जाता है। शरीरभार में कमी आती है और अन्त में मृत्यु हो जाती है।[2]

शास्त्र का कथन है कि मनुष्य-शरीर पाञ्चभौतिक है। अतः हमारा आहार भी पाञ्चभौतिक कहा गया है। भगवान् आत्रेय पुनर्वसु कहते हैं भौम, आप्य, आग्नेय, वायव्य तथा नाभस, इन पंचप्रकार की पाचक ऊष्मा से आहारस्थ पंच प्रकार के (आहार के) पार्थिवादि गुणों का परिपाक होता है। इन पाँचों ऊष्मा से परिपक्व भुक्त पदार्थ का पार्थिवादि द्रव्य तथा गुण-समूह शरीरस्थ स्व-स्व द्रव्य तथा गुणों का पोषण करता है। छान्दोग्य श्रुति में आहार्य पदार्थ को पार्थिव, जलीय तथा तैजस रूप से तीन भागों में विभक्त किया गया है। ये तीनों द्रव्य जठराग्नि द्वारा विदग्ध तथा पक्व होकर जलीय, पार्थिव तथा तैजस भाग में विभक्त हो जाते हैं। ये तीनों जठराग्नि द्वारा विदग्ध तथा पक्व होकर (प्रत्येक) स्थूलतम, मध्यम तथा सूक्ष्मतम रूप से त्रिधा विभक्त होते

---

1. "Thus we find that in the animal organism the demand for food has reference not merely to its use as material for the construction of the fabric; food serves also as a generator of force."
—Physiology by Carpenter, p. 11
2. "...The normal metabolism requires the supply of food quantitatively and qualitatively of the proper kind the laying up of this food within the body, a regular chemical transformation of the tissues, and the preparation of the effect products which have to be given out through the excretory organs." —A Textbook of Human Physiology by L. Landois, p. 485
"If less food be given than is necessary to maintain the former, the body loses weight." —Ibid, p. 506

हैं।[1] पार्थिव, जलीय तथा तैजस आहार्य पदार्थ समूह को पण्डित पार्कर ने भी प्रकारान्तर से स्वीकार किया है।

पाश्चात्य नरशरीर विज्ञान से विदित होता है कि Proteids, वसा (Fats), कार्बोहाईड्रेट, लवण तथा जल शरीर रक्षणार्थ—इन सबका प्रयोजन है। Proteids किसे कहते हैं? कार्बन, हाईड्रोजन, नाईट्रोजन तथा गन्धक के सांयोगिक (Compound) को कहते हैं। Proteids जैव तथा उद्भिज शरीर की सर्वोपरि प्रयोजनीय सामग्री है। इसकी विद्यमानता के अभाव में किसी भी जैव व्यापार की निष्पत्ति नहीं हो सकती। मनुष्य के शरीरधारण के लिए जिन सब पदार्थ का प्रयोजन है, Proteids (जो खनिज द्रव्ययुक्त है) उन सब पदार्थों के अभाव को पूर्ण करता है।[2]

शरीरधारण तथा प्राणरक्षणार्थ जब आहार का प्रयोजन है, तब सप्राण पदार्थमात्र ही आहार के लिए सचेष्ट रहते हैं। जिस किसी पदार्थ को खा लेने से शरीर की रक्षा नहीं होती। प्रकृति भेद से आहार की व्यवस्था है। प्राकृतिक नियम भी सबके लिए भिन्न है। पाश्चात्य नरशरीर विज्ञानानुसार मनुष्य के शरीर रक्षणार्थ जिन द्रव्यों का प्रयोजन है तथा उसकी क्या मात्रा हो, यह निरूपित है। डॉक्टर हालिबर्टन (Dr. Halliburton) कहते हैं मनुष्य के शरीर रक्षणार्थ Proteids (Fats) फैट, कार्बोहाईड्रेट, लवण तथा जल आदि कतिपय पदार्थों का प्रयोजन है। दैशिक प्रकृति तथा वयः तथा लिंग के अनुसार उपयुक्त आहार की व्यवस्था होना आवश्यक है। हमारे शरीरधारणार्थ जो-जो मात्रा आवश्यक है, वह द्रव्य उस मात्रा में आहृत होने पर आहार का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। आहार सामग्री को परिपाकयोग अवस्था में लाना पड़ता है।[3]

आहार के सम्बन्ध में हम यहाँ एक-दो बातें और कहना चाहते हैं। अणुवीक्षण यन्त्र से दिखाई पड़ने वाले क्षुद्रतम जीव से लेकर उच्चतर मनुष्य पर्यन्त की परीक्षा से

---

1. ''भौमाप्याग्नेय वायव्याः पञ्चोष्माणः। सनाभसाः पञ्चआहारगुणान् स्वान् स्वान् पार्थिवादीन् पचन्ति हि। यथस्वं स्वञ्च पुष्यन्ति देहद्रव्यगुणाः पृथक्। पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषा शेषोश्च कृत्स्नशः''.....चरकसंहिता, चिकित्सास्थान। तथा ''अन्नमशितं त्रेधा विधीयते''
—छान्दोग्योपनिषत्

2. "The protieds are the most important substances that occur in animal and vegitable organisms; none of the phenomena of life occur without their presence."
"Protieds are highly complex compounds of Carbon, Hydrogen, Oxygen, Nitrogen and Sulphur occuring in a solid viscous condition or in solution in nearly all the liquids and solids of the body."
—Kirkes Handbook of Physiology by Halliburton W.D., p. 381
"We have seen that a proteid contains Corbon, Hydrogen, Oxygen, Nitrogen and Sulphur and it might be said that proteid plus water and mineral matter would supply a man with all materials he wants."
—Chemical Physiology and Pathalogy by Halliburtion, p. 602

3. "A healthy and suitable diet must possess the following characters–

ज्ञात होता है कि सभी साधारण तथा असाधारण प्रकृति की प्रेरणा के अनुसार आहार का निर्वाचन करते हैं। जिसे आहार करने पर प्राणधारण होता है, उससे तो आहार का साधारण उद्देश्य सिद्ध होता है। जीव वही आहार नहीं करता। जीव अपनी-अपनी रुचि के अनुसार आहार का निर्वाचन करता है। अपनी विशिष्ट प्रकृति को शिरोधार्य करता है। आमिषभोजी (Carnivorous), निरामिष भोजी (Graminivorous तथा Herbivorous) तथा इन दोनों को खाने वाले, इन तीन श्रेणी के जीव पाये जाते हैं। मनुष्य जाति में दोनों तरह के लोग हैं। डॉक्टर वैलर (A.D. Waller) कहते हैं कि मनुष्य के कर्पर (Skull) तथा दाँत एवं आँतों के परीक्षण से प्रतीत होता है कि मनुष्य जाति को आमिष तथा निरामिष मिश्र आहार प्रयोजनीय है। जो मांसभक्षी हैं, उनकी आँत का आकार निरामिष भोजी से छोटा होता है। सामिष तथा निरामिष भोजी प्राणी का दाँत भी समान आकृति का नहीं होता। मनुष्य के दाँत दोनों प्रकार के आहार के लिए बने हैं। उसकी आँत न बड़ी है, न छोटी है। दाँतों को तीन श्रेणी में विभक्त किया जा सकता है, छेदक (Incisors), विदारण, मांसभक्षणोपयोगी (Canines) तथा पेषण अथवा चर्वण दन्त (Molars)।

मनुष्य में चार विदारण (Canine) दन्त हैं, आठ छेदक दन्त हैं तथा 20 चर्वण दन्त हैं। अतएव मनुष्य उभयभोजी है।[1] हमारा इस सम्बन्ध में अनेक वक्तव्य है। आहार के साथ 'धर्माधर्म सम्बन्ध विचार' ग्रन्थ में आहार सम्बन्ध में हमने अपना मत रखा है।[2] यहाँ यह अवश्य कहना है कि Dr. Waller ने जो कहा है, उसे पाश्चात्य देश में भी सबने युक्तिसंगत नहीं माना है। जर्मनी के विद्वान् लुईस कुन (Louis Kuhne) ने विविध युक्तियों से इस प्रकार के अनुमान को काटते यह कहा है कि यह अभ्रान्त-भूमिक प्रत्यक्ष नहीं है तथा उसके प्रतिपादन का प्रयास किया है।

(a) It must contain the proper amount and propartion of the various proximate principles—Proteids, fats, carbohydrates, salts and water.

(b) It must be adopted to the climate, age and sex of the individual and to the amount of work done by him.

(c) The food must not only contains the necessary amount of elements, but these must be present in a digestible form." —Ibid

1. "The permanent teeth are 32 in number and comprise eight incisors, four canines, eight pre-molors or bicuspids, and twelve molars. A comparison of the skull and teeth of man with those of a purely carvivorous animal such as tiger and with those of a purely graminivarus animal such as the ox, leads to the conclusion that a mixed diet comprising flesh and vegetables is natural to man. A comparison of their intenstines leads to the same conclusion; the intestine of a flesh feeder is short that of a vegitable feeder in that of a man is of moderate size."

—Human Physiology by Waller, p. 164

2. यह ग्रन्थ पूर्णतः अप्राप्त है।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक विद्वान् अल्फ्रेड बिनेट (Alfred Binet) ने अपने ग्रन्थ 'The Psychic Life of Micro-organism' में कहा है कि जीवाणु निर्विशेष अपने शरीर का पोषण नहीं करते। किसी वस्तु को देखते, पाते ही नहीं खा जाते। वह अपने विवेक का प्रयोग करके यह देखते हैं कि कौन वस्तु हितकारी है और कौन अहितकारी है। विद्वान् बिनेट कहते हैं कि फान्टज क्षुद्रजीवों में भी आमिषभोजी तथा निरामिषभोजी होते हैं (Carnivorous Infusaria and herbivorous infusaria)[1]

यह हमारा विश्वास है कि प्रकृति भेद ही रुचि तथा प्रवृत्ति भेद का कारण है। मांसभोजी तथा निरामिषभोजी में जो प्रकृतिगत भेद है, वह अल्पचिन्तन से ही प्रतिपन्न हो जाता है। भगवान् पतंजलिदेव पाणिनिभाष्य में भक्ष्याभक्ष्य विचार का प्रयोजन बतलाते कहते हैं कि क्षुत् प्रतिघात (क्षुधा निवारण) ही मनुष्य जीवन का लक्ष्य नहीं है। शरीर के लिए मानव शरीर को नहीं चाहता, आहार से शरीर-रक्षा करके मानव स्वयं को कृतकृत्य न माने। शरीर मात्र उद्देश्य सिद्धि का साधन है। जो सभी द्रव्य शास्त्र में अभक्ष्य कहे गये हैं, उन सबसे क्षुधा निवारण का प्रयोजन साधित अवश्य होता है, किन्तु उन्हें खाने से धर्म की उन्नति में तथा प्रकृष्ट गति में बाधा हो जाती है। अभक्ष्य द्रव्यसमूह आत्मविकास के पथ पर बाधक है। शास्त्र ने आहार को सात्त्विक, राजस, तामस रूपत्रय में विभक्त किया है। सात्विक आहार सत्वगुण की वृद्धि करता है। इससे मनः शुद्ध होता है।[2] सात्विक आहार से चित्तशुद्धि होती है, साथ ही चित्तशुद्धि हो जाने से ऊर्ध्वस्त्रोतस्विनी वृत्तियाँ विकसित होती हैं। डॉक्टर कून कहते हैं कि अनेक परीक्षण से हमने इसे सत्य समझा है। जिस बालक को मांसभक्षण से दूर रखा गया, उसकी दैहिक तथा मानसिक प्रकृति प्रकृष्ट परिमाण में है तथा वह बुद्धिमान, सदाशय तथा सुशील हुआ है।[3]

---

1. "The micro-organisms do not nourish themselves indiscriminately nor do they feed blindly upon every substance that chances in their way. Also when they ingest food through some point or other of their bodies, they understood perfectly how to make a choice of the particles they wish to absorb... Thus there are herbivarous infusaria and carnivarous infusaria."

—The Psychic Life of Micro-organisms by A Biret, p. 40

2. ''भक्ष्यं च नाम क्षुत्प्रतिघातार्थमुपादीयते। शक्यं चानेन श्वमांसादिभिरपि क्षुत्प्रतिहन्तम्। तत्र नियमः क्रियते। इदं भक्ष्यमिदमभक्ष्यमिति''—महाभाष्य

''आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवास्मृति।''—छान्दोग्योपनिषत्

3. "In a number of families children have been reared from the beginning without meat, and I have always made a special point of watching the development of such. I can confidently assert. that the trials have resulted decidedly in favour a vegetarian diet. The children's development is almost without exception, both physically and mentally in all three directions that of the understanding the will and temper." —दि न्यू साइंस ऑफ हीलिंग, कुन, पृ० 127

सात्विक आहार से सत्व की विशुद्धि होती है। चित्त की पापप्रवण प्रकृति का वेग मन्द होने लगता है तथा पुण्यप्रवण प्रवृत्ति का वेग वर्द्धित होने लगता है, यह सत्य है। सत्वगुण की वृद्धि होने पर संवेदन, दया प्रभृति उत्कृष्ट भावों का स्फुरण होने लगता है। जिस कारण से हमारी देह, हमारा प्राण, हमारा प्रिय है, जिस कारण से हम देह-प्राण के रक्षणार्थ सदा सचेष्ट हैं, उसकी अबाधितावस्था देखने को सदा इच्छुक हैं, इसी प्रकार अन्य भी अपने देहादि के रक्षार्थ सदा सचेष्ट हैं। सभी अपने-अपने देह-प्राण को अबाधित देखना चाहते हैं, मैं जिसे चाहता हूँ, अन्य भी वही चाहते हैं, मैं जो नहीं चाहता, अन्य भी वह नहीं चाहते, इस विचार का विकास होने पर मानव क्षुधा निवृत्ति तथा स्वार्थ के लिए जीवहिंसा नहीं कर सकेगा, उसकी मांस भक्षण प्रवृत्ति स्वयमेव निवृत्त हो जायेगी। इसमें सन्देह नहीं है। जब तक सत्वगुण के विकास से रजः, तमः का अभिभव नहीं होगा, जब तक हिंसा, द्वेष, मात्सर्य, लोभ आदि निकृष्ट वृत्तियों का निरोध नहीं होगा, जब तक "मैं सर्वभूत में हूँ, सर्वभूत मुझमे हैं" श्रुति उपदिष्ट इस ज्ञान का उदय नहीं होगा, तब कोई भी मांसभक्षण की अपकारिता की सम्पूर्णतः उपलब्धि नहीं कर सकेगा। यदि हजारों-हजार व्यक्ति समवेत स्वर से मांसभक्षण की अपकारिता का गायन करें, विधियुक्ति से इसकी प्रवृत्ति को छुड़ाने का उपशमित करने का प्रयास करें, तथापि मांसभक्षियों की संख्या कम नहीं होगी।

तर्क अथवा युक्ति द्वारा कोई किसी की प्रवृत्ति को परिवर्तित कर सके, ऐसा विश्वास ही नहीं होता। डॉ० कुन समझाते हुए कहते हैं कि निरामिषभोजी प्रायः स्वास्थ्यवान् तथा सुखी रहते हैं। उनमें इन्द्रियभोग की प्रवृत्ति का ह्रास हो जाता है। जीवन सदाचार तथा सुनीतिपरायण हो जाता है। वे समाज के अलंकार रूप हो जाते हैं। किसी भी देश के धर्मोपदेशक से, किसी भी देश के दार्शनिक तथा नीतिशिक्षक से यह प्रश्न किया जाये कि धर्म तथा साधु जीवन का शत्रु कौन है? इसके उत्तर में सभी इन्द्रिय सुख को ही धर्म तथा साधु जीवन का प्रबल शत्रु बतायेंगे। डॉ० कुन चाहे जो कहें, जिनकी प्रकृति में मांसभक्षण की प्रवृत्ति है, वे कभी भी डॉ० कुन की बातों को सुनना नहीं चाहेंगे। वरन् वे यह प्रतिपादित करेंगे कि मांसभक्षण मनुष्य के लिए कर्त्तव्य है। उनका यह तर्क होगा कि मनुष्य के दाँत, कपाल, आँत आदि की परीक्षा से यह ज्ञात हो चुका है कि मांसभक्षण न करने से मस्तिष्क का बल क्षय होगा, देह जाड्य में वृद्धि होगी। सभी स्व-स्व प्रकृति की प्रेरणा से कार्य करते हैं। जिनको जिसमें सुख मिलता है, वे उसके बिना नहीं रह सकते। जब तक उनको मांसभक्षण से सुख मिलता रहे, तबतक वे उसका त्याग नहीं कर सकते। जब उनकी प्रकृति का परिवर्तन होगा, तब वे तर्क अथवा उपदेश की अपेक्षा किये बिना निरामिषभोजी हो जायेंगे।

यदि कोई उपदेश सुनकर अपनी बहादुरी दिखलाने के लिए मांसभक्षण छोड़ भी देता है, वह कुछ दिन पश्चात् पुनः मांसभक्षण करने लगेगा क्योंकि वह कहेगा कि इतने दिन मांस न खाने से शरीर का तेज नहीं रह गया, कर्मपटुता की हानि होने लगी,

वह कहेगा कि आहार से धर्माधर्म का क्या सम्बन्ध? इसी कारण शास्त्र ने व्यक्ति के अधिकार तथा योग्यता के अनुसार लोगों के कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्धारण किया है। सबके लिए ही नियम नहीं बनाया है। इसीलिए शास्त्र में मांसभक्षण की विधि तथा निषेध, दोनों है।

शारीरयन्त्र में पंचभूत अथवा अग्नि-सोम की भिन्न-भिन्न ताल भिन्न-भिन्न छन्दः के स्पन्दन से उत्पन्न होती है। जैसे कुम्हार घटादि निर्माण के पूर्व मन में घट की कल्पना करता है। मन में यह निश्चित करता है कि किस प्रकार का घटादि बनेगा, उसी प्रकार कुम्हार का मानस स्पन्दन ही मृत्तिका में संक्रमित होकर घटादि आवृत्ति में आकारित हो जाता है। इसी प्रकार लिंगदेह के विविध स्पन्दन पंचभूतों में संक्रामित होकर भिन्न-भिन्न अंग शारीरयन्त्र का निर्माण करते हैं। यकृत, फुफ्फुस, मस्तिष्क, हृदय, वृक्क, आमाशय, पक्वाशय, मूत्राशय, गर्भाशय, त्वक्, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, स्नायु, धमनी, शिरा, लसीका इत्यादि अग्नि-सोम के भिन्न-भिन्न भाव की स्पन्दितावस्था है, भिन्न-भिन्न छन्दः है। भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं कि अंगप्रत्यंग निवृत्ति स्वभावतः होती है। इसमें जो गुण समूह विद्यमान रहते हैं, वे ही गर्भ के धर्माधर्म निमित्तज हैं।[1] शुक्र-शोणित संयोगकाल में कफपित्तवात रूप दोषत्रय में जो दोष उत्कट हो जाता है, जन्म लेने वाले की आकृति वैसी हो जाती है, अर्थात् तत्दोष प्रधाना हो जाती है।[2]

भगवान् धन्वन्तरि स्पष्टतः कहते हैं कि अग्नि तथा सोम के भिन्न-भिन्न रूप के भिन्न-भिन्न छन्दः अथवा ताल के स्पन्दन से भिन्न-भिन्न प्रकृति पदार्थ का आविर्भाव होता है। स्पन्दन तारतम्य ही सृष्टिभेद का कारण है। कर्मवैचित्र्य ही सृष्टिवैचित्र्य का हेतु है। प्रकृति भेद से रुचिभेद होता है। इस भेद से इष्टानिष्ट बोध की भिन्नता रहती है। प्रकृतिभेद से बुद्धि-मनः-इन्द्रिय-शरीर अलग-अलग होते हैं। प्रकृति तत्त्व की जानकारी के अभाव में यथारीति चिकित्साकार्य नहीं हो सकता। यथारीति भेषज व्यवस्था अथवा पथ्यापथ्य का निर्वाचन भी नहीं हो सकता। इसी कारण आयुर्वेद ने प्रकृतितत्व के सम्बन्ध में विस्तृत उपदेश दिया है। आयुर्वेद ने केवल मनुष्य प्रकृति ही नहीं, सुर-नर-तिर्यक्-वृक्ष-लता, फल-फूल-पत्र-धातु-ग्रह-नक्षत्र इत्यादि अखिल प्राकृतिक पदार्थ के प्रकृतितत्व की विस्तृत व्याख्या अंकित की है। मानव प्रकृति के साथ सुर-तिर्यकादि की प्रकृति की तुलना की है। प्रकृति तत्वज्ञान के अभाव में चिकित्साकार्य सम्पन्न ही नहीं होता।[3]

---

1. "अङ्गप्रत्यङ्गनिर्वृत्तिः स्वभावादेव जायते। अङ्गप्रत्यङ्गनिर्वृत्तौ य भवन्ति गुणागुणाः। ते ते गर्भस्य विज्ञेया धर्माधर्म निमित्तजाः"—सुश्रुतसंहिता
2. "शुक्रशोणित संयोगे या भवेद्दोष उत्कटः। प्रकृतिर्जायते तेन तस्या में लक्षणं शृणु।"

—सुश्रुत संहिता

3. "प्रकृतिभेद की बात पाश्चात्य विद्वान् भी कहते हैं। इन लोगों ने टेम्परामेन्ट (Temparament) शब्द से जिस पदार्थ को लक्ष्य किया है, वह शास्त्र व्यवहृत धातु अथवा प्रकृति पदबोध्य अर्थ के समान है।"

प्रकृतितत्व ज्ञान के बिना शास्त्रीय धर्माधर्म निर्वाचन रहस्य उद्‌भिन्न नहीं होता। भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं कि वात-पित्त-कफ के पृथक्-पृथक् भाव से दो-दो तथा तीनों के प्राधान्यानुसार सात प्रकार की दैहिक प्रवृत्ति होती है।[1] वात-पित्त तथा कफ इन त्रिविध शारीरदोष के छन्दोभेद के कारण, जो-जो प्रकृतिभेद होता है, उतना ही कहकर आयुर्वेद चुप नहीं बैठा। रजः तथा तमः दोनों के सत्वदोष स्पन्दन तारतम्य के कारण मानस प्रकृति में जो-जो भेद होता है, आयुर्वेद ने वह भी कहा है।

प्रकृतिभेद से आहाररुचि का भेद होता है और इसी कारण कोई मांसलोलुप है तथा कोई उसका विरोधी है, यह स्पष्ट हो गया। सुख-दु:ख के स्वरूपावधारणार्थ हमने प्रकृति के सम्बन्ध में एक-दो बातें कहीं। आत्मा अथवा प्रकृति की अबाधितावस्था सुख तथा बाधितावस्था है दु:ख। सुख-दु:ख के इस लक्षण का तात्पर्य हृदयंगम करने के लिए आत्मा तथा प्रकृति के स्वरूप का दर्शन प्रयोज्य है। आहार करने से हमें जो सुख मिलता है, उसका कारण क्या है? व्यक्तिभेद से पृथक्-पृथक् द्रव्य के आहार से सुख-दु:ख में प्रभेद हो जाता है। उसका हेतु क्या है? इसका विचार करना होगा। आहार का क्या प्रयोजन है? यह विदित हो गया। हमारे शरीर में सदा क्रिया होती है, क्रिया से क्षय होना अवश्यम्भावी है। क्षय का पोषण हुए बिना शरीर की रक्षा नहीं हो सकती। अत: शरीर रक्षार्थ आहार का प्रयोजन है। जब हमें आहार का प्रयोजन होता है, तब हम क्षुधार्त्त हो जाते हैं। क्षुधा कौन पदार्थ है?

सुश्रुत संहिता ने क्षुधा, पिपासा, जरा, मृत्यु, निद्रा को स्वाभाविक व्याधि कहा है।[2] शरीर की वृद्धि तथा स्थिति के लिए प्राणाग्निहोत्र अथवा शरीरयज्ञ सम्पादनार्थ अन्नाभाव बोध ही क्षुधा है।[3] क्षुधा तथा पिपासा बाधा संवेदन विशेष है। क्षुधा यद्यपि सर्व शरीरव्यापी पोषण शक्ति की बाधितावस्था का संवेदन है, तथापि पाकाशय में यह विशेषतः अनुभूत होती है। पाश्चात्य शरीरविज्ञानी कहते हैं कि पाकाशय (Stomach), क्षुधा (Hunger) संवेदन का स्थान है, जो अन्नाभाव से अनुभूत होता है तथा जिह्वातन्तु एवं कण्ठ जलाभाव संवेदन का स्थान है। (पिपासा का (Trust) स्थान है)। भगवान् पतंजलिदेव कहते हैं कण्ठकूप में चित्तसंयम करने से क्षुधापिपासा की निवृत्ति हो जाती है। भाष्यकार भगवान् वेदव्यास कहते हैं कि जिह्वा

---

1. ''द्वयोर्वा तिसृणां वापि प्रकृति नान्त लक्षणैः।
ज्ञात्वा संसर्गजा वेदः प्रकृतिरभिनिर्दिशेत्''—वही
2. ''स्वाभाविकाः क्षुत्पिपासाजरामृत्युनिद्राप्रभृतयः''—सुश्रुत संहिता
3. ''डॉक्टर कार्पेन्टर कहते हैं—"The want of solid aliment, arising from the demands of the system for the materials requisite for the growth and maintenance of the body and for the combustive process, is indicated by the sensation of Hunger and that of liquid by thirst."—Human Physiology, Carpenter, p. 52

के अधोदेश को तन्तु (Palate को) कहते हैं।[1] तन्तु के अध: में कण्ठ तथा कण्ठ के अधोदेश में कूप है। कूप शब्द (Stomach) पाकाशय का तथा तन्तु तथा कण्ठ Palate एवं Pharynx का समानार्थक है। जान थार्टन ने तन्तु तथा कण्ठ को पिपासा संवेदन स्थान कहा है।

पोषण अथवा प्राणशक्ति की बाधितावस्था का अनुभव ही क्षुधा है। आत्मा से हम साधारणत: अन्नमयादिकोष अवच्छिन्न चैतन्य को ही समझते हैं। पोषण शक्ति की बाधितावस्था तथा आत्मा की बाधितावस्था एक ही बात है। क्योंकि पोषण शक्ति जीवात्मा का ही अंशविशेष है। जिस शक्ति का जो कार्य है, यदि वह न करे तथा किसी कारण से यदि उसकी नियन्त्रित तथा प्रतिबद्ध प्रवृत्ति हो जाये, तब उसका बाधाबोध होगा। यही बाधाबोध हमारे लिए दु:ख है। आहार से पोषण शक्ति अबाधित रूप से निरर्गलभाव से क्रिया करती है, तब आत्मा में बाधाबोध नहीं रहता। शारीर उत्पादन के क्षयजनित दु:ख का तब अवसान हो जाता है। इसी कारण आहार से सुख का अनुभव होता है। आहार का अभाव पूर्ण न होने से दु:ख अथवा क्लेश होता है। सुश्रुत संहिता में इसीलिए क्षुधादि को स्वाभाविक व्याधि कहा है। इससे व्याधि पदार्थ का स्वरूप हमें ज्ञात हो गया। व्याधि क्या है, इसके लिए सुश्रुत संहिता ने कहा है कि ''पुरुषं के जीवात्मा के दु:ख के लिए जिसका संयोग होता है, जिसके रहने पर, जिसके द्वारा जिससे पुरुष को दु:ख उत्पन्न होता है, वह व्याधि है।'' शब्द की व्युत्पत्ति से यह भी अर्थ मिलता है कि जो विविध दु:खों का, कायिक-वाचिक-मानसिक दु:ख का, पीड़ा का उत्पादन करे, वह व्याधि है।[2]

रोग शब्द व्याधि का पर्यायान्तर शब्द है। रोग शब्द 'रुज्' धातु के (भंगार्थक) उत्तर में 'घञ्' प्रत्यय करने से निष्पन्न होता है। भंग शब्द उच्चारित होते ही हमारे मनमुकुर में स्वभाव के विपर्यय, प्रकृति के अन्यथाभाव का रूप प्रतिफलित हो जाता है। जिसके जिस भाव को हम उसका निज भाव कहकर अवधारित करते हैं, उस भाव का जब भेद होता है, अन्यथा हो जाता है, तद्भाव—वह भाव जब बाधित होता है, तब जब वह भिन्न, आमर्दित, अभिभूत अथवा भंग हो जाता है, तब हम उसे रुग्ण, विपर्यय, तरंगित इत्यादि नाम देते हैं। नियत परिवर्तनशील जागतिक वस्तुमात्र ही वास्तव में भागभंग, भावतरंग तथा भावविकार है। विरुद्ध शक्ति से बाधित न होने पर

1. ''कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्ति''

''जिह्वाया अधस्तात् तन्तु: ततोऽधस्तात्कण्ठ:, ततोऽधस्तात् कूप:, तत्र संयमात् क्षुत्पिपासे न बाधेते।''—योगसूत्रभाष्य

विद्वान् थार्टन कहते हैं—"Hunger in the peculear indefinite sensation which is specially referred to the stomach, but arises from the general need of the system..., Thirst is reffered to the palate and pharynx and is relived by the passenger of water in...."

2. ''त दु:खसंयोगा व्याधय: इत्युच्यते''—सुश्रुत संहिता

यहाँ तत् शब्द जीवात्मा वाचक है।

भग्न अथवा रोग नहीं होता। 'जो भंग करे' यह सुनकर यह उपलब्ध होता है कि जो स्वभाव का विपर्यय करे, स्वास्थ्य विच्युति करे, प्रकृति को आमर्दित करे। दैहिक तथा मानसिक प्रकृति की विपर्यस्त, आमर्दित, बाधितावस्था अथवा भग्नावस्था को रोग शब्द का प्रकृत अर्थ कहा जाता है। जीवात्मा के पोषण अथवा प्राणशक्ति की बाधितावस्था का अनुभव ही जब क्षुधापिपासा, आदि कहा जाता है, तब इन्हें व्याधि कहना उचित है। जिस कारण से क्षुधा आदि को व्याधि कहते हैं, वह तो विदित हो गया, तथापि जिज्ञासा होती है कि इनको स्वाभाविक व्याधि क्यों कहा गया?

सुश्रुत ने व्याधि को आगन्तुक, शारीर, मानस तथा स्वाभाविक रूप से चतुर्धा विभक्त किया है। अभिघात निमित्तक व्याधि समूह को आगन्तुक, वात-पित्त-कफ-शोणितादि के वैषम्य जनित व्याधियों को शारीर, राग-द्वेष निमित्तक क्रोध-शोक-भय-हर्ष-विषाद-ईर्षा, असूया, दैन्य (क्लिष्टचित्तता), मात्सर्य, काम, लोभ, मान, मद, दम्भ इत्यादि को मानस, क्षुत्पिपासा, जरा, मृत्यु, निद्रा आदि को स्वाभाविक प्रकृत सम्भूत रोग कहा गया है। क्षुत्पिपासादि प्रकृति से सम्भूत है। जब तक हम प्रकृति के अधीन हैं, अविद्या के नियमवर्त्ती होकर अवस्थान करते हैं, तब तक हमको जन्म परिग्रह करना होगा। शरीरावधारण करना होगा, तब तक छुटकारा नहीं है। इसी कारण सुश्रुत ने इनको स्वाभाविक व्याधि कहा है। जन्म लेने के कारण क्षुधा-पिपासा से बाधित होना पड़ता है। इसलिए जो वास्तव में आरोग्य तथा स्वास्थ का उपभोग करना चाहते हैं, उन्हें वह चेष्टा करना होगा, जिससे जन्मनिरोध हो, भवरोग निवारित हो। भवरोग ही मूलरोग है। सर्वप्रकार के दुःख का मूल कारण है। आयुर्वेद केवल शारीर व्याधि के प्रतिकार के उपाय हेतु आविर्भूत नहीं है। यह आगन्तुक, शारीर, मानस तथा स्वाभाविक, इन व्याधि चतुष्टय का चिकित्सक है। आगन्तुक प्रभृति चतुर्विध व्याधि प्रशमनोपाय आयुर्वेद में उपदिष्ट है। महर्षि गौतम कहते हैं कि मिथ्याज्ञान का नाश होने पर दोष के कर्म प्रवर्तन लक्षण (Impulses of Action) का अपाय हो जाता है। दोष का अपाय होने पर कायिक, वाचिक तथा मानसिक चेष्टा का अपाय होता है। प्रवृत्ति का अपाय होते ही जन्म का अपाय, जन्म का निरोध हो जाता है। जन्म का अपाय होने पर दुःख का तथा दुःख का अपाय होने पर स्वाभाविक अपवर्ग, निःश्रेयस रूप स्थिर कल्याण साधित होता है। कारण का नाश ही कार्य का नाश है। मिथ्या ज्ञान दोष का कारण है, दोष प्रवृत्ति का, प्रवृत्ति जन्म का, जन्म दुःख का कारण है।[1]

मिथ्या ज्ञान कौन पदार्थ है? जो-जो नहीं है, उसे वह वह जानना, अथवा जो वस्तु जो है, उसे वह न कहना मिथ्या ज्ञान है। न्यायदर्शन भाष्यकार वात्सायन मुनि

1. "दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्गः" —न्यायदर्शन 1/12 तथा "त इमे दुःखादयोमिथ्याज्ञान पर्यवसाना अविच्छेदेन प्रवर्त्तमानाः संसार इति पुनरयं संसारं दुःखादीनां कार्यकारणभावः संचानादिः।" —न्यायवार्त्तिक

कहते हैं कि मिथ्याज्ञान अनेक प्रकार का है। आत्मा नहीं है—यह मिथ्या ज्ञान है। अनात्म में आत्म बोध, दुःख में सुख बोध, अनित्य में नित्य बोध ही मिथ्या ज्ञान है। अत्राण में त्राण बुद्धि, सभय में निर्भय बुद्धि, प्रवृत्ति रहने पर भी कर्म नहीं है, कर्मफल नहीं है, ऐसा प्रत्यय, ऐसा विश्वास, पुनर्जन्म नहीं है, मृत्यु के पश्चात् कुछ नहीं रहता, यह सब मिथ्या ज्ञान है। इस मिथ्या ज्ञान के कारण अनुकूल पदार्थ में राग (Attraction) तथा प्रतिकूल पदार्थ में द्वेष (Repulsion) होता है। राग तथा द्वेष से ईर्ष्या, लोभ आदि दोषों का आविर्भाव होता है। दोष प्रयुक्त जीव कर्मप्रवृत्त होकर रहता है और इसीलिए जीव को पुनः-पुनः (तत्वज्ञान न होने तक) जन्म तथा यातना भोग करना पड़ता है। भगवान् धन्वन्तरि ने इसी कारण क्षुत्पिपासादि को स्वाभाविक व्याधि कहा है। आहार करने से सुखोपब्धि क्यों होती है, यह बता दिया गया। अब जिस कारण से व्यक्ति भेद से आहार भेद होता है, वह कहते हैं। व्यक्ति भेद से आहार रुचि जिस कारण से भिन्न हो जाती है, जिस कारण से सभी द्रव्य सबकी जिह्वा के लिए संवादी नहीं होते, यह विवेचित हो गया। अब यह जानना है कि कुनाईन, चिरायता प्रभृति पदार्थ के जिह्वा संसर्ग से हमें दुःख होता है और घृत-दुग्ध-मांस-अन्न-जल आदि का संसर्ग जिह्वा से होने पर सुख मिलता है, ऐसा क्यों है ?

पोषण शक्ति की बाधा का अपसारण करने के लिए क्षय प्राप्त शारीरोपादान के सम्पूरणार्थ आहार का प्रयोजन है। अतः हमारा शरीर जिन-जिन उपादानों से गठित है, हमारा आहार तत् उपादनक होना प्रयोजनीय है। पाश्चात्य नरशरीर विज्ञानी कहते हैं कि कार्बन, ऑक्सीजन, हाईड्रोजन, नाईट्रोजन तथा गन्धक का सांयोगिक Proteids पदार्थ, वसा तथा तैलक्त पदार्थ (Fat), कारबोहाईड्रेट[1], लवण तथा जल हमारे आहार में होना उचित है। डॉक्टर जॉर्ज ब्लाक खाद्य द्रव्यों को प्रथमतः अदनीय तथा शरीर पोषक (Alimentary of Necessary Food), सहकारी (Accessary Food) तथा भैषज औषधीय (Medicival Food), इन तीन प्रधान श्रेणी में विभक्त करके तदनन्तर प्रत्येक का अवान्तर श्रेणी विभाग करते हैं। डॉक्टर ब्लाक ने अदनीय खाद्य द्रव्यसमूह को खनिज (Mineral), ताप उत्पादक बलप्रद (Heat and forcegiving), मांसवर्द्धक (Nitrogenous flesh forming) इन तीन अवान्तर श्रेणी में विभक्त किया है। हमारा विश्वास है कि इन्हें सौम्य तथा आग्नेय—इन दो भाग में बाँट देना ही यथेष्ट होता। कारण यह है कि हमारा शरीर

1. कार्बन-हाईड्रोजन-ऑक्सीजन, इन पदार्थत्रय के सांयौगिक को कार्बोहाईड्रेट कहा गया है। शर्करा तथा जिन पदार्थों से शर्करा उत्पादित होती है, उन सबको कार्बोहाइड्रेट कहते हैं। सुश्रुत संहिता में कहा है कि पार्थिव जलीय गुण बाहुल्य से मधुररस की उत्पत्ति होती है। (सुश्रुत संहिता, सूत्र स्थान, अध्याय 42)

सुश्रुत संहिता के इन उपदेशगर्भ में कार्बोहाईड्रेट्स नामक पदार्थ समूह की जीवनी है, यह बोध होता है। Cellulose, Saccharoes तथा Gincoses रूप से कार्बोहाईड्रेट को तीन श्रेणी में बाँटा गया है।

अग्निषोमात्मक है। शास्त्र ने विश्व जगत् के सभी पदार्थ को अग्निषोमात्मक कहा है। जगत् में ऐसा द्रव्य है ही नहीं जो शुद्ध आग्नेय अथवा शुद्ध सोमात्मक हो। जिनमें सोमांश अधिक है, उनको सौम्य तथा जिनमें अग्नि का अंश अधिक है, उनको आग्नेय कहा गया है। जिनमें पोषक पदार्थ पाया गया है, उनमें भी किंचित् परिमाण में तापोत्पादन होता है। पोषक पदार्थों में तापोत्पादन है ही नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। श्वेतसार, शर्करा, नाना तैल तथा वसा इत्यादि शरीर ताप रक्षार्थ उपयोगी हैं। अंगार (Carbon), जलजनक (Hydrogen) पाश्चात्य तापरसायन विद्वानों की दृष्टि में प्रधान दाह्य पदार्थ है। ऐतरेय आरण्यक ने पृथ्वी तथा जल को भोग्यभूत कहा है। ऐसा क्यों कहा, यह चिन्तनीय है। वेदादि शास्त्रों का पाठ करने से पता चलता है कि जगत् अग्नि तथा सोम इन पदार्थद्वय की मिलित मूर्ति है। श्रुति का कथन है कि जगत् अन्न तथा अन्नाद इनकी मिलित मूर्ति है। सोम अन्न है, भोग्य है तथा अग्नि है अन्नाद भोक्ता।[1] महाभारत में कहा है चराचर जगत्[2] अग्निषोममय है। वशिष्ठदेव कहते हैं अग्नि तथा सोम ये परस्परतः परस्पर के कार्य हैं तथा परस्पर के कारण हैं। ये दोनों एक-दूसरे को पर्यायक्रमेण अभिभूत करने का प्रयत्न करते रहते हैं। एक बार अग्नि की जय सोम की पराजय, अन्य बार सोम की जय अग्नि की पराजय होती है। अग्नि वायव्यात्मक सोम शक्ति से उदित होता है।[3] वायव्यात्मक सोम से वह्नि की उत्पत्ति होती है और वह्नि से सोम का आविर्भाव होता है। ऐसा पाश्चात्य वैज्ञानिक भी कहते हैं। वैज्ञानिक विद्वान् ग्रोव ने इस सम्बन्ध में जो कहा है उसे नीचे उद्धृत किया जा रहा है।[4] सूर्य अपने एक तेजः अथवा शक्ति को वायु-अग्नि-सोम रूप में त्रिधा विभक्त करके जगत्देह को धारण करता है। सूर्य ही वात-पित्त-कफ दोषत्रयरूपेण सर्वशरीर में व्याप्त होकर विद्यमान रहता है। शरीर संरक्षण करता है। अथर्ववेद का यह उपदेश हमने इससे पहले ही विवेचना प्रसंग में स्मरण कर लिया था। अतः कहा जा सकता है कि हमें देह रक्षार्थ सामान्यतः वायु-अग्नि-सोमात्मक अथवा वात-

---

1. "इदं सर्वमन्नञ्चैवान्नादय सोम एवन्नमग्निरन्नादः"—बृहदारण्यकोपनिषद्
2. "अग्निः सोमनसंयुक्तो एकयोनित्वभागतः।
   अग्निषोममयं तस्माज्जगत् कृत्सं चराचरम्॥" —महाभारत, शान्तिपर्व
3. "अग्निषोमौमिथः कार्यकारणे च व्यवस्थिते।
   पर्यायेण समं चेतौ प्रजौषेते परस्परम्॥"
   "वह्निर्वायुवात्मनः सोमादुदेतीति मुनीश्वर"—योगवाशिष्ठ
4. "It has been observed with reference to heat thus viewed that it would be as correct to say, that heat is absorbed or cold produced by notion, as that heat is produced by it. This difficulty ceases when the mind has been accustomed to regard heat and cold as themselves, motion i.e. as correlative expansions and contractions, each being evidenced by relations and being inconceivable as an abstractions."
   —The Correlation of Physical Forces by W.R. Grove, p. 48

पित्त-कफ स्वभाव युक्त आहार प्रयोज्य है। जिन द्रव्यों को पाश्चात्य शरीरविज्ञानियों ने पोषक बतलाया है, जिसे तापोत्पादक तथा बलप्रद कहा है, जो श्वासिक (Respiratory) रूप से गृहीत है, उनका स्वरूप चिन्तन करने से हमारे मन में क्या आता है? पाश्चात्य शरीरविज्ञानी कहते हैं आल्ब्युमिन, ग्लूटान प्रभृति द्रव्य शरीर का पोषण करता है और शर्करा, श्वेतसार, वसा, नानाविध तैलाक्त पदार्थ इत्यादि तापोत्पादन में व्यपित होता है।

डॉक्टर कार्कस (Kirkes) स्वप्रणीत ग्रन्थ में कहते हैं कि प्राणिमात्र के अवयव जिस पदार्थ से गठित होते हैं, उसे रासायनिक उपादानतः तथा अन्यान्य साधारण धर्मतः एल्ब्युमिन (Albumen) से पृथक् नहीं कहा जा सकता। सजीव विधान अथवा यन्त्रस्थ उक्त पदार्थ वृद्धि, विपरिणामादि, धर्मवत्व के कारण साधारण अल्ब्युमिन से पृथक् रूप से विवेचित होने पर भी रासायनिक उपादान सम्बन्ध में यह अल्ब्युमिनस पदार्थ से भिन्न विवेचित नहीं होता।[1]

आयुर्वेदोक्त सोमात्मक ओज नामक पदार्थ को कियदंश में Albumin जैसा पदार्थ समझते हैं। सर्व शरीरस्थ शीत, स्निग्ध, स्थिर, सोमात्मक शरीर के पुष्टिकर पदार्थविशेष को आयुर्वेद ने ओजः कहा है। चरकसंहिता ओजो धातु को गुरुत्व, शैत्य, मृदुता, श्लक्ष्णता, घनता, मधुरता, स्थिरता, निर्मलता, पिच्छिलता तथा स्निग्धता इन दश गुण विशिष्ट बताया है।[2] डॉक्टर कार्पेन्टर ने कहा है कि द्रव्य कठिन है। सर्व प्रकार शारीर उपादान का घटकावयव है। घन तथा पिच्छिलरूप पदार्थ विशेष के वाचकरूप से आल्ब्युमिन का उल्लेख किया है। इसीलिए हमने सोमात्मक ओज धातु को आल्ब्युमिन से कियदंश में सदृश पदार्थ के रूप में अवधारित किया है।

पाश्चात्य शरीरविज्ञानी विद्वान् ने भी सोमात्मक पदार्थ को ही शरीर-पोषक रूप में ग्रहण किया है, यह विदित हुआ। अब यह चिन्तनीय है कि तापोत्पादक पदार्थ का समूह क्या है। हमारे शरीर में जो उष्ण, जीवदेह का सन्ताप है, उससे सब विदित है। अब यह प्रश्न है कि हमारा शरीर उष्ण क्यों है? प्रश्न का समाधान करने के लिए

---

1. It may be premised, that in all the living parts of all living things, animal and vegetable, there is invariably to be discovered entering into the formation of their anatomical elements, a greater or less amount of substance which, in chemical composition and general characters, is distinguishable from albumen. As it exists, in a living tissue or organ, it differs essentially from mere albumen in the fact of its possessing the power of growth, development and the like; but in chemical composition it is identical with it.

—Handbook of Physiology, Kirks by Baker, p. 9

2. "ओजः सर्वशरीरस्थं शीतं स्निग्धं स्थिरं मतम्।
सोमात्मकं शरीरस्य बहुपुष्टिकरं मतम्॥" —शार्ङ्गधरसंहिता
"गुरुशीतं मृदुश्लक्ष्णं बहुलं मधुरं स्थिरम्।
प्रसन्नं पिच्छिलं स्निग्धं ओजो दशगुणं तथा" —चरकसंहिता

पहले यह जानना होगा कि ताप कौन पदार्थ है, उसकी उत्पत्ति कैसे होती है ? ताप का प्रभव (Source) क्या है ?

प्राचीन विद्वान्ों के मत से ताप सूक्ष्म, भारहीन, पदार्थ विशेष है जो प्रत्येक मूर्त्त पदार्थ में आणविक अवकाश पर अधिकार करके विद्यमान रहता है। यह एक पदार्थ से अन्य पदार्थ में संचरण करता रहता है। जिस पदार्थ से यह निकलता है, उसमें शीतलरूप में तथा जिस पदार्थ में यह प्रवेश करता है उसमें उष्ण रूपेण हो हमारी स्पर्शेन्द्रिय द्वारा अनुभूत होता है। परन्तु नवीन वैज्ञानिक ताप को द्रव्य नहीं मानते। इनका मत है कि ताप द्रव्य का अवस्थान्तर (Change of State) है। द्रव्य के अणुसमूह के कम्पन अथवा स्पन्दन (Molucular Vibrations) से ताप की उद्भूति होती है। आणविक कम्पन जिस परिमाण में द्रुत होता है, द्रव्य समूह उसी परिमाण में उष्ण हो जाते हैं। आणविक कम्पन अत्यन्त द्रुत होने पर आलोक अभिव्यक्त होता है। Dr. Landoi कहते हैं कि शारीरप्रवृत्तिशक्ति (Kinetic) की अबाधित अभिव्यक्ति ही शारीरिक ताप है। यह अभिव्यक्ति शारीर अणुसमूह के प्रकम्पन अथवा स्पन्दन से हुई है। आहार द्वारा तथा श्वास ग्रहण काल में वायुस्थ ऑक्सीजन के साथ हम जो कार्यकारी अथवा संचित का आहरण करते हैं, शरीर ताप का वही अन्तिम प्रभव है Ultimote source है।[1] प्रत्येक रासायनिक संयोग तथा विश्लेष व्यापार निष्पत्ति में ताप की उत्पत्ति होती है। अंगारक द्रव्यसमूह में (The organic substances) जो द्रव्य आहार्यरूप में व्यवहृत होता है, वह कार्बन, हाईड्रोजन, ऑक्सीजन तथा नाइट्रोजन, इन अमिश्र भूत चतुष्टय का सांयोगिक है, यह अनेक को विदित है। मुक्त अंगारक पदार्थ के परिपाक अथवा सन्दाहकाल में कार्बन ऑक्सीजन के साथ संयुक्त होकर कार्बन-डाई-ऑक्साईड (CO_2) के रूप में तथा हाईड्रोजन ऑक्सीजन के साथ संयुक्त होकर जल (H_2O) रूप में परिणत होती है। इस रासायनिक परिवर्तन से ताप उत्पन्न होता है।[2]

अध्यापक फास्टे (M. Faste) कहते हैं कि दैहिक सन्ताप साधारण शरीरविधान का रासायनिक परिणाम अथवा सन्दाह से उत्पन्न होता है।[3] वेद का

---

1. "The heat of the body is an uninterrupted evolution of Kinetic energy, which we must represent to ourselves as due to vibration of the carporal atoms. The ultimate source of the heat is contained in the potential energy taken into the body with the food and with the 'O' of the air absorbed during respiration."
—Human Psysiology, Vol. I, p. 450
2. "The organic substance used as food consist of C.H.O.N. so that there takes place (a) combustion of C into CO_2 of H into H_2O whereby heat is produced." —Ibid, p. 452
3. "We may indeed at once affirm that the heat of the body is generated by the chemical changes, which we may speak of generally as those of oxidation, undergone not by any particular substances, but by the tissues at large." —Physiology, Foster, p. 844

उपदेश है कि जगत् यज्ञ से सृष्ट है। यज्ञ ही विश्व की सृष्टि-स्थिति-लय का हेतु है। वही विश्वब्रह्माण्ड की नाभि है। कहा है—

"अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः"—शुक्लयजुर्वेद संहिता

अग्नि तथा सोम के संयोग के अभाव में यज्ञानुष्ठान नहीं होता। 'महामारी अथवा प्लेग' नामक ग्रन्थ के आयुस्तवाख्य द्वितीय खण्ड में हमने 'आयुः कौन पदार्थ' शीर्षक प्रस्ताव में यज्ञ का किंचित् विवरण दिया है। यज्ञ शब्द उच्चरित होने पर जो प्रदीप्त अग्नि में घृतनिक्षेपरूप अनर्थक, असभ्योचित कर्म के बिना अन्य कुछ नहीं जानते, उनके समीप 'विश्वजगत् यज्ञ से सृष्ट है'—'यज्ञ ही विश्वजगत् की नाभि है' इत्यादि श्रुतिवचन का मूल्य अत्यल्प है। यह शरीर सन्ताप (शरीर की गर्मी) प्राणाग्निहोत्र यज्ञ से उद्‌भूत है, क्या वैज्ञानिकों ने प्रकारान्तर से यह नहीं कहा? सन्दाह तथा पाककार्य (Combustion or Oxidation) दाहक तथा दाह्य रूप पदार्थ द्वय के संयोग के बिना निष्पन्न नहीं होता। पार्थिव तथा जलीय पदार्थ ही दाह्य अथवा अन्न है। आयुर्वेद का आडम्बरशून्य गभीरार्थक उपदेश है 'हमारा आहार पाञ्च भौतिक होना चाहिए', यह सूक्ष्मचिन्तनशील लोगों के लिए चित्तविनोदी उक्ति होगी। आहार तत्व के पूर्णभाव का अनुसंधान करने पर शरीर तथा मानस दोनों प्रकृति से सम्बन्धित समीचीन ज्ञान का प्रयोजन है। 'आहारशुद्धि से चित्त की शुद्धि होती है' श्रुति के व्याख्यान के समय भगवान् शंकर स्वामी ने (जीवात्मा के भोगार्थ जो आहृत होता है) (शब्दादि विषय विज्ञान) यह आहार का अर्थ किया है। इसीलिए हमारा कथन है कि आहार-सम्बन्ध में बहुत कुछ कहना है। जो भी हो, अब वह चिन्तन करना है कि हमारी रसना में साधारणतः दुग्धादि पदार्थ स्वादु लगता है तथा कुनाईन, चिरायता आदि द्रव्य अस्वादपूर्ण लगता है?

दुग्धादि पदार्थसमूह का जो उपादान है, हमारे शरीर का भी वही उपादान है। शरीर उपादान की क्षतिपूर्ति भी दुग्धादि उपादान से होती है। क्योंकि क्षतिपूर्ति के निमित्त पोषण तथा प्राणशक्ति की बाधाओं का हटाना ही आहार का प्रयोजन है। दुग्धादि का सेवन करने से जीवात्मा की पोषण शक्ति निरर्गलित भाव से क्रिया करती है। इसीलिए ये पदार्थ हमें प्रिय हैं। तभी ये पदार्थ हमारी रसना में स्वादु प्रतीत होते हैं। दूध का विश्लेषण करने पर जल, केसिन, आल्ब्युमिन, कठिन द्रव्य, वसा, लैक्टोज़, लवण इत्यादि द्रव्य मिलता है।[1] कुनाईन का विश्लेषण करने पर क्या वह सब पाया जाता है? कुनाईन का तिक्त स्वाद क्यों है? मधुरतिक्त आदि रस का कारण क्या है?

---

1. "केसिन (Casin), अल्ब्युमिनायड (Albuminoid) नामक पदार्थ के अन्तर्गत है। अल्ब्युमिनायड पदार्थ कार्बन, ऑक्सीजन, नाईट्रोजन, हाईड्रोजन तथा गन्धक इनका सांयौगिक होता है। पहले प्रोटायड नामक पदार्थ का उल्लेख किया गया है। इन दोनों पदार्थों का सांयौगिक उपादान समान है। विद्वान् मूल्डर (Mulder) इनका (Albuminoid का) विश्लेषण करके इसमें, हाईड्रोजन, आजोट्, ऑक्सीजन, फॉस्फोरस तथा सल्फर, इन 6 द्रव्यों को पाते हैं। केजिन इन 7 द्रव्यों का सांयौगिक है।"

कुनाईन उद्भिज् उपक्षार (Vegetable Alkaloids) है। उद्भिज उपक्षार किसको कहते हैं? कुनाईन (Quinine), मॉर्फिन (Morphine), स्ट्रिक्नीन (Strychnine), एकोनाईटीन (Aconitin), एट्रोपिन (Atropin) इत्यादि उद्भिज् उपक्षार हैं। जो सब उद्भिज् औषधि व्यवहृत होती है, उनमें एक अथवा ततोधिक सारांश वीर्य विद्यमान रहता है, इनका जो भेषजधर्म प्रकाश करे, वह वीर्य ही उसका कारण है। भगवान् आत्रेय कहते हैं कि जिसके द्वारा जो क्रिया निष्पादित होती है, उसे उस क्रिया का वीर्य कहा गया है। वीर्य के अभाव में कोई क्रिया निष्पन्न नहीं होती। अतएव सभी क्रिया वीर्यवती है।[1] उद्भिजनिष्ठ यह सारांश अथवा वीर्य रासायनिक प्रक्रिया विशेष से निष्कासित होकर भेषजरूपेण व्यवहृत होता है। रासायनिक प्रक्रिया विशेष द्वारा निष्कासित उद्भिज् का सारांश, सभी को साधारणत: एल्केलायड (Alkaloids) तथा ग्लूकोसाईड्स (Glucosides) इन श्रेणीद्वय में विभक्त किया गया है। एलकेलायड्स (Alkaloids) प्राय: ईषत् क्षारयुक्त तथा Base की तरह भिन्न-भिन्न द्रावक के साथ संयुक्त होकर भिन्न-भिन्न लवण प्रस्तुत करता है। अधिकांश एल्केलायड्स हाईड्रोजन, ऑक्सीजन, कार्बन तथा नाईट्रोजन युक्त होते हैं। उद्भिज् उपक्षारों में जो ऑक्सीजन रहित हैं, वे प्राय: तरल तथा परिप्लव (Volatile) हैं। जो ऑक्सीजन युक्त हैं, वे कठिन तथा स्थिर हैं।[2] कुनाईन सिनकोना नामक वृक्ष का उपक्षार है। इसे विश्लेष करने पर कार्बन, हाईड्रोजन, नाईट्रोजन तथा ऑक्सीजन आदि कई मूलद्रव्य पाये जाते हैं।[3] इसका तिक्तास्वाद है क्यों? इसका सन्तोषजनक उत्तर पाश्चात्य रसायनतन्त्र नहीं दे सका है। अध्यापक बर्नस्टीन कहते हैं कि रसना द्वारा स्नायु का विभिन्न रूप से उत्तेजन करने से हमें स्वादानुभूति का भेद ज्ञात होता है। परन्तु इसमें भेद क्यों है? इनका कथन है कि इसका कोई स्थिर समाचार देने में हम अपारग हैं। बहुत से स्नायु हैं, उनमें कोई मिष्ट स्वाद-संवेदन के लिए, कोई तिक्त स्वाद-संवेदन के लिए, कोई अम्ल स्वाद-संवेदन के लिए है, हम ऐसी कल्पना कर सकते हैं, किन्तु उससे क्या होगा?

---

1. "वीर्यं तु क्रियते येन या क्रिया" —चरकसंहिता
2. "What are alkaloids? Nitrogenized vegetable compounds of basic character, farming salts with acids, by directly combining with them like ammonia. How are they subdivided? According to their physical condition into volatile and fixed alkaloids; those containing no oxygen are mostly liquid and volatile, others containing it are solid and non-volatile."

   —Essentials of Medical Chemistry, L. Walff, p. 191
3. डॉक्टर जार्ज केरी कहते हैं कि कुनाईन में कुछ फेरमफास है तथा सोडियम सल्फेट भी है, यह साथ ही फेरम फॉस्फेट तथा सोडियम फॉस्फेट का भी अंश अन्दर रखता है।

   —बायोकेमिक सिस्टम ऑफ मेडिसिन, पृ० 213

विज्ञान आज तक स्वादभेद विषयक प्रश्न का प्रयोजन, सन्दर्शन तथा परीक्षा-सिद्ध समाधान नहीं कर सका है।[1] हमारी जिह्वा में कोई द्रव्य मधुर, कोई तिक्त, कोई अम्ल लगता है। द्रव्यसमूह का रासायनिक संयोग ज्ञान उसकी किसी प्रकार की मीमांसा नहीं कर सका। क्योंकि ऐसे अनेक द्रव्य देखने में आते हैं, जिनका रासायनिक संयोग पूर्णतः भिन्न है, किन्तु स्वाद समान है। शर्करा तथा एसिटेट ऑफ लेड (सीस-शर्करा), इन पदार्थ द्वय का रासायनिक संयोग भिन्न होने पर भी दोनों ही मीठे हैं। शर्करा-कार्बन, हाईड्रोजन तथा ऑक्सीजन का सांयौगिक है। सीस धातु ऑक्सीजन से मिलकर लेड मोनोऑक्साईड (Lead Monooxide or Litharge–Pbo) हो जाता है। इसे जलमिश्रित Acitic Acid में द्रव करके उत्ताप के संयोग से शुष्क करने से सीसशर्करा (Acetate of Lead) प्राप्त होती है। कुनाईन तथा सल्फेट ऑफ मैगनीशिया का रासायनिक संयोग भिन्न है, लेकिन दोनों का स्वाद तिक्त है। जिनका भिन्न रासायनिक संयोग है। उसका आस्वाद कैसे एकरूप होता है और जिनका रासायनिक उपादान एकरूप देखा जाता है, उनका आस्वाद, उनकी क्रिया तथा गुण सम्पूर्णतः कैसे पृथक् हो जाता है? विद्वान् डेभी (Davy) कहते हैं कि लोहित गोभी (Red Cabbage) तथा जलज हेमलाक् (Water Hemlock) का रासायनिक संयोग एकरूप है, किन्तु क्रिया सम्पूर्णतः पृथक् है।[2] अमोनियम सायनेट तथा यूरिया का रासायनिक घटकावयव उपादानतः तथा संख्या परिणामतः समान है, तथापि दोनों सर्वथा भिन्न जातीय पदार्थ हैं। अमोनियम सायनेट के एक अणु (Molecule) में दो नाईट्रोजन के, एक ऑक्सीजन का, एक कार्बन का, 4 हाईड्रोजन का परमाणु पाया जाता है।[3] रासायनिक संयोग विभिन्न होने पर भी द्रव्यों का आस्वाद एकरूप क्यों नहीं

---

1. "We ought first to enquire what is the cause of the differences in the sensations produced by different gustative irritations, but unfortunately no positive information can be given upon this point. We might, indeed, very well assume the existence of several kinds of nerves with different terminal organs, one producing a sweet, another a bitter and a third a sour taste. But science has not yet been able to give sufficient information."

   —दि फाइव सेन्सेस ऑफ मैन, जूलियस बर्नस्टीन, पृ० 298-299

2. "Everywhere we meet with the same chemical combinations as according to Dary, in the red cabbage and water hemlock, and yet now different are their effects on the organism."

   —Therapeutics of the Day, Dr. Withelm Stens, p. 62

3. "The molecule of ammonium cyanate is composed of two atoms of nitrogen, one atom of oxygen, one atom of carbon, and four atoms of hydrogen, and the molecule of urea is composed of the same numbers of the same atoms. How, then can the properties of the two molecules be different from one another?"

   —The Story of the Chemical Elements by Muir, p. 166

होता, उसी तरह रासायनिक उपादान समान होने पर भी सभी धर्मा अथवा गुणगत पार्थक्य होने का कारण क्या है? रसायनशास्त्र (Chemistry) आज भी किसी प्रकार का सिद्धान्त स्थिर नहीं कर सका है। शरीर विज्ञान के शरण में जाने पर क्या इसकी मीमांसा होती है? शरीर विज्ञान इसकी मीमांसा करने में समर्थ नहीं है। द्रव्यसमूह के घटकावयव उपादानतः तथा संख्यातः अथवा परिणामतः समान होने पर भी किस कारण से उनका धर्म अथवा गुणगत भेद होता है, इसके निरूपण में प्रवृत्त होकर आधुनिक सुधीगण कहते हैं कि अणु के घटकावयव में परमाणुओं के सन्निवेश के कारण जो भेद होता है, वही इसका कारण हो सकता है और क्या कारण कहा जाये?[1]

अणु (Molecule) समूह का घटकावयव सर्वथा एकरूप होने से द्रव्यसमूह का जो धर्मगत अथवा गुणगत भेद होता है, अण्ववयव परमाणु समूह का सन्निवेश तारतम्य ही उसका कारण है। विद्वान् मूर (M.M. Pattison Muir) का यह वाक्य पूर्णतः युक्तिसंगत नहीं है, किन्तु जिज्ञासा होती है कि परमाणु समूह के इस सन्निवेश तारतम्य की प्रतिपत्ति कैसे होगी? "सर्वथा समानोपादानक द्रव्यजात में गुणगत पार्थक्य की उपलब्धि होती है, परमाणु समूह का सन्निवेश तारतम्य उसका कारण है।" इस अनुमान से क्या इष्टापत्ति होगी? क्या यह अनुमान विज्ञानशरीर के किसी पुष्टिसाधन के योग्य है क्या?

एक द्रव्य अन्य एक द्रव्य से भिन्न लक्षित हो रहा है। उसका कारण क्या है? विवेकज ज्ञान अथवा विज्ञान की उत्पत्ति कैसे होती है? जो ज्ञान भवसागर से उद्धार करता है, जिस ज्ञान के लिए कोई अविषय नहीं है, जो ज्ञान सर्वविषयक है, सब विषयों का प्रकाशक है, उस तारकज्ञान का स्वरूप क्या है, उसे समझाने के लिए परम कारुणीक भगवान् पतंजलिदेव ने जो कहा है, वह तत्वजिज्ञासु लोगों के लिए अवश्य श्रोतव्य है, अवश्य मन्तव्य है। भगवान् पतंजलिदेव के अमूल्य उपदेशों का यथायथ भाव से परिग्रह होने पर ज्ञानविषयक सर्वप्रकार का संशय छिन्न होगा। विज्ञान का प्रकृतरूप प्रतिभात होगा। योग ही संसारतारक, सर्वप्रकार कल्याण विधायक ज्ञान की एकमात्र प्रसूति है, यह प्रतिपन्न होगा। भगवान् पतंजलिदेव कहते हैं कि क्षण तथा उसका क्रम, सूक्ष्मतम कालावयव है तथा उसका अविच्छिन्न पौर्वापर्य प्रवाह है। इनमें (क्षण तथा उसके क्रम में) संयम करने से विवेकज्ञान आविर्भूत होता है। क्षण कौन पदार्थ है? घटादि द्रव्यसमूह का विभाग करते-करते जब और विभाग सम्भव नहीं होता, तब घटादि द्रव्यसमूह के उसी परमात्प्रकर्ष अथवा अविभाज्य अंश को जिस प्रकार परमाणु नाम से अभिहित किया गया है, उसी प्रकार काल के परमात्प्रकर्ष अथवा अविभाज्य अंश को क्षण कहते हैं।

परमाणु में क्रिया होने पर जब वह पूर्वदेश का परित्याग करके उत्तर देश में जाता है, उस काल परिणाम को क्षण कहते हैं, इस क्षण धारा के अविच्छेद को क्रम

1. "What can that circumstances be except the arrangement the atoms that compose the molecule? —The Story of the Chemical Elements by Muir, p. 166

कहते हैं। पतंजलिदेव कहते हैं कि जाति लक्षण (वस्तुसमूह का असाधारण, इतरव्यावर्त्तक धर्म) तथा देश, इनके द्वारा ही वस्तु का पार्थक्य (Difference) प्रदर्शित होता है। जहाँ दो पदार्थ देशतः तथा लक्षणतः तुल्यरूपेण प्रतीयमान होते हैं, वहाँ जाति ही उनकी भेद प्रतीति का कारण हो जाती है। जहाँ जाति, देश तथा लक्षण इन तीनों में से कोई भी भेद प्रतीति का कारण नहीं होता, वहाँ यथोक्त विवेकज ज्ञान ही भेद प्रतीति का एकमात्र उपाय है। क्षण, देश तथा परमाणु—इन त्रितय के वैशिष्ट्य में संयम करके इनके सम्बन्ध का निर्णय करके योगी विवेकज्ञान प्राप्त करता है।[1]

क्षण-देश तथा परमाणु के त्रितय के मिलन में एक विशेष धर्म का जन्म होता है। संयम द्वारा उसका साक्षात्कार होने पर अनायास परमाणुद्वय का भेद विदित होता है। दो पार्थिव अणु की पृथिवीत्व जाति, गन्ध प्रभृति लक्षण तथा देश एक होने पर भी, पूर्व परमाणु की जिस क्षण में जिस देश में स्थिति होती है, उत्तर परमाणु की ठीक उसी क्षण में उसी देश में स्थिति नहीं होती। क्योंकि एक देश में, एक ही क्षण में दो परमाणु नहीं रह सकते। देशादिनिमित्तक भेद साधारण लोगों को बुद्धिगम्य होता है, किन्तु क्षणवृत्तिता से प्रयुक्त जो वस्तुसमूह का भेद होता है, वह साधारण लोगों को बुद्धिगोचर नहीं होता। पतंजलिदेव जाति, लक्षण, देश, काल को भेद प्रतीति का कारण कहते हैं। पण्डित जेवन्स कहते हैं, प्रत्येक बिन्दु को जो प्रत्येक बिन्दु से पृथक् अवधारित किया जाता है, उसका कारण है आकाश अथवा दिग्धर्म। एक क्षण को जो अन्य एक क्षण से अलग निरूपित किया जाता है (अर्थात् किसी को पूर्व क्षण तो किसी को उत्तर क्षण कहते हैं) काल अर्थात् क्रियाकर्म ही उसका हेतु है।

प्रमुख दार्शनिक विद्वान् इसी कारण इस मत के मानने वाले थे कि संख्या (Number) काल तथा क्रियाकर्म से जन्म-लाभ करती है। दैशिक तथा कालिक परिच्छेद ही संख्यात गणित होता है। यद्यपि देश तथा कालकृत् परिच्छेद ही संख्यात होता है, तथापि यही इसकी भेद प्रतीति का कारण नहीं है। द्रव्यसमूह का गुरुत्व, जड़त्व, काठिन्य प्रभृति धर्मभेद के कारण भी उनका पार्थक्य विवेचित होता है।[2] यह विचार करने पर कि गुरुत्वादि धर्मभेद का क्या कारण है, सत्वादि गुणत्रय का भागवैषम्य ही गुरुत्वादि धर्म भेद का कारण प्रतिपन्न हो जाता है। प्रसिद्ध रासायनिक विद्वान् क्रुक्स अनुमान करते हैं कि एकजातीय मूल तथा प्राथमिक पदार्थ से हाईड्रोजन, ऑक्सीजन, प्रभृति रसायनशास्त्रधृत भूतसमूह की क्रमशः अभिव्यक्ति होती है। हाईड्रोजन उक्त प्राथमिक पदार्थ का प्रथम प्रसव है। विद्वान् क्रुक्स हाईड्रोजन प्रभृति

---

1. "क्षणत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्"—पातंजल दर्शन, विभूतिपाद, सूत्र 52
"जातिलक्षणदेशैरन्यतोऽनवच्छेदात्तुल्ययो स्ततः प्रतिपत्तिः।" वही, सूत्र 53
2. "एतेन दृष्टान्तेन परमाणोस्तुल्यजातिलक्षणदेशस्य पूर्वपरमाणुदेशसहक्षण साक्षात् करणात् उत्तरस्यपरमाणोस्तद्देशा अनुपपत्तौ उत्तरस्य तद्देशानुभवो भिन्न सहक्षणभेदात् तयोरीश्वरस्य योगिनोऽन्यत्व प्रत्ययोववतीति"—योगसूत्रभाष्य

भौतिक पदार्थ जात के कारण को प्रोटोईल (Protoyle) कहते हैं। हाईड्रोजनादि भौतिक पदार्थसमूहों में जो भौतिक पदार्थ है, उससे जितना अधिक काल विलम्ब अभिव्यक्त होता है, उस भौतिक पदार्थ की उससे गुणगत वैषम्य की मात्रा उतनी ही अधिक होती है। भौतिक पदार्थसमूह के अभिव्यक्ति काल की मात्रा के अनुसार उनका गुणगत भेद होता है।[1]

भूताकाश से काल तथा अदृष्टरूप निमित्तक कारण संयोग से वायव्यादि भूत चतुष्टय की उत्पत्ति होती है।[2] भूताकाश से काल तथा अदृष्टरूप निमित्तकारण संयोग से इनकी उत्पत्ति कही गयी है।[3] इस शास्त्रीय उपदेश से विद्वान् क्रुक्स के उक्त वाक्य का सादृश्य विचारणीय है। ''भौतिक पदार्थों की अभिव्यक्ति के काल में उनमें मात्रानुसार गुणगत भेद होते हैं''। इस वाक्य का क्या आशय है ? पतंजलिदेव कहते हैं कि परिणाम की भिन्नता में परिणाम क्रम की भिन्नता ही कारण है। एक ही वस्तु प्रतिक्षण में परिवर्तित होकर विविध आकार तथा आख्या को प्राप्त हो जाती है।[4] क्रम की भिन्नता ही परिणाम-भिन्नता का कारण है। क्रम काल का धर्म है, अतएव भूतसमूह की अभिव्यक्ति के काल में उनमें मात्रानुसार जो गुणगत भेद होता है, इसमें सन्देह नहीं है। रूस के प्रसिद्ध रासायनिक पण्डित मेन्डलीफ (Mendeleef) कहते हैं कि भूतसमूह के पारमाणविक गुरुत्व की अनुकालिक क्रिया ही उनका गुण अथवा धर्म है। (Properties)[5] विद्वान् मेन्डलीफ पारमाणविक गुरुत्व तथा काल, इन दोनों को ही भौतिक तथा रासायनिक सर्व प्रकार के गुण अथवा धर्म के कारणरूप में अवधारित

---

1. पण्डित जेवन्स कहते हैं—"It is property of space that every point is discriminable from every other point and in time every moment is necessarily distinct from any other moment before or after ...... but it is by no means the only foundation ...... In many cases neither time nor space is the ground of difference, but pure quality alone enters."
—The Principle of Science by W.S. Javense, p. 157, मेरे ग्रन्थ 'भूत तथा शक्ति' को भी देखें।
2. "Mr. Crooks has named the primordial stuff from which the elements have been formed protyle (derived from the Greek 'Pro' earlier than, and 'hyle', matter or stuff, hence protyle means stuff existing earlier than the elements).
"The longer the interval between the formation of the different elements, the more distinctive their properties"—Popular Readings in Science by Gall and Robertson, p. 175
3. ''आकाशस्थवाय्वादिजनेन कालादृष्टादेरपेक्षितत्वात्''—ब्रह्मविद्याभरणम्
4. ''क्रमाण्यत्वं परिणामान्यत्वेहेतुः''—पातंजलदर्शन, विभूतिपाद सूत्र 15
5. "...This periodic recurrence of the same properties with the gradual increase of the atomic weight has been formulated by Mandleef thus. The properties of elements are a periodic function of their automic weights." —Inorganic Chemistry, Frankland and Japp. p. 75

करते हैं। इन कारणद्वय के भेद से ही द्रव्यों में गुणगत भेद होता है। यह विद्वान् मेन्डलीफ का सिद्धान्त है। भेदवृत्तिक रजोगुण तथा संसर्ग वृत्तिक तमः ही गुरुत्व का कारण है। अतएव आशा है कि सत्वादिगुणत्रय का भागभेद ही द्रव्यों के गुण अथवा धर्मगत भेद का कारण है। विद्वान् मेन्डलीफ ने इस शास्त्रीय उपदेश को शिरोधार्य किया है। अब यह देखना है कि रसभेद के सम्बन्ध में आयुर्वेद ने क्या उपदेश दिया है।

भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं कि आकाश-वायु-अग्नि-जल तथा पृथ्वी इन पंचभूतों में यथासंख्य शब्द-स्पर्श-रूप-रस तथा गन्ध, एकोत्तर परिवृद्ध यह गुणसमूह विद्यमान है। एकोत्तर परिवृद्ध शब्द का अर्थ है आकाशादि भूतपंचक में उत्तरोत्तरभूत एक-एक करके गुण की वृद्धि होती है। आकाश में शब्द मात्र एक गुण है। वायु में शब्द तथा स्पर्श दो गुण हैं, तेज में शब्द-स्पर्श-रूप ये तीन गुण हैं। जल में शब्द-स्पर्श-रूप-रस, ये चार गुण हैं। पृथ्वी में शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध पाँच गुण हैं (यही है एकोत्तर परिवृद्ध)। पूर्व के भूत के गुण आगे वाले (उत्तर) भूत में अनुप्रवेश करते हैं और उत्तरोत्तर भूत की संख्या एक-एक करके बढ़ती जाती है। रस जल का विशेष गुण है। भगवान् धन्वन्तरि इसीलिए कहते हैं कि रस-आप्य, जल सम्भव है। आकाशादि भूतसमूह एक-दूसरे के साथ संयुक्त होते हैं। एक-दूसरे का उपकार करते हैं, परस्परतः अनुप्रवेश करके एकात्मीभूत हो अवस्थित हो जाते हैं। इसलिए यह मानना ही होगा कि सर्वभूत का सर्वभूत से सान्निध्य है। इसीलिए प्रत्येक भूत में प्रत्येक भूत का गुण आ जाता है। यद्यपि सर्वभूत में सर्वभूत का गुण उपलब्ध होता है, तथापि जिस द्रव्य में जिस भूत का अंश अधिक है, उस द्रव्य में उस भूत का गुण अधिक अनुभूत होता है। आकाशाधिक द्रव्य में शब्दगुण का आधिक्य है। वायु के आधिक्य वाले द्रव्य में स्पर्शगुण प्रधानतः अनुभूत होता है। ऐसा ही अन्य भूतों में होता है। सभी भूत सर्वात्मक हैं, तथापि भूतसमूह में भाग के उत्कर्षापकर्षानुसार उनका नाम निर्देशित किया जाता है। आप्य अथवा जल सम्भवरस शेष भूतों के संसर्ग के कारण, काल के सहाय्य से, भूमि आदि भूतसमूह के मिलन के कारण परिपाकान्तरगत होकर मधुर-अम्ल-लवण-कटुक-तिक्त तथा कषाय—इन षड्विध आकार से प्राप्त होता है।

मधुरादि छः प्रकार का रस पुनः परस्पर रससंसर्ग हेतु 63 हो जाता है। पृथ्वी तथा जलगुण के बाहुल्य से मधुर रस की, पृथ्वी तथा अग्नि की बहुलता से अम्लरस की, जल तथा अग्नि का बाहुल्य होने से लवण रस की, वायु तथा अग्निगुण बहुलता से तिक्तरस की तथा पृथ्वी एवं अनिलगुण बहुलता से कषायरस की अभिव्यक्ति होती है।[1] मधुर आदि षड्रस में मधुर-अम्ल-लवण ये वातघ्न हैं। मधुर-तिक्त-कषाय ये

1. "स खल्वाप्योरस शेषभूतसंसर्गाद्विदग्धः षोढा विभज्यते। तद्यथा। मधुरोऽम्लोलवणः कटुकस्तिक्तः कषाय इति, ते च भूयः परस्परसंसर्गात्रिषष्ठिधा भिद्यन्ते। तत्र भूम्यम्बुगुण-बाहुल्यान्मधुरः। भूमाग्निगुणबाहुल्यात् अम्लः। तोयाग्निगुणबाहुल्याल्लवणः वाय्वग्निगुण-बाहुल्यात् कटुकः। वाय्वाकाश गुणबाहुल्यात्तिक्तः। पृथिव्यनिल गुणबाहुल्यात् कषाय इति।..."
—सुश्रुत संहिता, सूत्र स्थान, अध्याय 142

पित्तघ्न हैं। कटु-तिक्त-कषाय—ये कफघ्न हैं। किसी के मत से जब जगत् अग्निषोमीय है, तब रस को सौम्य तथा आग्नेय, इन दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। मधुर-तिक्त तथा कषाय, ये सौम्यरस हैं। तिक्त, अम्ल, लवण आग्नेय हैं। मधुर-अम्ल-लवण ये स्निग्ध हैं और गुरु हैं। कटु-तिक्त तथा कषाय रुक्ष हैं। जो सौम्य है वह शीतवीर्य है। जो आग्नेय है, वह ऊष्णवीर्य है।

भगवान् आत्रेय पुनर्वसु ऐसा ही कहते हैं। चरक संहिता के सूत्र स्थान में आत्रेय-भद्रकाप्यीय नामक अध्याय में रसपदार्थ का तत्व विस्तारपूर्वक विवृत है। चरकसंहिता के इस अध्याय का सद्गुरु की कृपा से तथा सहायता से मनोनिवेश पूर्वक शास्त्रोपदेश के मर्मग्रहण की बलवती प्रवृत्ति लेकर अध्ययन करने से यह ज्ञात होगा कि चरकसंहिता विज्ञानरत्न की खान है। ज्ञानपिपासु की ज्ञानपिपासा की निवृत्ति करनेवाली है। इसमें ज्ञानपिपासा शान्त करने के लिए सुशीतल विज्ञान जल विद्यमान है। इससे आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक त्रिविध दुःखनिवारण की प्रकृत भेषज भी है। फलतः यह आर्त का रक्षक, स्वस्थ का बन्धु, योगी का आराध्य, ज्ञानपिपासु का जीवन है। इसमें उपदेश देने की जो रीति है, वह सुकुमार मति बालक के चित्त को आकर्षक करती है। चिन्तनशील युवक-वृद्ध के चित्त को आप्यायित करती है। भगवान् आत्रेय पुनर्वसु रसपदार्थ के स्वरूपनिरूपण में प्रवृत्त होकर रससंख्या सम्बन्ध में जितने मत हैं, या हो सकते हैं, उनका प्रकाशन करके तब अपने मत का उपदेश देते हैं। इसमें तत्व विचार प्रणाली मनोरम है, इसमें किंवदन्ती है कि जिस लेखनी से योगसूत्र बहिंगत है, जिस लेखनी ने पाणिनि के महाभाष्य का प्रसव किया है, चरकसंहिता का जन्म भी उसी लेखनी से हुआ है। अनन्तावतार भगवान् पतंजलिदेव ही चरकसंहिता के जन्मदाता हैं। उपदेश देने की पद्धति देखने से, तत्वविचार की रीति का निरीक्षण करने से प्रतीत होता है कि ये समुज्वल स्थिर ज्ञानक्षत्रत्रय भगवान् पतंजलिदेव के चरणप्रसूत हैं। ऐसा विश्वास है। जब तक कायमल-वाणी का मल तथा मन का मल हट नहीं जाता, तब तक जीव कृतकृत्य नहीं हो सकता। अपने पद में प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। भगवान् के चिरशान्ति निकेतन की प्राप्ति के लिए, इन तीनों मलों से मुक्ति के लिए (कायमल मुक्ति हेतु चरकसंहिता, वांगमल मुक्ति हेतु महाभाष्य तथा मनोमल के शोधनार्थ योगसूत्र का) इन तीन ग्रन्थों की शरण लेनी चाहिए।

रस का विनिश्चय किये बिना आहार-विनिश्चय नहीं होता। रसविनिश्चय के बिना भेषज व्यवस्था नहीं हो सकती। अतएव रसविनिश्चय कर्त्तव्य होना चाहिए। महर्षि भद्राकाप्य कहते हैं रस एक प्रकार का है। यह शब्द स्पर्शादि इन्द्रियसमूह के अन्त्यतम जिह्वाग्राह्य भावविशेष हैं। रस जल से अनन्य है, अभिन्न है। ब्राह्मण शाकुन्त के मत से रस छेदनीय है। अपतपर्णकारक-संशोधन तथा उपशमनीय है। बृंहणभेद से द्विविध है। मौदगल्य के मत से रस छेदनीय, उपशमनीय, साधारण भेद से त्रिविध है।

हिरण्याक्ष कौशिक कहते हैं कि स्वादु-अभीष्ट तथा हितकर। स्वादु-किन्तु अहितकर। अस्वादु किन्तु हितकर तथा अस्वादु तथा अहितकर इस प्रकार से रस चतुर्विध है। कुमारशिरा भारद्वाज का मत है कि रस भौम, ओदक, आग्नेय तथा वायव्य एवं अन्तरिक्षभेद से पंचविध है। राजर्षि वार्यविद् कहते हैं गुरु, हल्का, शीत, उष्ण तथा स्निग्ध और रुक्ष भेद से रस छः प्रकार का है। वैदेहनिमि के मत से मधुर, अम्ल, लवण, कटुक, तिक्त, कषाय, क्षार तथा अव्यक्त भेद से रस अष्टविध है। काङ्कायन वाल्हीक कहते हैं आश्रय, द्रव्य, गुण, (स्निग्ध गुरु प्रभृति) कर्म (धातुवर्द्धन क्षपणादि), संस्वाद (रससमूह का अवान्तर भेद प्रत्येक रस का)[1], ये सब भेद जब अपरिसंख्येय हैं, तब रस भी हमारे मत से अपरिसंख्येय है।

भगवान् आत्रेय पुनर्वसु के मत से रस मधुर, अम्ल, लवण, कटुक, तिक्त तथा कषायभेद से षड्विध है। इससे अतिरिक्त अथवा न्यून नहीं है। इन षड्रस की जल ही योनि है। वही आधार कारण है। भद्रकाप्य ने रस को जल से अभिन्न कहा है, किन्तु भगवान् आत्रेय पुनर्वसु के मत से जल रस की योनि अथवा कारण है। यह जल से भिन्न पदार्थ है। भगवान् आत्रेय ने कारण से कार्य भिन्न होने के नियमानुसार रस को जल से भिन्न कहा है। शाकुन्तेय ने रस को छेदनीय तथा उपशमनीय भेद से दो भागों में विभक्त किया है। किन्तु भगवान् आत्रेय पुनर्वसु कहते हैं कि छेदन तथा उपशमन इसका दो रसकर्म है। वह रसपदार्थ नहीं है। मौदगल्य रस को छेदनीय, उपशमनीय तथा साधारण, इन तीन भागों में विभक्त करते हैं। भगवान् आत्रेय कहते हैं कि साधारणत्व, छेदन तथा उपशमन यह दोनों रस कर्म के मिश्रित भाव से हुआ है। चक्रपाणि का मत है कि अमूर्त्त कर्म का मिश्रित भाव कैसे होगा? इसलिए छेदन तथा उपशमन के आधार द्रव्यद्वय के मिश्रित भाव से रस के साधारण कार्ययोगित्व की अभिव्यक्ति हो रही है। स्वादुता-अस्वादुता भक्ति अथवा इच्छाधीन है। जो जैसी इच्छा करते हैं, जिनकी प्रकृति में जो स्वाद है, उसके समीप वह स्वादुरूपेण अनुभूत होता है। जो इतर पदार्थ है अर्थात् जो जिसको नहीं चाहते, उसकी प्रकृति में वह संवादी नहीं होता। वह उसके निकट अस्वादुरूपेण उपलब्ध होता है।

इसलिए स्वादुता तथा अस्वादुता पुरुषापेक्ष धर्म है, रसभेदकार्य नहीं है। हितकारित्व तथा अहितकारित्व रस के द्विविध प्रभाव हैं। रस की द्विविध विशिष्ट शक्ति हैं। ये रस नहीं हैं। यद्यपि भूमादि विकारसमूह रस का आश्रय भले ही हो, किन्तु

1. "द्रव्यभेद के कारण आधार भेदवशात् आश्रित रस का भेद होता है। आश्रय-कारण। कारण के भेद से कार्य का भेद अवश्यम्भावी है। गुरुत्वादि गुण भेद, छेदनादि कर्म भेद रसकृत है। रसकारणक है। कार्य का भेद देखकर कारण के भेद का अनुमान हो जाता है। अतएव रसभेद बहु: है। पूर्वपक्ष का यही अभिप्राय है। यद्यपि एक मधुररस जाति के इक्षु गुड़ादिगत भेद अवश्य परिदृश्य होते हैं, तथापि यह संवादभेद स्वसंवेद्य हैं। इक्षु क्षीर गुड़ इत्यादि का माधुर्यगत जो विस्तृत भेद है, वह सत्य है, तथापि इस भेद का मात्रानिरूपण, स्वरूप-वर्णन कर सकना असम्भव है। सरस्वती भी वर्णन नहीं कर सकती।"

यह प्रकृति, विकृति, विचार (द्रव्यान्तर संयोग), देश तथा कालाधीन है। मुद्ग कषाय तथा मधुररस युक्त, विशिष्ट है। (मुद्ग = मूँग की दाल)। जो कषाय तथा मधुररस विशिष्ट होता है, वह गुरु है। कषाय तथा मधुररस युक्त होने के कारण भी मूँग में जो 'ऋ' है (हल्कापन है), प्रकृति ही उसका कारण है। मुद्ग (मूँग) का ऋता रसाधीन नहीं है। मूँग प्रकृति वश के कारण स्वभावत: हल्की हो गयी है। विकृति के कारण भी द्रव्य क्रिया करते हैं। लावा तथा अन्न (भात) दोनों ही धान से बनते हैं। धान के विकार हैं। किन्तु दोनों के गुण एक प्रकार के नहीं हैं। लावा हल्का है, अन्न गुरु है। मधु तथा घृत, दोनों में विष नहीं है। परन्तु दोनों समान मात्रा में मिला देने पर विषक्रिया करते हैं। पक्षान्तर से विष भी (अंगद) औषध युक्त होने पर विष कार्य न करके अन्य रूप कार्य करने लगता है। इस प्रकार से देश तथा काल की भिन्नता से द्रव की क्रिया में भिन्नता आ जाती है।

राजर्षि वार्यविद् रस को गुरु, ऋ (हल्का), शीत, उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष, इन छ: भागों में विभक्त कर देते हैं। भगवान् आत्रेय कहते हैं कि रस को इन छ: भागों में विभक्त करना उचित नहीं है। क्योंकि ये रस के द्रव्य नामक आश्रय के गुण हैं। भगवान् आत्रेय ने क्षार को रस में नहीं माना है। इसके लिए उन्होंने अनेक युक्ति का प्रदर्शन किया है। क्षरण कार्य का हेतु होने से इसे क्षार कहा जाता है। क्षार नाना रसों से उत्पन्न होता है। अतएव यह अनेक रसयुक्त है। जो रसनेन्द्रिय का विषय है, उसे रस कहते हैं। क्षर अनेक इन्द्रियार्थ समन्वित है, अत: वह द्रव्य है, रस नहीं है। क्षार को भस्मस्राव से प्रस्तुत किया जाता है। रस को ऐसे प्रस्तुत नहीं किया जाता। भगवान् आत्रेय कहते हैं कि अव्यक्त संज्ञक स्वतन्त्र रस नहीं है। यद्यपि बड़िश अव्यक्त नामक एक पृथक् रस को स्वीकार करते हैं। भगवान् आत्रेय कहते हैं कि मधुरादि रस की प्रकृति जल है। अनुरस में, किंवा अनुरससम्बन्धित द्रव्य में अव्यक्तीभाव है, अव्यक्त शब्द का अर्थ है अस्फुट। अनुद्भूत। सूक्ष्मावस्था में अवस्थित Indefinite। चक्रपाणि कहते हैं—मधुरादि विशेषशून्या, रससामान्यमात्रोपलब्धि का नाम है रस का अव्यक्तत्व। रसयोनि जल में रस की यह अव्यक्तता उपलब्ध होती है। जल में मधुरादि किसी भी रस का व्यक्तभाव अनुभूत नहीं होता। किसी द्रव्य के आस्वादन से यदि मधुरादि रसविशेष की उपलब्धि नहीं होती, तब लोग यह कहते कि जल पी रहा हूँ। (अर्थात् जो द्रव्य पी रहे हैं उसमें कोई रस नहीं)। जल में जो रस है, वह मधुरादियुक्त नहीं है। अनुरस किसे कहते हैं? व्यक्तरस को प्रधान रस कहते हैं। व्यक्तरस के अनुगत, अप्रधान अथवा अव्यक्तभावेन विद्यमान रस को अनुरस कहते हैं।

न्यायवैशेषिक के मतानुसार रस रसनेन्द्रिय ग्राह्य है। इसमें पृथ्वी तथा जलवृत्ति है। पृथिवी तथा जल विद्यमान हैं। इसमें जीवन (प्राणधारण) पुष्टि (अवयवों की वृद्धि, उपचय) बल, कर्मनिष्पादन शक्ति (Energy) तथा आरोग्य ये गुण विशेष हैं। यह रसन सहकारी है, अर्थात् बाह्य रसोपलब्धि का सहकारी है। न्यायवैशेषिक ने

जल को मधुररस कहा है। जल में गुड़ादिवत् मधुररसानुभूति क्यों नहीं होती? इसके उत्तर में न्यायवैशेषिक को मानने वालों का कथन है कि जल को पीने से सर्वप्रथम एक प्रकार के रस की उपलब्धि होती है। जल का आस्वाद कटु, कषाय, तिक्त तथा अम्ल से विलक्षण है, यह भी निश्चित है। इसलिए अनुमान होता है कि जल मधुररस है, तब भी गुड़ आदि की तरह इसमें स्पष्टतः मधुर रस की उपलब्धि नहीं होती। क्योंकि इसमें माधुर्य के अतिशय का अभाव है।[1] सिद्धान्त मुक्तावली में मधुर रसवत्व प्रतिपादनार्थ जो कहा गया है, उसके उल्लेख का यहाँ कोई प्रयोजन प्रतीत नहीं होता।

"आश्रय-गुण-कर्म-संस्वाद इनके अपरिसंख्येय भेदों के कारण रस भी अपरिसंख्येय है।" काङ्कायन ऋषि के इस मत के खण्डनार्थ भगवान् आत्रेय कहते हैं कि आश्रयादि के अपरिसंख्येयत्व के लिए रस अपरिसंख्येय क्यों होगा? आश्रयादि के भेद से असंख्य (अपरिसंख्येय) होकर भी मधुरादि षड्रस में से कोई न कोई उसका आश्रय करके रहेगा। आश्रयादि के भेद के कारण आश्रित मधुरादि रस का भेद होने का कारण क्या है? शालि (एक प्रकार का धान), मुद्ग (मूँग), घृत, क्षीर ये मधुर रसाश्रय हैं। मधुर रस के आश्रय होने पर भी ये सब अलग-अलग पदार्थ हैं। तब भी उनमें मधुरत्वजात्यक्रान्त एक ही रस प्राप्त होता है। बलाका-दुग्ध-कपास, ये परस्पर भिन्न पदार्थ हैं, तथापि उनके शुक्लवर्णत्व में भेद प्रतीति जैसे नहीं होती, उसी प्रकार मधुरादि रस के आश्रयभेद के कारण उनमें भेद अथवा अन्वत्व उपपन्न नहीं होता। इसी प्रकार से गुरु-पिच्छिल, स्निग्धादि गुणसमूह में। अथवा रसादिवर्धन, आयुर्जनन, वर्णकरण प्रभृति कर्मों की भिन्नता के कारण मधुर रस का अन्यत्व सिद्ध नहीं होता। एक मधुररस ही तत् गुणयुक्त तथा तत्कर्मकारी होता है। यह स्वीकार करने पर क्या दोष है? मधुरादि रस में से प्रत्येक में अवान्तरभेद रहने पर भी वे मधुरत्व, अम्लत्व, लवणत्व आदि जाति (सामान्य) से अलग नहीं हैं। इसमें क्या संशय? मधुरादि षड्रस के आश्रयादि भेद के कारण अपरिसंख्येयत्व सिद्ध नहीं होता, किन्तु इनके परस्परतः संयोग के कारण आस्वाद में विशेषता आ जाती है। ये अब भिन्न-भिन्न रूप कर्म करते हैं। मधुराम्ल (संयुक्त) द्वारा जो कर्म निष्पादित होता है, मधुर तथा अम्ल द्वारा (अलग-अलग) से वह कर्म निष्पादित नहीं होता। इसीलिए सभी रसों का अपरिसंख्येयत्व क्यों सिद्ध नहीं होगा? इतरेतर संसर्ग के कारण सभी रस असंख्येय हैं, ऐसा क्यों न कहें? भगवान् आत्रेय उत्तर देते हैं कि मधुरादि षड्रस के परस्पर संयोग से असंख्य प्रभेद होने पर भी इनका गुण गुरुत्व-हल्कापन अथवा प्रकृति (आयुष्यत्व, रसादिवर्द्धनत्व) असंख्येय नहीं होती। मधुरादि षड्रस में से प्रत्येक में जो-जो गुण है तथा जो-जो प्रकृति उद्दिष्ट है, उनमें उन-उन गुण तथा प्रकृति का अथवा मधुरादि

1. "रसो रसनग्राह्यः। पृथिव्युदकवृत्तिः जीवनपुष्टिबलारोग्य निमित्तम् रसनसहकारी मधुराम्ल-लवणतिक्तकटुकषाय भेदभिन्नः।" —प्रशस्तपादाचार्य

षड्गुणस्वरूप का अथवा मधुरादि षड्रस के गुणकर्म का, सम्मिश्रण हो जाता है। मधुरादि रससमूह के अवान्तर आस्वादविशेष परस्पर संसर्गकृत हैं, यह जानना होगा। संसृष्ट रस असंख्येय हैं, अतः बुद्धिमान लोग संसृष्ट रस का कर्मोपदेश नहीं करते।

द्रव्यप्रभाव, देशप्रभाव तथा कालप्रभाव से रस 63 प्रकार के हैं। द्रव्यप्रभाव आदि का स्वरूप क्या है? चरकसंहिता के टीकाकार चक्रपाणि कहते हैं कि सोमगुण के आधिक्य के कारण द्रव्यसमूह मधुर हो जाते हैं, यह है द्रव्यप्रभाव निमित्तक! हिमप्रधान देशों में उत्पन्न द्राक्षा—अनार आदि मधुर होते हैं, अन्य देशों में उत्पन्न द्राक्षा अनार आदि में अम्लादि का प्रभाव हो जाता है। यह है देशप्रभाव हेतुक। कच्चे आम्र (बालाम्र) में कषायरस है। तरुण आम्र में अम्लरस है। पके आम में मधुररस है। इसका कारण है काल प्रभाव। इसी प्रकार हेमन्त में सभी औषधि मधुर होती हैं। वर्षा में अम्लरस हो जाती हैं। इसका कारण है कालप्रभाव द्रव्य। देश तथा काल—ये विशेष हेतु हैं। इसे पहले कहा गया है। जल वायु से पृथक् है। जल जो द्रव्य है—वह वायु नहीं है। जल का उपादान तथा वायु का उपादान (घटकावयव) भिन्न है। उपादान एक जैसा होने पर भी, सभी द्रव्य धर्मतः अथवा गुणतः भिन्न होते हैं, उसका कारण है दैशिक तथा कालिक भेद। द्रव्य, देश तथा काल का निविष्ट भाव से चिन्तन करने पर यह प्रतीति होगी कि ये सत्वादि गुणत्रय के अतिरिक्त पदार्थ नहीं हैं। सांख्यदर्शन देशकाल, द्रव्य इत्यादि अखिल प्राकृत पदार्थ को ही त्रिगुण परिणाम कहता है। इसके पश्चात् चरकसंहिता ने रस के 63 कल्प अथवा भेद के सम्बन्ध में जो कहा है, उसे सुनाया जायेगा। केवल चरकसंहिता ही क्यों, रस के स्थूलतः 63 कल्प आयुर्वेद की अन्य संहिता में भी मान्य हैं। सुश्रुत का वचन तो पहले उद्धृत किया जा चुका है। पहले ही कहा जा चुका है।[1]

रस के 63 भावों में 57 यौगिक हैं। 6 प्रधान अथवा मूलरस हैं। जो अंकपाश (Permutations and Combinations) नामक गणित प्रक्रिया को जानते हैं, वे अनायास ही समझ सकते हैं कि आयुर्वेद ने अंकपाशाख्य गणित प्रक्रिया के अनुसार ही रसभेद का निरूपण किया है। अंकपाश गणित प्रक्रिया का रूप क्या है? यह किस नियम पर प्रतिष्ठित है? विज्ञान में इसका किस प्रकार से व्यवहार होता है?

अंकसमूह का पाश के समान पाश=अंकपाश। अंकसमूह इतरेतर स्थान निवेश से उत्पन्न भेद रज्जु (रस्सी) के पाश के समान प्रतीत होता है। इसलिए इसे अंकपाश कहा गया है। इसे इंगलिश में Permutations and Combinations कहते हैं। भास्कराचार्य इस गणित को व्यक्त अथवा पाटीगणित के अन्तभूत करते हैं। पाश्चात्य गणितशास्त्र (Mathematics) इसे अव्यक्त अथवा बीजगणित के अन्तर्भूत करता

1. "भेदश्चेषां त्रिषष्ठिविधविकल्पोद्रव्यदेशकाल प्रभावाद् भवति तमुपदेक्ष्यामः"—चरकसंहिता तथा वाग्भट मुनि कहते हैं—

"संयोगाः सप्तपञ्चाशं कम्पनात्तु त्रिषष्ठिनः।
रसानां यौगिकत्वेन यथास्थूलं विभज्यते:॥" —अष्टांगहृदयसंहिता, सूत्र स्थान

है। भास्कराचार्य अव्यक्त अथवा बीजगणित को व्यक्त पाटीगणित का कारण कहते हैं।[1] व्यक्तगणित (Arithmetic) वर्णकल्पना निरपेक्ष गणित है। जिस शास्त्र में वर्णमाला के अक्षरों को संख्यास्वरूप मानकर राशि विषयक सिद्धान्त युक्ति के द्वारा संस्थापित होता है, वह बीजगणित है। व्यक्तगणित में विशेष स्थल को लेकर संख्या तथा परिणामसंक्रान्त जो सिद्धान्त स्थिर होते हैं, बीजगणित में उन सिद्धान्तों की सामान्यतया यौक्तिकता प्रदर्शित होती है। विख्यात विद्वान् सर आईजक न्यूटन पाटीगणित (Arithmetic) को बीजगणित के पूर्वाभाव रूपेण अवधारित करते हैं। इसीलिए उन्होंने बीजगणित (Algebra) को सार्वलौकिक सार्वत्रिक पाटीगणित (Universal Arithmetic) कहा है। प्रसिद्ध गणितज्ञ सर हैमिल्टन ने इसे विशुद्ध कालविज्ञान (Science of Pure Time) कहा है। डी० मार्गन् नामक विद्वान् बीजगणित को क्रमसंख्यानशास्त्र (Calculus of Succession) की संज्ञा प्रदान करते हैं। क्रमसंख्यान तथा कालविज्ञान, ये समानार्थक हैं। डी० मार्गन् ने बीजगणित की व्याख्या हैमिल्टन द्वारा रक्षित नाम के शब्दान्त द्वारा की है।

गणित तो ज्योतिष में भी अन्तर्भूत है अथवा गणित तथा ज्योतिष एक पदार्थ है। सुभूति कहते हैं कि ज्योतिष गणितशास्त्र है। कालज्ञान ही ज्योतिष का प्रतिपाद्य विषय है। लगध कहते हैं कि यज्ञ के लिए वेद अभिप्रवृत्त हुए हैं। यथाकाल अनुष्ठित हों, कालज्ञान का यह विशेष प्रयोजन है। ज्योतिष कालविधान शास्त्र है। जो ज्योतिष्ञ अथवा कालविधान शास्त्रज्ञ हैं, वे ही यज्ञतत्ववेत्ता हैं।[2] शास्त्र के अनुसार ज्योतिष वेदांग है। वेद का नेत्र स्वरूप है। शास्त्र ने ऐसा क्यों कहा? जिसके द्वारा कुछ प्रमित हो, जो ज्ञान साधन है, ज्ञान कारण है, उसे प्रमाण कहते हैं। प्रत्यक्षादि प्रमाण समूह में प्रत्यक्ष प्रमिति साधन नयनेन्द्रिय को श्रुति ने यथावस्तु ज्ञान कारण कहा है। ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है कि चक्षुरिन्द्रिय विचक्षण है। जिसके द्वारा विशेष रूप से वस्तु का दर्शन करा जाये, वह विचक्षण है। नेत्र द्वारा ही वस्तुतत्व विशेष रूप से अवलोकित होता है। इसी कारण 'विचक्षण' को चक्षु के पर्यायान्तर रूपेण अभिहित किया गया है। जो व्यक्ति कहे कि "मैं यह देखता हूँ" सभ्यजन उसका विश्वास करते हैं। इसलिए मनुष्य का चाक्षुष प्रत्यक्ष सर्वोपरि प्रमाण है।[3]

शतपथ ब्राह्मण कहता है कि विवदमान व्यक्तिद्वय के बीच यदि एक व्यक्ति यह कहे कि मैं यह देखता हूँ, जबकि दूसरा यह कहे कि मैं यह सुनता हूँ, तब जो देखने की बात कहता है, उसकी बात पर ही विश्वास किया जायेगा। वेद शब्द ज्ञान के लिए प्रयुक्त हुआ है। ज्योतिष ज्ञान का प्रकृष्ट कारण है। इसीलिए शास्त्र ने ज्योतिष को वेद

---

1. "पूर्वं प्रोक्तं व्यक्तमव्यक्तबीजं"—भास्कराचार्य, बीजगणित
2. "वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानुपूर्वा विहिताय यज्ञाः। तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद सवेद यज्ञान्यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञानित्योम्" —लगध का वचन
3. "चक्षुर्वैविचक्षणं विह्येतेन पश्यतीत्यैतद्भवै मनुष्येषु सत्यं निहितं यश्चक्षुस्तस्मादाचक्षाण-माहुरद्रागिति स यद्यदर्शमित्याहाथास्य श्रद्धधाति" —ऐतरेय ब्राह्मण, 1/6/6

का नयन कहा है। इसे कालविधान शास्त्र (Science of Pure Time or Calculus of Successions) कहते हैं। यह पहले कहा जा चुका है।

जगत् क्रिया की मूर्त्ति है। क्रियास्वरूप का चिन्तन करने से ज्ञात होता है कि क्रिया क्रमोत्पन्नव्यापारसमूह है, क्रमोत्पन्नव्यापारराशि है। शब्द (Sound), ताप (Heat), तड़ित् (Electricity), चौम्बकाकर्षण (Magnetism), इसे जो गति अथवा कर्मपदार्थ (Motion) रूप से अवधारित करते हैं, परमाणु जिनकी दृष्टि में ईथर का आवर्त्त अथवा भेद है और संसर्गवृत्ति शक्ति के केन्द्ररूपेण स्थित हैं, उसे जगत् की संयोग-वियोगात्मक क्रिया की मूर्त्ति कहने से कोई आपत्ति नहीं हो सकती। हमारी पंचज्ञानेन्द्रियों में जगत् का जो रूप पतित होता है, वह है अगण्य क्रियाक्रम (Successions) समष्टि। वह है क्रियाक्रमराशि। वह है सम्मूर्च्छितावयव अथवा मूर्त्त क्रिया। जब क्रिया क्रमोत्पन्न व्यापारसमूह है, क्रमोत्पन्नव्यापारराशि है, उस स्थिति में क्रिया के स्वरूप का निरूपण करने में ज्ञानार्जन की रीति के अनुसार उसे उसके घटकावयवयों के साथ समीकृत करना होगा। पञ्च (5) कौन पदार्थ है? इसका उत्तर है कि पञ्च तो पञ्च एकक का योगफल है। (To solve an equation is to find its roots or root) किसी जागतिक पदार्थ का स्वरूप जानने के लिए क्या करना उचित है? इसे जानने के लिए उसका विश्लेषण करना, उसके घटकावयव समूह को पृथक् करना चाहिए। रसायनवेत्ता किसी पदार्थ का स्वरूप जानने के लिए उसका विश्लेषण करते हैं, उसके घटकावयवों को पृथक् करते हैं। ऐसा क्यों करते हैं? मूर्त्त पदार्थ मात्र ही सूक्ष्म-सूक्ष्म पदार्थों की समष्टि है। सम्मूर्च्छितावयव है। हमारे इन्द्रिय द्वार में जिन पदार्थों का अनुभव होता है, वे सभी मूर्त्त पदार्थ हैं। इसलिए किसी जागतिक पदार्थ का स्वरूप जानने के लिए जिन-जिन घटकावयव पदार्थों का संयोग उसमें उत्पन्न है, उनका स्वरूपदर्शन करना पड़ता है। किसी मूर्त्तवस्तु के घटकावयव समूह का विश्लेषण करके उसे जाना जा सकता है? निश्चय ही नहीं। जल का विश्लेषण करने पर हाईड्रोजन एवं ऑक्सीजन, इन दो मूलभूत की प्राप्ति होती है। जल कौन पदार्थ है? इसके उत्तर में रासायनिक विद्वान् कहते हैं कि यह हाईड्रोजन तथा ऑक्सीजन इन दो मूलभूत का सांयौगिक है। जल जो उक्त पदार्थद्वय का सांयौगिक है, उसका प्रमाण क्या है? उसका प्रमाण यह है कि उक्त पदार्थद्वय का संयोग कराने से जल उत्पन्न हो जाता है। यही इसका प्रमाण है। दस जो है वह दो पाँच की समष्टि है। इसे प्रमाणित करने के लिए दस को दो से भाग देने पर पाँच आता है। इससे प्रमाणित हो जाता है कि दस ही दो पाँच की समष्टि है।

$10 = 5 + 5 \therefore 10 - 5 = 5$ तथा $10 + 5 = 5 + 10$ इससे प्रतिपन्न होगा कि संश्लेषणात्मक विवेक (Judgement) अथवा विश्लेषणात्मक विवेक (Analytic Judgement), दोनों ही पूर्व सिद्ध ज्ञानापेक्ष है। $10 = 5 + 5$ यदि यह जाना जाये, यदि यह सत्य है, तब $10 - 5 = 5$ अथवा $10 + 5 = 5 + 10$ की

सत्यता प्रमाणित होगी। नहीं तो नहीं होगी। स्वत:सिद्ध पदार्थ को स्वीकार न करने से गणित का अस्तित्व ही लुप्त हो जायेगा। ''यह ऐसा'' अथवा ''ऐसा नहीं'', हम जो ज्ञान से समझते हैं, यही उसका स्वरूप है। ''यह ऐसा'' ''ऐसा नहीं है''। इस प्रकार के वाक्य का आशय है ''कि यह अमुक ज्ञान पदार्थ के समान है अथवा असमान है। समान तथा असमान ही उत्पत्तिशील अथवा विकारात्मक ज्ञान की दो आत्मा है। विवेक-विचरणा, समान-असमान बोधमूलक है। साम्य-वैषम्य ही गणित का अभिधेय है। (The prevailing predicate in mathematics) ''जो सब वस्तु किसी एक वस्तु के समान है, वह परस्परत: समान है'' तथा ''समान-समान राशि में समान-समान राशि का योग करने पर उनकी समष्टि समान होगी। तनिक विचार से विदित होगा कि ये दोनों गणित शास्त्र के मूल स्वत:सिद्ध हैं। (Aixoms in mathematics as a whole)

4 क + 3 = 2 क + 5 यदि यह सत्य है तब

4 क - 2 क = 5 - 3

अथवा 2 क = 2 अथवा क = 1 यह भी सत्य है।

''समान-समान राशि से समान-समान राशि वियोग करने से बची हुई राशि परस्परत: समान होती है।'' यह स्वत: सिद्धान्त के अनुसार सिद्ध हो गया। अत: यह सिद्धान्त है कि समीकरण (Equation) ही विवेक अथवा विज्ञान का करण-साधन है। भास्कराचार्य समीकरण को ही गणित का बीज कहते हैं[1]। इस सम्बन्ध में विद्वान् स्पेन्सर के मत को नीचे उद्धृत किया जा रहा है।[2] जिस वेद की पूजा ऋषिगण सर्वप्रकार के विज्ञान की प्रसूति मानकर करते हैं, वह वेद उनकी दृष्टि में ईश्वर से अभिन्न पदार्थ रूप में प्रतीत होता है। ज्योतिष अथवा गणित का ऋषिगण कितना आदर करते हैं, कितना प्रयोजनीय पदार्थ मानते हैं पाठक इसका चिन्तन करें। जो कभी किसी विषय की चिन्ता करते हैं (बुद्धिपूर्वक करें अथवा अबुद्धिपूर्वक) वे तर्क अथवा मननशास्त्र के नियमसमूह का अनुसरण करते हैं। यह बात जैसे सत्य है, उसी

---

1. ''उक्तं बीजोपयोगिदं संक्षिप्तं किल। अतो बीजं प्रवक्ष्यामि गणकानन्दकारकम्॥''

—बीजगणित

2. "The truth—Relation that are equal to the same relation are equal to each other—which we thus find is known by an intution, and can only so be known, underlies important parts of Geometry. An examination of the first propositon in the sixth book of Euclid and of the deductions made from it in succeeding proposition, will show that many theorems have this axiom for their Basis.

But on this axiom are built for wider and for more important conclusions. It is the foundation of all mathemetical analysis. ...The successive transformations of an equation are linked together by acts of thought, of which this axiom expresses the most general from." —The Principles of Psychology, p. 12-13

प्रकार यह कथन भी सत्य है कि जो कभी किसी विषय का ज्ञानार्जन करते हैं, वे मन ही मन (विशुद्धभाव से अथवा अविशुद्धभाव से) गणितबीज समीकरण प्रक्रिया का ही पालन करते हैं।

भगवान् पतंजलिदेव विवेकज्ञान को समझाने के समय जो कह रहे हैं (पूर्व में अतिसंक्षेप में कुछ आभास इस ग्रन्थ में दिया गया है) जो उसके मर्म को ग्रहण कर सकेंगे, उन्हें यह मानना ही पड़ेगा कि योगी ही जगत् में प्रकृत वैज्ञानिक है। योगी ही जगत् में प्रकृत गणितज्ञ है। योगशास्त्र ही ज्योतिष का सूक्ष्म अथवा व्यापक रूप है। योगशास्त्र ही विशुद्ध गणितशास्त्र भी है।

व्यक्तजगत् के स्वरूप सम्बन्ध में हम जो ज्ञान-लाभ करते हैं, उससे यह कह सकते हैं कि व्यक्तजगत् अंकपाश है। परमाणु समूह का परस्पर संयोग तथा उनका इतरेतर स्थान निवेश ही व्यक्तजगत् की उत्पत्ति तथा वैचित्र्य का, व्यक्तजगत् के भेद अथवा नानाविधत्व का कारण है। ऋग्वेद संहिता व्यक्तजगत् को पंचभूत रूप तन्तु (सूत्र) द्वारा ग्रथित यज्ञात्मक पट (वस्त्र) स्वरूप कहती है। ओतप्रोत भाव से सन्निवेशित-ओतप्रोत भाव से ग्रथित तन्तु समूह ही जैसे पट अथवा वस्त्र है, उसी प्रकार ओतप्रोत भाव से सन्निवेशित यथाक्रमेण विन्यस्त (Arranged) पंच भौतिक अणुसमूह ही व्यक्तजगत् का शरीर है।[1] शुक्ल यजुर्वेद संहिता, कृष्ण यजुर्वेद संहिता, अथर्ववेद संहिता, सभी वायु की क्रिया शक्ति को Kinetic energy को—यज्ञ की योनि, यज्ञ का कारण कहते हैं।[2] लॉर्ड केलविन (Lord Kelvin), हेल्महोल्ज (Helmholtz), अध्यापक जे०जे० थॉमसन (J.J. Thomson), प्रभृति वैज्ञानिक विद्वान् परमाणु समूह के स्वरूपनिरूपण में प्रवृत्त होकर उसको सर्वव्यापक अविच्छिन्न सम्पूर्णतः तरल पदार्थ विशेष के अङ्गुरीय अथवा मण्डलाकार आवर्त्त के रूप से अनुमानित करते हैं। लॉर्ड केलविंन ने परमाणु समूह को जिस काल्पनिक सम्पूर्णतः तरल पदार्थ के आवर्त्त रूप में ग्रहण किया है, वह प्रवृत्ति शक्ति विशिष्ट है। प्रवृत्ति शक्ति को जागरित करने के लिए इन सब धर्म का प्रयोजन है। उसमें ये सभी धर्म भी विद्यमान हैं। अतएव उक्त सम्पूर्णतः (तरलवत्) तरल पदार्थ लॉर्ड केलविन के मत से भौतिक (Material) हैं। इसके बिना उसकी वे जड़त्वगुणयुक्त, सन्तत, एकाकार, असंकोचनीय तथा संघर्ष-धर्म विरहित रूप से कल्पना करते। अपरिमितायन सम्पूर्णतः तरल पदार्थ का कोई परिमित अथवा परिच्छिन्न अंश शुद्ध आनुक्रमिकविपरिणात्मिका गति (Translatory or Irrotational Motion) विशिष्ट है। किंवा शुद्ध चक्र-गति (Rotational or Rotatory Motion)

1. "योयज्ञोविश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्मेभिरायतः" —ऋग्वेदसंहिता, 8/10/130
2. "यज्ञ यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ स्वां योनि गच्छ स्वाहा" —शुक्लयजुर्वेद संहिता
तथा "स्वां योनि गच्छ स्वनिष्पत्यर्थे स्वां योनिं स्वकारणभूतां वायोः क्रिया शक्तिं गच्छ"
—महीधर कृत भाष्य

विशिष्ट, अथवा उभयविधगति विशिष्ट हो सकता है। किसी तरल पदार्थ के किसी अंश को यदि चक्रगति विशिष्ट किया जाये, तब उसकी चक्राकार गति उसमें ही प्रतिबद्ध हो जायेगी। अंशान्तर का भी संक्रमण नहीं होगा। शुद्ध अनुक्रमिक विपरिणामात्मिका गति एक आधार से अन्य आधार में संक्रमण करती है, किन्तु चक्रगति वह नहीं करती। इसलिए चक्रगति एक बार प्रवर्तित होने पर चिरस्थायी हो जाती है। उसकी निवृत्ति नहीं होती।[1]

परमाणु समूह यथोक्त समन्तात् व्याप्त, सम्पूर्णतः तरल (Perfect fluid) पदार्थ के भिन्न-भिन्न आवर्त्त हैं। हमें विश्वास है कि वेदादि शास्त्रपाठ करने से परमाणु सम्बन्धित जो ज्ञान प्राप्त होता है, वही एतद् विषयक विशुद्ध ज्ञान है। ग्रन्थान्तर में हमने परमाणु विषयक ऐसे सिद्धान्त की यथाशक्ति समालोचना की है। यहाँ लॉर्ड केलविन प्रभृति वैज्ञानिकों के परमाणु विषयक सिद्धान्त के सम्बन्ध में विशेष कुछ कहना हमारा उद्देश्य नहीं है। व्यक्तजगत् का शरीर परमाणुपुंज के इतरेतर स्थान निवेशन तथा संयोग से उत्पन्न होता है। आधुनिक वैज्ञानिक, प्राचीन दार्शनिक सभी इसे स्वीकार करते हैं। इसे समझाने के ही लिए हमने यहाँ परमाणु का नाम लिया है। ''जलाशय में पत्थर फेंकने से जैसे उर्मिसमूह का अभ्युत्थान होता है, उसी प्रकार गुणत्रयात्मिका प्रकृति में विक्षोभ होने से परमाणुसंज्ञक उर्मि अथवा बुदबुद का आविर्भाव होने लगता है।'' आधुनिक वैज्ञानिकों ने इसी प्राचीन उपदेश की ही प्रतिध्वनि की है। व्यक्तजगत् की विचित्रता तथा व्यक्तजगत् का नानाविधत्व परमाणु समूह के इतरेतर स्थान निवेशन तथा संयोग द्वारा होता है। विज्ञान वृक्ष की प्रत्येक शाखा, उसका प्रत्येक पत्ता, स्पष्टतः इसी तथ्य का कीर्त्तन करता अनुभूत होता है।

हाईड्रोजन, ऑक्सीजन, नाईट्रोजन, कार्बन प्रभृति परमाणुओं के इतरेतर स्थान सन्निवेश तथा संयोग से ही विविध सांयौगिक समूह की उत्पत्ति होती है और हो रही

---

1. "Vortex Motion—This theory of the constitution of substances was suggested by Lord Kelvin soon after the publication in 1858 of Helmholtz's very remarkable mathematical discussion of the possible rotational motion in a perfect fluid.

It is essential first to define what is meant by a perfect fluid, and to examine the properties ascribed to it. The fluid whose motion is discussed is assumed to be material in the sense that it possesses Kinergety, the capacity for Kinetic energy; or some property from which Kinergety may arise. It is futher assumed to possess inertia to be continuous in space, homogeneous, absolutely incompressible and fricitionless. (that is devoid of internal fricton).

Any finite protion of an infinit volume of a perfect fluid may have either or both of two modes of motion; namely, first translatory or irrotational motion, second rotational or rotary motion."

—Matter Energy Force & Work by Holman, p. 193

है। रसायनशास्त्र इसी का प्रतिपादन करता है। अणुसमूह के इतरेतर स्थान निवेशन तथा संयोग से ही ताप-तड़ित् आलोक आदि विकार पदार्थों का विकास होता है। भूतविज्ञान (Physics) इसे ही प्रमाणित कर रहा है। कोषसमूह के इतरेतर स्थान निवेशन तथा संयोग से ही विविध यन्त्र संकुल जैवशरीर की उत्पत्ति होती है। साथ ही कोषसमूह के इतरेतर स्थान निवेशन और संख्या भेद के कारण ही जैवशरीर का नानात्व होता है। शरीरविज्ञान इसी का प्रतिपादन करता है। हम इसी कारण कहते हैं कि व्यक्तजगत् अंकपाश है (Permutation and Combinations)। इसलिए कह सकते हैं कि विज्ञान अंकपाशाख्य गणित प्रक्रिया का व्यवहार विशेषतः करता है। एक-एक अंक एक-एक प्रकार के परिच्छिन्न भाव के बोधकरूप में व्यवहृत होता है। प्रत्येक अणु-परमाणु को अंक कहा जा सकता है। प्रत्येक अणु-परमाणु राशि को भी अंक कह सकते हैं।

भगवान् भास्कराचार्य कहते हैं कि नियत अथवा निर्दिष्ट अंकों के इतरेतर स्थान निवेशन द्वारा जो भेद होता है, उसकी संख्या तथा उन सभी भेद संख्या की संयुति-योग, इनके निरूपण की गाणितिक प्रक्रिया को अंकपाश कहते हैं।[1] पाश्चात्य गणितशास्त्र में इसे ही परम्युटेशन (Permutations) कहा जाता है। इससे दैशिक अथवा कालिक पौर्वापौर्य निमित्तक भेद संख्यात होता है, विवेचित होता है। Combination में दैशिक तथा कालिक पौर्वापौर्य निमित्तक भेद गणित नहीं होता। Permutation में क + ख तथा ख + क—ये दो भिन्न राशि हैं, किन्तु कॉम्बिनेशन में यह दो भिन्न राशि नहीं हैं। कॉम्बिनेशन में द्रव्यसमूह का कालिक तथा दैशिक सम्बन्ध निरपेक्ष भावाभाव ही विवेचित होता है। क, ख, ग, घ, ङ; इनमें से एक समय में दो-दो को लेकर योग करने से कितने प्रकार का भेद होता है? इसी प्रकार से तीन-तीन को लेकर योग करने से कितने प्रकार का भेद होता है, यह शुद्ध परस्पर संयोग प्रक्रिया (Combination) द्वारा निरूपित हो जाता है।[2]

चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, अष्टाङ्गहृदयसंहिता प्रभृति आयुर्वेदीय संहिता में रस के 57 विकल्प (भेद), Combination नामक गति प्रक्रिया द्वारा निश्चित हुए

---

1. स्थानान्तमेकादिचयाङ्कघातः, संख्यादि विभेदा नियतैः स्युरङ्कैः।
भक्तोऽङ्कमित्याङ्क समासनिघ्नः स्थानेषुयुक्तोमिति..... ॥" —लीलावती
2. "Permutations are their arrangements in a line, reference being had to the order of sequence; thus ab and ba are two permutations of a and b; combinations are their arrangements in groups, without reference to the order or sequence; thus a b c is a combination involving a, b and c and b a c is the same combination, both consisting simply of a, b and c grouped together." —The Encyclopedia Britanica, 9th Edition, 'Algebra' .....in combination we take notice only of the presence or absence of a certain thing, and pay no regard to its place in order time or space." —Principles of Science by James, p. 177

हैं। मधुररस, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु, कषाय इन पाँच के साथ दो-दो मिलाने से इन षड्रस में से 1 संख्या कम होकर 5 शेष बचती है यथा—मधुर अम्ल, मधुर लवण, मधुर तिक्त, अम्ल कटु, अम्ल कषाय। ये 5 यौगिक रस हो गये। यह पहले कहा गया है कि शुद्ध मिश्रण व्यवहार में पौर्वापर्य सम्बन्ध निमित्तक भेद की गणना नहीं की जाती। अतएव मधुराम्ल तथा अम्लमधुर, ये दोनों इस प्रक्रियानुसार दो भिन्न पदार्थ नहीं हैं। द्वितीय स्थान में चार विकल्प हो रहा है। इस नियमानुसार दो रस के संयोग से मधुररस 5, अम्लरस 4, लवणरस 3, तिक्तरस 2 तथा कटुरस 1 होता है। षड्रस में दो-दो के संयोग से सर्वशुद्ध 15 यौगिक रस हो जाते हैं। तीन-तीन को संयोग करने से मधुररस 10, अम्लरस 6, लवणरस 3, तिक्तरस 1 अर्थात् 20 यौगिक रस हो जाते हैं। इसी तरह 4-4 का संयोग करने से मधुररस 10, अम्लरस 4, लवणरस 1 अर्थात् 15 यौगिक रस होते हैं। इसी प्रकार 5-5 का संयोग करने से मधुररस 5 तथा अम्लरस 1 सब मिलाकर 6 रस होते हैं। 6 रस का एकत्र योग करने से 1 ही यौगिक रस होगा। अतः यौगिक संख्या 15 + 20 + 15 + 6 + 1 = 57 होती है। 6 मूलरस + 57 यौगिक रस = 63 रस। इस 63 की तरह रसानुरस कल्पना करने से असंख्य रस हो जाते हैं। रसचिन्तक सुधीगण निष्प्रयोजन असंख्येय रस की कल्पना न करें। चिकित्सा व्यवहार के लिए 63 भेद की कल्पना की गयी है।[1]

चरकसंहिता में कहा है कि सोमगुण की अधिकता से मधुररस की, पृथ्वी तथा अग्निगुण की अधिकता से अम्लरस का, जल तथा अग्निगुण के आधिक्य से लवणरस का, वायु तथा अग्निगुण के आधिक्य से कटु रस का, वायु तथा आकाश के आधिक्य से तिक्तरस का, वायु तथा पृथ्वी गुण के आधिक्य से कषायरस का आविर्भाव होता है। सुश्रुतसंहिता में कहते हैं कि पृथ्वी-जल गुण के बाहुल्य से मधुर रसोत्पत्ति होती है। किन्तु चरकसंहिता में कहते हैं कि सोमगुण के अतिरेक से मधुररस का आविर्भाव होता है। अतएव जिज्ञासा होती है कि मधुररस की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मतविरोध का कारण क्या है ? शिवदास कहते हैं कि सोम शब्द से पृथ्वी तथा जल दोनों गृहीत होता

1. "स्वादुरम्लादिभिर्योगं शेषैरम्लादयः पृथक्।
यान्ति पञ्चदशैतानि द्रव्याणि द्विरसानि तु॥
पृथपम्लादियुक्तस्य योगः शेषैः पृथग्भवेत्।
मधुरस्य तथाम्लस्य लवणस्य कटौस्तथा॥
त्रिरसानि यथासंख्यं द्रव्याण्युक्तानि विंशतिः।
वक्ष्यन्ते तु चतुष्केण द्रव्याणि दश पञ्च च॥
स्वाद्वम्लौ सहितौ योगं लवणाद्यैः पृथक् गतौ।
योगं शेषैः पृथग्यातः चतुष्करस संख्यया॥
सहितो स्वादुलवणौ तद्वत्कट्वादिभिः पृथक्।
युक्तौ शेषैः पृथक् योगं यातः स्वादुषणौ तथा॥
कट्वाद्यैरम्ललवणौ संयुक्तौ सहितौ पृथक्।.....

है। पृथ्वी तथा जल दोनों ही सौम्य है।[1] हमने पहले ही कह दिया है कि पाश्चात्य रसायनशास्त्र जिसे कार्बोहाईड्रेड कहता है, वह पृथ्वी तथा जलगुण बहुल पदार्थ है। कार्बन-हाईड्रोजन तथा ऑक्सीजन इनका सांयौगिक है Carbohydrate। शर्करा एवं जिन पदार्थों से शर्करा उत्पादित होती है उनको Carbohydrate कहते हैं।

मूल रस 6 ही क्यों हैं, यह समझाने के लिए चरकसंहिता में कहा गया है कि पृथिव्यादि पंचभूत के न्यूनाधिक्य से रस का षटत्व उपपन्न होता है। जब रस का कारण पंचविध है, तब रस 6 क्यों? चक्रपाणि तथा शिवदास इसका उत्तर देते हैं कि सोमगुण के अतिरेक तथा पृथ्वी आदि पंचभूतों के अतिरेक से 6 रस उत्पादन का कारण विदित होता है। अतः मूलरस संख्या 6 है। पृथिव्यादि पंचभूतों के न्यूनाधिक्य के कारण जैसे स्थावर तथा जंगम भूतसमूह में विविधवर्ण तथा आकृतिभेद होता है, उसी प्रकार पृथिव्यादि पंचभूत के न्यूनातिरेक विशेष के कारण मधुरादि रसभेद हो जाता है। पंचभूतों के न्यून तथा अतिरेक विशेष का हेतु क्या है? काल ही इसका हेतु है।[2] पृथिव्यादि भूतपंचक के न्यूनातिरेक के कारण सर्वप्रकार के भौतिक पदार्थ का वर्णादिगत भेद होता है, यह अविसम्वादित तथ्य है। शास्त्रोपदिष्ट पृथिव्यादि पंचभूत के स्वरूप की चिन्ता न करके पंचभूतवादी ऋषियों को स्थूलदर्शी कहना, उन्हें स्थूलदर्शी न कहना जिन्होंने हाईड्रोजन, ऑक्सीजन, नाईट्रोजन, कार्बन प्रभृति की मूलभूत रूप में अवधारणा की थी, यह क्या है? हाईड्रोजन आदि भौतिक पदार्थ समूह के आविष्कार को विज्ञान की प्रकृष्ट उन्नति माना जाता है। इन मूलभूतों के न्यूनातिरेक से ही जागतिक वस्तुसमूह में नानात्व प्रतीत होने लगता है। यह वैज्ञानिकों ने स्वीकार किया है। कार्बोहाईड्रेड, फैट, Proteids, इत्यादि पदार्थ कार्बन, हाईड्रोजन, ऑक्सीजन, नाईट्रोजनादि मूलभूत समूह के सांयौगिक हैं। Carbohydrates का विश्लेषण करने पर उसमें कार्बन, हाईड्रोजन तथा नाईट्रोजन आदि मूलभूत परिलक्षित होते हैं। फैट का विश्लेषण करने पर भी यही तीन द्रव्य प्राप्त होते हैं। कार्बोहाईड्रेट तथा फैट का उपादान जब एक है, तब उनकी आकृति, वर्ण प्रभृति धर्मगत भेद का क्या कारण है? कार्बनादि भूतसमूह का न्यून होना अथवा

---

1. "तेषां षण्णां रसानां सोमगुणातिरेकान्मधुरोरसः। पृथिव्यग्निभूयिष्ठत्वादम्लः।" —चरकसंहिता
"ननु कारणं भूतानां पञ्चविधत्वेन कार्यस्यापि रसस्य पञ्चविधत्वमेव युक्तामित्यभिप्रेत्य षट्त्वमुपपादयति—सोमगुणातिरेकादित्यादि। सोमो जलदेवता, तेन, जलगुणातिरेकादिव्यर्थः किम्वा, सोमशब्देन पृथिवीजलयोरेव ग्रहणं उभ्यारैव सौम्यत्वात्, अतएव सुश्रुतेऽपि पृथिवी अम्बुगुणाबाहुल्यान्मधुर इत्यादि।" —शिवदास

2. "एवमेषां षण्णां रसानां षट् च मुपपन्नमुनातिरेकविशेषात् महाभूतानां भूतानामिव जङ्गमस्थावराणां नानावर्णाकृति विशेषाः षड् ऋतुकत्वात् च कालस्योपन्नोमहाभूतानामुनातिरेकविशेषः"
—चरकसंहिता
"रसानां षटत्वं महाभूतानां न्यूदातिरेकविशेषात् सोमगुणातिरेक पृथिव्यग्न्यातिरेकादेः षड् उत्पादककारणादुपपन्नम् षड्भ्यः कारणेभ्यः षट्कार्याणि स्युरिति युक्तमेवेति भावः"—चक्रपाणि

अतिरेक (अधिक होना) इनकी आकृति, वर्ण प्रभृति के भेद का कारण है। 6 कार्बन परमाणु, 12 हाईड्रोजन परमाणु तथा 6 ऑक्सीजन परमाणु, 1 कार्बोहाईड्रेट का अणु (Molecule) बनता है। घटकावयव बनता है। किन्तु एक फैट का (Molecule) अणु = 51 कार्बन परमाणु, 98 हाईड्रोजन परमाणु तथा 6 ऑक्सीजन परमाणु है। इसीलिए Carbohydrate और Fat में आकृतिधर्मगत भेद है। स्ट्रिकनीन (Strychnine), कुनाईन (Quinine) तथा ग्लूटान, इन पदार्थत्रय का विश्लेषण करने पर कार्बन-हाईड्रोजन-नाईट्रोजन तथा ऑक्सीजन ये 4 द्रव्य पाये जाते हैं। इन तीनों पदार्थों का रूप परस्परतः भिन्न है। स्ट्रिकनीन तथा कुनाईन विष है। ग्लूटन खाद्य सामग्री तथा शरीर का पोषक है। 1 कुनाईन अणु Molecule = 20 कार्बन परमाणु + 24 हाईड्रोजन परमाणु + 2 नाईट्रोजन परमाणु + 2 ऑक्सीजन परमाणु। 1 स्ट्रिकनीन का अणु = 21 कार्बन परमाणु + 22 हाईड्रोजन परमाणु + 2 नाईट्रोजन परमाणु तथा 2 ऑक्सीजन परमाणु द्वारा संगठित है। इसलिए उपादान की न्यूनाधिक्यता के कारण सभी द्रव्य आकृत्यादि धर्मभेद युक्त हो जाते हैं। कोई विष है, तो कोई शरीर पोषक है। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

अब प्रश्न होता है कि पंचभूत अथवा पाश्चात्यों द्वारा मूलभूत के रूप में घृत हाईड्रोजन, ऑक्सीजन प्रभृति पदार्थों के न्यूनाधिक्य के कारण भौतिक वस्तुसमूह का आकृति तथा धर्मगत भेद होता है, यह तो श्रवण कर लिया, क्या इतने से ही तत्व-जिज्ञासु की तृप्ति हो जायेगी? क्या मात्र इतना ज्ञान परिदृश्यमान वस्तुसमूह की भेद विषयक जिज्ञासा का पर्याप्त निवृत्ति साधन है? हमारा विश्वास है कि भूतसमूह में न्यूनातिरेक के कारण भौतिक वस्तुसमूह में नानात्व हुआ है। किन्तु इतना ही ज्ञान हमारी विविदिशा (जानने की इच्छा) की अग्नि को बुझाने का साधन नहीं है। यह ज्ञान मानव की तत्वजिज्ञासा को नीरव नहीं कर सकता। भूतसमूह न्यूनाधिक क्यों होते हैं तथा भूतसमूह के न्यूनातिरेक के कारण भौतिक वस्तुसमूह के गुणगत भेद का क्या यही कारण है, जिज्ञासु के हृदय में पुनः यह जिज्ञासा जाग्रत् होती है। शास्त्रपाठ से जो इसका उत्तर मिला है, उसे अन्य ग्रन्थ मं बतलाने की चेष्टा की जायेगी। (ग्रन्थकार ने 'परलोक तत्व' शीर्षक ग्रन्थ में इसका निराकरण किया है)।

वेदादि शास्त्र कहते हैं कि प्रकृति सर्वशक्ति युक्त है। सर्वपरिणाम साधन की योग्यता प्रकृति-गर्भ में विद्यमान है। प्रकृति के सर्वशक्तिमयी होने पर भी, उसमें सर्वप्रकार परिणाम योग्यता रहने पर भी वह सर्वदा सर्वत्र सर्वप्रकार का परिणामसाधन नहीं करती। उसका कारण यह है कि वह धर्माधर्म वशवर्त्तिनी होकर ही परिणामसाधन करती है। जीव का भोग तथा अपवर्ग साधन करना ही प्रकृति का प्रयोजन है। इसलिए प्रकृति जीव के धर्माधर्म के अनुसार विविध आकार धारण करती है। भूतसमूह के न्यूनातिरेक के कारण स्पन्दन (Vibration) का भेद हो जाता है।

अणुओं का स्पन्दन भेद ही द्रव्यसमूह के रूप रसादिगुणगत भेद की उपलब्धि का हेतु है। लोहितादि वर्ण भेद का, शीत, उष्ण आदि स्पर्शभेद का, षड्ज-मध्यम-गान्धारादि अथवा उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरितादि अथवा कोमल कर्कशादि स्वरभेद का, इष्टानिष्टादिगन्धभेद का स्पन्दन तारतम्य ही कारण है। सर्वव्यापक-सम्पूर्णतः तरल ईथर नामक पदार्थ की आन्दोलायित गति से आलोकाभिव्यक्ति होती है तथा भिन्न-भिन्न रूप तथा वर्ण का प्रत्यक्ष होता है। विभिन्नायाम तथा विभिन्नवेगवत् ईथरीय स्पन्दनसमूह होते हैं। भिन्न-भिन्न रूप दैर्घ्य तथा वेग विशिष्ट ईथरीय वीचि तथा आन्दोलायित गति समूह के साथ नयन स्नायुओं के सन्निकर्ष के कारण ही भिन्न-भिन्न वर्णों की उत्पत्ति होती है, यह विज्ञान का मत है। स्पन्दन भेद का कारण क्या है ? उत्तर है कि गुणत्रय के भोगवैषम्य स्पन्दन भेद के कारण हैं। विज्ञान का कथन है कि अणुओं के सन्निवेश भेद के कारण द्रव्यों में वर्णभेद होता है। अणुओं के सन्निवेश भेद से उनके स्पन्दन समूह में भेद होता है। तनिक विचार करने पर ज्ञात होता है कि गुणत्रय का भोगवैषम्य ही अणुओं के सन्निवेशगत भेद का कारण है।

सुश्रुत संहिता में कहा है कि आकाश सत्वगुण बहुल है। वायु रजोगुण बहुल है। तेजः सत्व-रजो बहुल है। जल सत्व-तमो बहुल है तथा पृथ्वी तमो बहुल है।[1] अतएव आकाशादि पंचभूत सत्वादिगुणत्रय के भागवैषम्य से उत्पन्न हुए हैं, यह भगवान् धन्वन्तरि के उपदेश से जाना गया है। अणुओं के सन्निवेश भेदवशात् आकर्षण-विकर्षण अथवा संसर्गवृत्ति-भेदवृत्ति का क्रियागत भेद हो जाता है और इसी कारण से स्पन्दन का तारतम्य होता है और इसी कारण यहाँ शास्त्र तथा विज्ञान परस्परतः अविरोधी हैं। उनमें विरोध नहीं है।

रस सम्बन्ध में चरकसंहिता में अनेक तथ्य हैं। परन्तु यहाँ उनका और उल्लेख आवश्यक नहीं है। अब यहाँ यथा प्रयोजन यह बतलाना है कि स्वाद (Taste) सम्बन्ध में पाश्चात्य नरशरीर विज्ञान तथा मनोविज्ञान ने जो उपदेश दिया है उनका स्वरूप क्या है ? आधुनिक भूततन्त्र-ज्ञाता तथा शरीर विज्ञानीगण में अनेक विद्वान् शब्द, ताप, रूप अथवा वर्ण को (Warmth and Colour) यथाक्रमेण वायु तथा ईथर स्पन्दन कारक अनुभव (Perception of Vibration of Air and Ether) तथा गन्ध और स्वाद को रासायनिक परिणाम संसृष्ट परिस्पन्दनात्मिका क्रिया विशेष की उपलब्धि मानते हैं। इसीलिए प्रत्यक्षगम्य विषयसमूह आदि इनकी दृष्टि में गति क्रिया तथा परिस्पन्दनात्मिका क्रिया पदार्थ हैं। पण्डित इमेन्युयल कान्ट के मत से नील-हरितादि वर्ण, मधुरादिरस, कोमल कर्कशादि शब्द आदि प्रत्यक्ष विशेष के ग्राहक मनः अथवा इन्द्रिय कारण अवश्य हैं, परन्तु मनः अथवा इन्द्रियों को यथोक्त प्रत्यक्ष विशेष निष्पादन में निर्दिष्ट व्यवहार कारण की अपेक्षा करना होता है। विद्वान्

1. "तत्र त्वबहुलमाकाशम्। रजोबहुली वायु सत्वरजोबहुलीऽग्निः। सत्वतमोबहुला आपः। तमोबहुला पृथिवीति।"—सुश्रुत संहिता

कान्ट के इस मत को जर्मनी के विख्यात शरीरविज्ञानविद् विद्वान् मूलर (J. Muller) ने परिपुष्टांग कहा है। अध्यापक हेल्महोल्ज (H.V.Helmholtz M.D.) भी अनेकांश में मूलर के ही मतावलम्बी हैं। ये कहते हैं कि आलोकादि पृथक्-पृथक् इन्द्रियों में उपलभ्यमान इतर व्यावर्त्तक धर्म समुदाय आलोकादि निष्ठ नहीं है। आलोक के संवेदन (Sensation) तापादि से भिन्न हैं, यह निश्चित है, किन्तु जिस कारण से आलोक का संवेदन तापादि संवेदन से पृथक् विवेचित होता है, वह आलोक का कोई विशिष्ट धर्मापेक्ष नहीं है। प्रत्येक वह क्रिया जो चाक्षुष स्नायुसमूह को उत्तेजित करने में समर्थ है, वही है आलोक संवेदन का कारण। अध्यापक हेल्महोल्ज ने स्नायव भेद को ही प्रत्यक्ष विशेष का कारण समझा है। उनके मत से बाह्यार्थ प्रत्यक्ष विशेष का कारण नहीं है[1] अध्यापक हेल्महोल्ज, जिनका नाम लेने मात्र से वैज्ञानिक जगत् का प्रत्येक अणु स्पन्दित हो जाता है, जो आधुनिक विज्ञान जगत् में स्वतः प्रमाणरूप से पूजित हैं, जिन्होंने वैज्ञानिक जगत् को आलोड़ित-विलोड़ित किया है, क्लिफोर्ड प्रभृति वैज्ञानिक जिनको अतिमात्र सारवान्, अतीव हृदयहारी कहते हैं, हमारे समान सर्वजनोपेक्षित, क्षुद्रादपि क्षुद्रतर व्यक्ति उनकी बात के विरुद्ध कुछ कहें, कुछ कहने का साहस करें, तो विस्मय की बात होगी। हम गर्दभधर्मा हैं। गर्दभ जिस भार को वहन करता है, उस भार के गुणावगुण के कारण जैसे गर्दभ के मान में कोई ह्रास-वृद्धि नहीं होती, हम भी उसी प्रकार से परवचन भार को ही वहन कर रहे हैं। भार के गुणावगुण का निर्णय वे करें, जिनका सामान हम गर्दभधर्मा ढो रहे हैं। हम तो भार उतरने पर ही निश्चिन्त होंगे। गर्दभ के लिए स्तुति-निन्दा दोनों समान है। प्रहार का भय है, उसकी भी याद तभी तक है जब तक प्रहार की वेदना है। कुछ घासपात खाने को पाते ही सब वेदना भूल जाती है। भले ही हेल्महोल्ज हों, लॉर्ड केलविन हों, हमें भय किसी का नहीं है। विज्ञानकेशरी हेल्महोल्ज के विरुद्ध बोलने में, हमारे हृदय में शङ्का क्यों?

वैज्ञानिकों का सिद्धान्त है कि आलोक ईथरीय वीचिमाला के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। ईथरीय वीचिसमूह में आकार परिणाम तथा आवर्त्तनगत विस्तृत भेद होता है। मध्यमाकार वीचीसमूह ही प्रत्यक्ष का विषय है। दीर्घाकार तथा विलम्बितावर्त्तनक्रम में उर्मिसमूह शुद्ध तापसंवेदन का उत्पादन करती है। वीचिसमूह का आकार परिमाण जब क्रमशः क्षुद्र होता है और आवर्त्तनक्रम द्रुत होता है, तब हम

---

1. "...It follows from these facts that the peculiarity in kind which distinguishes the sensation of light from all others does not depend upon any peculiar qualities of light itself. Every action which is capable of exciting the optic nerve is capable of producing the impression of light."
"Thus we see that external light produces no other effects in the optic nerve than other agents of an entirely different nature."
—Popular Scientific Lectures, Helmholtz, Vol. I, p. 207

मृदु लोहित वर्ण की उपलब्धि करते हैं। पण्डित इयंग तथा हेल्महोल्ज प्रभृति विद्वान् कहते हैं कि लोहित, हरित तथा पाटल (Red-Green-Violet) ये तीन प्राथमिक मूलवर्ण हैं। जब मूलवर्ण तीन से अधिक नहीं हैं, तब त्रिविधमूलवर्णोपलब्धिकरण त्रिविधस्नायुरज्जु का अस्तित्व स्वीकार करना ही होगा। त्रिविध स्नायु रज्जु के मध्य में एक प्रकार की स्नायुरज्जु लोहितवर्णवेदी, लोहितवर्णग्राही, एक प्रकार की स्नायुरज्जु हरितवर्णवेदी तथा तृतीय प्रकार की स्नायुरज्जु पाटलवर्ण वेदी है। इस प्रकार का अनुमान करने से सभी वर्ण संवेदन तत्व सम्पूर्णतः व्याख्यात हो जाता है। लोहित, हरित तथा पाटल इन त्रिविध आलोक का अस्तित्व जो स्वीकार करते हैं, जो यह कहते हैं कि लोहितादि त्रिविध आलोक ग्राही रज्जु है, जो यह अनुमान करते हैं कि लोहितादि आलोक वेदी त्रिविध स्नायुरज्जु यथाक्रमेण लोहितादि आलोकत्रय द्वारा विशेषतः उत्तेजित होती है, जो यह अनुमान करते हैं कि ईथर नामक सर्वव्यापक पदार्थ की आन्दोलयित गति से आलोक की अभिव्यक्ति होती है तथा भिन्न–भिन्न रूप अथवा वर्ण के प्रत्यक्ष विभिन्न आयाम तथा विभिन्न वेगवत् ईथरीय स्पन्दन होते रहते है, भिन्न–भिन्न रूप दैर्घ्य तथा वेगयुक्त ईथरीय वीचि अथवा आन्दोलायित गतिसमूह के साथ नेत्र के स्नायुओं के सन्निकर्ष के कारण भिन्न–भिन्न रूप पदार्थ की उपलब्धि होती है, (जो यह मानते हैं) ऐसे लोग किस प्रकार की युक्ति द्वारा बाह्यार्थक प्रत्यक्ष विशेष को हेतु मानने के प्रति अनिच्छुक हैं, यह हमारी समझ में नहीं आता।

दार्शनिक विद्वान् Dr. F. Ueberwag कहते हैं कि बहिर्देश से जो इन्द्रियद्वार पर उपस्थित होता है, इन्द्रिय के साथ संयुक्त होता है, प्रत्यक्ष तदात्मक उसके अधीन है। बाह्यार्थ के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष होने से प्रात्यक्षिक प्रत्यय की उत्पत्ति होती है तथा प्रात्यक्षिक प्रत्यय भेद में ग्राहक (विषयी) ही कारण है, बाह्यर्थ कारण नहीं है। बाह्यर्थ द्वारा प्रत्यक्ष का आकार परिच्छिन्न नहीं होता है। यह दोनों वाक्य विरुद्ध अर्थ वाले हैं।[1] विद्वान् हेल्महोल्ज स्नायुभेद को ही ! त्यक्ष का कारण कहते हैं, किन्तु जिज्ञासा होती है कि स्नायुभेद का क्या कारण है ? रासायनिक परीक्षण से स्नायुसमूह का भेद का क्या कारण है ? रासायनिक परीक्षण से क्या स्नायुसमूह का भेद तथा भेदकारण निरूपित होता है ? शारीर विज्ञानविद् पण्डितों में कोई–कोई यह सिद्धान्त बनाते हैं कि स्नायुमात्र ही समप्रकृति के हैं। उत्तेजनसाम्य में सभी स्नायु समान क्रिया करते हैं। चाक्षुष प्रभृति संज्ञावाही स्नायुसमूह की बात ही क्या, संचालक एवं संज्ञावाही स्नायुओं में भी प्रकृतिगत पार्थक्य नहीं है। तब प्रश्न है कि ऐसी स्थिति में दोनों भिन्न रूप क्रिया क्यों करते हैं ? संचालक स्नायुगण (Motor Nerves)

---

1. "It involves a contradicton therefore to admit that content rests on affections which come from without and to believe that those forms neverthless are derived from the perceiving subject only and are not conditioned by the external world affecting us."

—System of Logic, Ueberweg, p. 31

किसलिए पेशी में संकुचित है और संज्ञावाही स्नायुसमूह संज्ञा संवेदन को वहन करते हैं? इसके उत्तर में इनका मत है कि संचालक स्नायु पेशी के साथ सम्बद्ध हैं तथा संज्ञावाही स्नायुसमूह (Sensory Nerves) मस्तिष्क के संज्ञाकेन्द्र स्थान के साथ संयुक्त हैं। दोनों की भिन्न-भिन्न क्रिया का यही कारण है, अन्य कोई कारण नहीं है।

चक्षु तथा मस्तिष्क के मध्य यदि संचालन स्नायु सन्निवेश सम्भव होता, चक्षु तथा मस्तिष्क के मध्य यदि हम आलोकग्राही चाक्षुष स्नायु के स्थान पर किसी संचालक स्नायु का संस्थापन करने में समर्थ होते, तब हमारे आलोक प्रत्यक्ष को कोई बाधा नहीं होती।[1] इस प्रकार परस्पर-विरोधी मत की ओर दृष्टिपात करने से सत्य का रूप घनान्धकार में आवृत्त हो जाता है, चित्त आकुलीभूत हो जाता है। किसी स्थिर सिद्धान्त में उपनीत होना असाध्य हो जाता है। अध्यापक H.L.F. Helmholtz अपने ग्रन्थ Sensations of Tone में कहते हैं कि बाह्य अर्थ अथवा उत्तेजक एवं संज्ञावादी स्नायुयन्त्र की क्रिया से इन्द्रिय व्यापार निष्पन्न होता है। ऐन्द्रियक व्यापार से अंशतः उत्तेजित इन्द्रिय यन्त्र के एवं अंशतः उत्तेजक अर्थ के भेद के कारण प्रकारभेद हो जाता है। जिस इन्द्रिय से जिस प्रकार के ऐन्द्रियक संवेदन की उत्पत्ति होती है, वैसा संवेदन उससे भिन्न इन्द्रिय से उत्पन्न नहीं हो सकता। चक्षु आलोक संवेदन का, श्रोत्र शब्द संवेदन का, त्वक् स्पर्श संवेदन का कारण है।[2] तभी तो कहता हूँ कि इसमें मेरे जैसे हतभाग्य को, मुझ जैसे स्वल्पबुद्धि को भी बुद्धिभ्रम नहीं हो सकता। स्वाद के सम्बन्ध में पाश्चात्य नरशरीर विज्ञान ने तथा मनोविज्ञान ने किस प्रकार का उपदेश दिया है, उसे बतलाने के पूर्व प्रत्यक्ष व्यापार सम्बन्ध में पाश्चात्य वैज्ञानिक दार्शनिकगण के प्रधान मतभेद के सम्बन्ध में दो-एक बात कहना आवश्यक था। अब स्वाद के सम्बन्ध में यह प्रकट करना है कि इसके लिए पाश्चात्य वैज्ञानिक सुधीगण का क्या मत है।

जिह्वा (Tongue), स्वादेन्द्रिय यन्त्र (Organ of Taste) यह पेशीमय है। सभी पेशीसूत्र इससे अनुलम्ब, अनुप्रस्थ, तिर्यक् (Longitudinally,

---

1. "....according to this conception all nerves were the same in their nature and in the action of their irritation. It is possible to join together a sensory nerve and a motory nerve, so as to form one nerve and in this case an irritation of the sensory nerve is directly transmitted to the motory nerve and causes a contraction of the muscles belonging to it. In both kinds of nerves, the process is the same."

—The Five Sense of Man, J. Bernstein, p. 110

2. "Sensations result from the action of an external stimulates on the sensitive apparatus of out nerves. Sensations differ in kind. Partly with the organ of sense excited and partly with the nature of the stimulus employed. Each organ of sense produces peculier sensations, which cannot be excited by means of any other. The eye give sensation of light, the ear sensations of sound, the skin sensation of touch.

—Sensations Of Tone, Halmholtz by A. Ellis, part I

Obliquently, Vertically) इत्यादि विविध गति में स्तररूपेण अवस्थित हैं। जिह्वा, जिह्वामूलास्थि (The Hyoid Bone)[1] के साथ पेशीय सूत्र तथा झिल्ली (Hyo-glossas) द्वारा संयुक्त है। जिह्वा का ऊर्ध्व प्रदेश श्लैष्मिक झिल्ली के घनस्तर द्वारा आवृत्त है। सामने त्रि-चतुर्थांश उन्नत प्रलम्ब (Papillae) समूह है। उन्नत श्रेणीबद्ध श्लेष्माग्रन्थि (Mucous glands) विद्यमान होने से जिह्वा का पश्चाद्वर्त्ती एक चतुर्थांश का हिस्सा अनियमित तथा रुक्ष है। जिह्वा में तीन प्रलम्ब हैं—सूत्राकार (Fili-form-conical), शिलिन्ध्रीकार (Fungi form), तथा वलयाकार (Circum-vallate) ये त्रिविध प्रलम्ब, उत्सेध (Papillae) हैं। जिह्वा को रक्त मिलता है रासनधमनी (Lingual artery) से। इसमें समवेदक (Sympathetic) स्नायु के अतिरिक्त दो संज्ञावादी एवं एक संचालक (Motor) स्नायु है। स्वादयन्त्रान्त्यदेश (The endorgans of taste) सूक्ष्म स्वादनकोषात्मक (Taste cells) है। यह शिलिन्ध्राकार तथा वलयाकार, इस प्रलम्बद्वय (Papillae) के त्वक् में स्थित है। अण्डाकृति स्वादकोरक समूह (Oval taste buds) के गर्भ में घृत होता है।[2]

आस्वादन क्षेत्र के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों में मतभेद है। डॉक्टर L. Landois कहते हैं कि वलयाकार प्रलम्ब (Circumvallatile-Papillae) के समीपवर्त्ती जिह्वामूल, रसनामूलीय स्नायु विभाग क्षेत्र तथा जिह्वा के आगे तथा उपान्तदेश में जो स्वादसंवेदी है, उसमें कोई सन्देह नहीं है। नरशरीर विज्ञान में स्वादसंवेदन को (Gus-tatory Sensation) मधुर, तिक्त, अम्ल तथा लवण इन चार भागों में विभक्त किया है।[3] उन्ड् (Wundt), क्षार तथा धातव (Alkaline and the Metallic) दो अतिरिक्त रस को इस विज्ञान ने स्वीकार किया है।[4] अध्यापक G.T.Ladd अपने

1. Hyo ग्रीक अक्षर विशेष का नाम है। जिस हड्डी की आकृति उस अक्षर की तरह होती है उसे Hyoides अस्थि कहते हैं।
2. "There is considerable difference of opinion as to what regions of the mouth are endowed with Taste (1) The root of the tongue in the neighbourhood of the circumvallate papillae, the area of distribution of the glosso-pharyngeal nerve, is undoubetedly endowed with taste. (2) The tip and margins of the tongue are gustatary, but there are very considerable variation."
—Human Physiology by Landois, p. 1143
3. "There are four different gustatory qualities, the sensations of Sweet, Bitter, Acid, Saline"
—Human Physiology by Landois, p. 1144
4. "There are however certain sensation quite distinct from those just mentioned and quite independent of smell which we experienced when various substances are placed in the mouth; and these, which are the gustatory sensations proper, may be broadly classified into Bitter, Sweet, Acid or Sour and salt to which some would add metallic and alkaline."
—Physiology, Foster, pp. 1513-14

ग्रन्थ में कहते हैं कि क्षार को सम्भवत: लवण का रूपान्तर माना जा सकता है तथा धातवस्वाद को मिश्रस्वाद कह सकते हैं। भगवान् आत्रेय पुनर्वसु का वचन स्मरण करें। वैलेन्टाईन तथा अन्यान्य विद्वानों ने रससंवेदन को मिष्ट तथा तिक्त इन दो प्रकार में रखने की चेष्टा की है। ये अम्लरस संवेदन को विशुद्धरूप से स्वादेन्द्रिय का कार्य नहीं कहते। इनके मत से अम्ल संवेदन स्पर्श संवेदन है (Sensation of Touch) मधुर तथा तिक्त, यह दो स्वाद पाश्चात्य वैज्ञानिकों का सर्वसम्मत स्वतन्त्र स्वाद है। अध्यापक हेल्महोल्ज तथा विद्वान् इयङ्ग जिस प्रकार से त्रिविध मूलवर्ण तथा त्रिविध स्नायु की कल्पना से सर्वप्रकार अवान्तर वर्णसंवेदन तत्व की व्याख्या करते हैं, विद्वान् Ladd कहते हैं कि उसी प्रकार तिक्त रससंवेदी स्नायुरज्जु, मिष्टरस संवेदी स्नायुरज्जु इत्यादि मूलरस संवेदी स्नायुरज्जु की कल्पना करने से स्वाद के अवान्तर भेदतत्व की व्याख्या में सुविधा होती है।[1]

अध्यापक M.Foster कहते हैं कि कुनाईन प्रभृति द्रव्य से जो तिक्तस्वाद संवेदन की तथा शर्करादि से जिस मिष्टस्वाद संवेदन की उत्पत्ति होती है, वह संवेदन अतीव विशद है, उसका विशेष संवेदन (Specific Sensation) अम्ल अथवा लवण स्वादसंवेदन से स्पष्टतासम्बन्ध में अत्यन्त भिन्न आकार के संवेदनरूप में प्रतीत होता है। अध्यापक Foster अम्ल-क्षार इत्यादि की अमिश्र स्वादेन्द्रिय के विषय में कुछ नहीं कहते। इनके मत से अम्ल स्वाद संवेदन साधारण संवेदन के अन्तर्गत है तथा धातव एवं क्षार स्वादसंवेदन विशुद्ध स्वादसंवेदन तथा स्पर्श संवेदन का व्यामिश्र अथवा उसका साधारण संवेदन है। इसे प्रकारान्तर से शीतोष्ण संवेदन भी कह सकते हैं। पीपरमेन्ट का संवेदन शीतात्मक है।[2]

---

1. "....Physiologist generally distinguish four principle classes of taste—sweet, bitter, salt and sour. Wundt adds to these four the alkaline and the metallic. But possibly the alkaline may be considered as a modification of the salt, and the matallic is probably a compound laste, although its analysis is by no means easy. The attempt has been made by Valentin and others to reduce this number to two—the sweet and the bitter. The sour is thus considered as not a pure sensation of taste but as predominatingly a sensation of touch."
"The hypothesis of four or more specially different forms of the end—apparatus corresponding to the primary forms of sensation, for example, "bitter testing", nerve filures, "sweet testing" nerve fibers, etc offers–under the law of the specific energy of the nerves, as opportunity for explaining all the phenomena of this sence some what similar to that embraced by the so-called young Helmholtz theory of colour sensations."
—Elements of Physiological Psychology by G.T. Lodd, p. 314
2. "The sensation of bitterness such as that produced by qunine and the sensation of sweetness, such as that produced by sugar are very definite and specific sensations; they appear to be of an order

साधारणतया सरस द्रव्यसमूह के साथ मुख की श्लैष्मिक झिल्ली के संसर्ग से स्वादसंवेदन की उत्पत्ति होती है। सरस द्रव्यसमूह किसी न किसी रूप में अपनी रासायनिक परिच्छिन्न प्रकृति के प्रभाव से रासनस्नायुरज्जु प्रान्त में क्रिया करते हैं। हम जब कुनैन का आस्वादन करते हैं तब कुनाईन के अणुसमूह स्वादकोरक कोष समूह में (In the cells of the taste Buds) किंवा जिह्वा त्वक् के प्रदेशान्तर में रासायनिक परिवर्तन संघटित करते हैं तथा उसके कारण रासन स्नायु समूह में क्रिया अथवा प्रवृत्ति का उदय होता है (रासन-रसना)। मधुर तथा तिक्त स्वाद प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में अध्यापक फॉस्टर कहते हैं कि हमारे ज्ञान में अनेक उन्नति हुई है। द्रव्यों में जिनका आस्वाद मधुर अथवा तिक्त है, देखा गया है कि वे सतत निर्दिष्ट अणु समूहात्मक एक-एक श्रेणी अथवा राशि हैं। मधुर तथा तिक्त स्वाद विशिष्ट द्रव्यसमूह को अध्यापक फॉस्टर ने हाईड्रोस्किल (hydroxyl) तथा एमिडो श्रेणी भुक्त कहा है। (एमिडो=Amido)। एक हाईड्रोजन के तथा एक ऑक्सीजन के परमाणु अथवा दो हाईड्रोजन तथा दो ऑक्सीजन के परमाणु से सम्मूर्च्छित सांयौगिक को हाईड्रोस्किल तथा हाईड्रोपराक्साईड इस नाम से कहा गया है तथा नाइट्रोजन एवं हाईड्रोजन के सांयौगिक विशेष को (NH_2) आमीडो श्रेणी कहा गया है।[1]

धन (Positive) तथा ऋण (Negative) परस्पर विषम यह पदार्थद्वय परस्परतः रासायनिक संयोग से संयुक्त होते हैं। धन के साथ धन का अथवा ऋण के

---

different from those of acidity or sourness and of saltness; indeed an acid taste, is apt-to merge into an affection of general sensibility mentioned above. The metallic and alkaline taste should perhaps be regarded as due to fusion of taste sensations prefer with sensations of touch or of common sensibility, or even of temperature; one of the elements in the taste of peppermint is undoubtly a sensation of cold." —Physiology by Foster, p. 1514

1. "In the ordinary course of things these sensations are excited by the contact of specific substances with the mucous membrane of the mouth, the substance acting in some way or other, by virtue of their chemical constitution, on the endings of the gustatory fibers. When we taste quinine, the particles of the quinine, we must suppose, set up chemical changes in the cells of the tastebuds or in other parts of the epethetium and by means of those changes gustatory impulses are started.... Substances which taste sweet or bitter are found always to contain certain difinit groups in the molecule especially the hydroxyl (OH) and amido (NH_2), group. Moreover it seems as if a certain definite balance between positive and negative radicals must exist in order that a substance shall taste sweet, for when such a substance is so altered chemically that this balance is upset, the resulting derevatives are, according to circumstances, either bitter or tasteless...." —Physiology by Foster, p. 1514

साथ ऋण का रासायनिक संयोग नहीं होता है। सांयौगिक पदार्थसमूह के धन तथा ऋण धर्मात्मक घटकावयव समूह का निर्दिष्ट Balance विद्यमान रहता है। अध्यापक फास्टर अनुमान करते हैं कि द्रव्यसमूह की मधुर रसाभिव्यक्ति में इस Balance का साम्यभाव प्रयोजनीय है। इस Balance का विपर्यय होने पर द्रव्यसमूह तिक्तस्वाद न होकर स्वादरहित हो जायेगा।[1]

डॉक्टर मैक्कश (J. Mccash) कहते हैं कि जिह्वा के अग्र भाग में ही स्वादक्षेत्र है। यह अग्रभाग भिन्न जातीय प्रलम्ब-उत्सेध (Papillae) द्वारा समाच्छादित है तथा इसमें जिह्वामूल स्नायु तथा रासनस्नायु (पंचमस्नायुयुग्म शाखा) विद्यमान है। जो द्रव्य स्वादेन्द्रिय यन्त्र में क्रिया करते हैं, उनको तरलावस्थापन्न होना चाहिए, अन्यथा स्वादेन्द्रिय यन्त्र क्रिया नहीं करते। सरसद्रव्य के साथ रसनेन्द्रिय यन्त्र के संयोग के बिना यान्त्रिक उपाय से जिह्वा के मूलदेश को उत्तेजित करने पर भी स्वादानुभव होता है। बहुप्रतीयमान स्वादसंवेदन को गन्धसंवेदन रूप ग्रहण किया जा सकता है।[2] गन्धसंवेदन के साथ स्वादसंवेदन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। श्लेष्माधिक्य के कारण जब घ्राणेन्द्रिय यन्त्र अच्छी तरह क्रिया नहीं करता, तब हमें बहुत से द्रव्यों का अच्छी तरह से आस्वाद नहीं मिलता।

विद्वान् एच० मैन्सेल (H. Mansel) कहते हैं कि स्वाद का गन्ध के समान कोई श्रेणीविभाग नहीं हो सकता। स्वादयन्त्र जिनमें अनुकूल संवेदन का उदय करता है, वे सुखप्रद अथवा सुस्वादुरूप से तथा जिनमें प्रतिकूल संवेदन का उदय करता है, वे बाधाप्रद अस्वादरूप से अनुभव करते हैं। स्वाद तथा गन्ध, दोनों स्पर्श का ही रूपान्तर है।[3]

स्वाद के सम्बन्ध में पाश्चात्य शरीरविज्ञान तथा मनोविज्ञान ने जो मत प्रकाशित किया है, यथा प्रयोजन उसे बताया गया। हमारे विचार से आयुर्वेद के स्वाद विषय उपदेश का मूल्य अधिक है।

प्रकृति की साम्यावस्था से सुख तथा आरोग्य प्राप्ति होती है। इसकी विषमता से दुःख तथा रोग का कारण बन जाता है। अष्टांगहृदय संहिता ने वात, पित्त, कफ

1. "Hydrogen Dioxide, Peroxide, Hydroxyl–Formula H_2O_2"
—Textbook of Inorganic Chemistry by Jago, p. 105
2. "Its seat is in the upper surface of the tongue, which is covered with papillae of different kinds, and is supplied with two nerves, the glosso pharyngeal and the gustatory, a branch of the fifth pairy the matter affecting the tongue must be in a liquid state in order to its being felt. Taste is affected by mechanical means, as by irritating, the root of the tongue. Many seeming tastes may be regarded as smells. —Psychology by McCash p. 32
3. "Tastes like smells, admit of hardly any classification, except in respect of their relation to the sensitive organism, as pleasent or painful. Taste like smell is thus a modification of touch."
—Metaphysics by Manset, p. 74-75

रूपी दोषत्रय की साम्यावस्था को आरोग्य तथा इनकी विषमता को व्याधि कहा है।[1] स्वास्थ्य का अर्थ है स्वस्थ का भाव। स्व = आत्मा। जो स्व अर्थात् आत्मा में स्थित स्वभाव में प्रतिष्ठित है, वह है स्वास्थ्य। इस स्वस्थ में, स्वभाव में अवस्थिति का जो भाव है, वही स्वास्थ्य शब्द का प्रकृत अर्थ है। स्वास्थ्य ही सुख तथा आनन्द है। इसका लक्षण क्या है? कौन वस्तुतः स्वस्थ है—स्वभाव में स्थित है? स्वास्थ्य का प्रकृत लक्षण है अपरिच्छिन्न भाव से परमात्मा तथा ब्रह्मभाव में अवस्थिति। अखण्ड सच्चिदानन्दमय ब्रह्म अथवा आत्मा ही सर्वपदार्थ का प्रकृत स्वभाव है। जो देशतः, कालतः, वस्तुतः परिच्छिन्न, देशतः कालतः तथा वस्तुतः बाधित है, वह अल्प है। वह स्वभावच्युत है। वह परमार्थतः अस्वस्थ है। छान्दोग्योपनिषत् इसीलिए कहता है—"जो भूमा है—महत्-निरतिशय-अपरिच्छिन्न-अनन्त है, जो देशादि द्वारा बाधित नहीं है, अतः (unconditioned-unlimited) वही है सुख। जो अल्प है, सातिशय है, परिच्छिन्न है, देशादि से बाधित है, वह सुख नहीं है।" जो आत्मा का अनुकूल वेदनीय है, वह सुख है, जो प्रतिकूल वेदनीय है, जो बाधनालक्षण है, वह है दुःख। सुख-दुःख का यह लक्षण अल्प चिन्तन से ही उपलब्ध होता है। यह उद्धृत श्रुत्युपदेशमूलक है। जगत् आत्मा का माया परिच्छिन्न रूप है। यह अखण्डैकरस परमात्मा का स्वरूप नहीं है। अतएव जागतिक पदार्थ, परिच्छिन्न सत्व, वास्तव में स्वभाव नहीं है। जागतिक अथवा परिच्छिन्न पदार्थ मात्र ही स्वरूपतः स्वभावच्युत है। परमार्थतः अस्वस्थ है। स्वभावच्युत अथवा अस्वस्थ जागतिक पदार्थ इतना चंचल है, इतना उद्विग्न है कि वह स्वपद प्रतिष्ठित होने के लिए इतना व्यस्त है।

हम स्वभावच्युत तथा स्वपदभ्रष्ट हैं, क्या यह हमें हृदयंगम होता है? हमारा अपना निवास-स्थान सच्चिदानन्द निकेतन पुण्यापुण्य कर्मतस्कर द्वारा अपहारित है, क्या हम समझ पाते हैं? समझकर भी नहीं समझते। यदि एक बार भी नहीं समझ पाते, तब इसी मरुभूमि में स्थिरभाव से पड़े रह जाते। ईप्सिततम को पाने के लिए कर्म में प्रवृत्त नहीं होते। आनन्द के लिए लालायित न होते। जो व्यक्ति बहुत दिनों तक रोग भोगता है, उसकी क्रमशः रोग भोगने की शक्ति सहने की शक्ति विकसित हो जाती है। वह रुग्ण अवस्था को ही स्वस्थ मानने लगता है। मैंने एक यक्ष्मा-पीड़ित व्यक्ति की चिकित्सा करते समय देखा था, उस रोगी का शरीर-ताप 104 डिग्री था। रोगी कह रहा था, आज ज्वर का पता नहीं चल रहा है, लग रहा है आज ज्वर नहीं है। उसका जब शरीर-ताप 104 डिग्री से ऊपर जाता, तब उसकी समझ में आता कि आज ज्वर हो गया है। कुछ नूतन न होने पर हमारी अनुभूति में नहीं आता, जिस श्वासक्रिया के क्षणकाल के लिए रुक जाने पर हमारा जीवन विपन्न होता है, क्या हम उस श्वास क्रिया की अविराम गति को एक क्षण के भी लिए लक्ष्य करते हैं? श्वासक्रिया का किसी प्रकार का अवरोध होने पर अथवा गति विषमता होने पर तब वह हमें लक्ष्यीभूत होती है।

---

1. "रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगिता"—अष्टांगहृदय संहिता

जो व्यक्ति कर्म के लिए बहुत समय विदेश में रहता है, विदेश ही उसका स्वदेश हो जाता है। उसी में उसकी ममता हो जाती है। वह पुनः स्वदेश आने के लिए उतना व्यस्त नहीं होता। यह भवरोग हमारा अति पुरातन रोग है। जब हमारा जन्म हुआ है, उस दिन से हम स्वपदभ्रष्ट हो गये हैं। सच्चिदानन्द ब्रह्मभवन से अविद्या की गोद में आश्रय लेकर विमूढ़ पथिक की तरह प्रायः नाना देशों में भ्रमण कर रहे हैं। विश्रामायतन के प्रार्थी होकर दिक्-दिक् में पतित तथा विविध अवस्थाओं को प्राप्त हो रहे हैं। माया के आकर्षण से आकृष्ट होकर अथवा व्युत्थान शक्ति द्वारा प्रणोदित होकर विविध परिणाम को प्राप्त हो रहे हैं। स्वगृह स्थित चिन्तामणि को स्वगृह में न खोजकर वन-वन में भ्रमण कर रहे हैं। उसी दिन से हम भवरोग से आक्रान्त हैं। इसीलिए हम इस भवरोग को रोग नहीं मानते। तब जब ताप 104 डिग्री से ऊपर होगा, तब उस रोगी की भाँति एक प्रकार की वेदना का अनुभव होगा। पुत्र, प्रपौत्र, भार्या, भ्राता, माता, पिता, धन प्रभृति प्रिय पदार्थों का जब अभाव अथवा बाधित भाव होता है, अपना शरीर तथा मनः जब विशिष्ट रूप से अस्वस्थ होता है, तब संसार को अनित्य, दुःख का स्थान मानते हैं। तब यह ज्ञात होता है कि संसार हमारा स्वदेश नहीं है। हम इस राज्य की प्रजा नहीं हैं। जो भी हो, हमारी परिच्छिन्न प्रकृति, हमारी जीवात्मा, हमारा अहं (Ego) उन वस्तुस्थिति को जो संवादी हैं अनुकूल हैं, उसे सुखकर-स्वात्म्य तथा जो इसके विपरीत है, उसे दुःखजनक तथा असात्म्य अवधारित करता है। सात्म्य का संयोग सुख का तथा असात्म्य का संयोग अथवा सात्म्य का वियोग दुःख का कारण है।

कुनाईन, चिरायता प्रभृति हमारी परिच्छिन्न प्रकृति में असात्म्य हैं, अतः इनका संयोग हमारा इष्ट नहीं है। ये हमारी जिह्वा को मधुर नहीं लगते। जो प्रकृति संवादी है, वही सुखकर है। जो सुखकर है, वही है मधुर। दुग्धादि पदार्थ हमारी प्रकृति में साधारणतः संवादी हैं। कुनाईन आदि के समान विसंवादी नहीं हैं। अतएव ये हमारे इष्ट हैं। हमारे लिए सुखकारी हैं। तभी हम दुग्धादि को पाना चाहते हैं। कुनाईन आदि का त्याग करना चाहते हैं। बाध्य हुए बिना इन्हें लेना नहीं चाहते। चरकसंहिता में कहा है कि मधुररस हमारे लिए सात्म्य है। अतः उसे सबका प्रिय माना जाता है। व्यक्तिभेद से रुचिभेद होता है, साथ ही व्यक्ति की शारीरिक अवस्था तथा आयुभेद से रुचि परिवर्तित भी हो जाती है। प्रकृति भेद तथा शारीरिक अवस्थागत भेद इसका कारण है। वातप्रधान-पित्तप्रधान-कफप्रधान प्रकृतिभेद से आहारादि रुचि का भेद होना प्राकृतिक नियम है। जिनकी प्रकृति जिसे नहीं चाहती, जिनकी प्रकृति हेतु जो प्रतिकूल है, विसंवादी है, उसे वे इच्छापूर्वक कैसे ग्रहण करेंगे? दैहिक प्रकृति भेद से शरीरोपादान अणुसमूह का सन्निवेश भिन्न होता है। इसीलिए किसी जिह्वा में तिक्तरस भी संवादी प्रतीत होता है। रोग से अथवा वयः के परिवर्तन से, जिह्वा के अणुसन्निवेश का विपर्यय

होने से, पहले जो रस स्वादुरूप अनुभूत हो रहा था, वही अस्वादुरूप से तथा जो रस अस्वादु अनुभूत हो रहा था, वह अब स्वादु प्रतीत हो रहा है।

स्थितिस्थापक धर्म के स्वरूप दर्शन के लिए प्रयत्नशील होने पर हमें विदित होता है कि प्रत्येक मूर्त्तद्रव्य की एक-एक आपेक्षिक साम्यावस्था (Position of Relative Equlibrium) है। जिस द्रव्य की जैसी आपेक्षिक साम्यावस्था है, उस द्रव्य का वही स्वरूप है। इस आपेक्षिक साम्यावस्था से विच्युति को कोई मूर्त्त अथवा परिच्छिन्न द्रव्य अबाध रूप से सहन नहीं कर सकता। अतः क्रिया मात्र की प्रतिक्रिया है। (To every action there is always an equal and contrary reaction)। अतएव स्पर्शवत् अथवा परिच्छिन्न द्रव्यमात्र ही स्थिति स्थापक है। इसलिए सभी स्पर्शद्रव्य अपनी-अपनी आपेक्षिक साम्यावस्था में स्व-स्वभाव में विद्यमान रहने की प्राणपण से चेष्टा करता है। आपेक्षिक साम्यावस्था से जो पदार्थ लक्षित होता है, परिच्छिन्न प्रकृति कहने से भी वही पदार्थ लक्षित होता है। प्रत्येक व्यक्ति की आपेक्षिक साम्यावस्था ही उसका स्वास्थ्य है। यही उसका स्वभाव है। इसकी बाधितावस्था ही रोग है। यही दुःख है। इस आपेक्षिक साम्यावस्था के जो अनुकूल है, वही सुखकारी है, वही इष्ट है एवं जो प्रतिकूल है, इसका विरोधी है, वह दुःखजनक है। वह त्याज्य है। आपेक्षिक साम्यावस्था के अनुकूल पदार्थ के प्रति लोगों का राग (Attraction) है और उसके प्रतिकूल पदार्थ के प्रति विराग होता है। द्वेष (Repulsion) होता है। इसके संवादी को प्रिय, अमृत, हृद्य कहते हैं। विसंवादी को अप्रिय, विष तथा अहृद्य कहा गया है।

आत्मा अथवा प्रकृति की अबाधितावस्था सुख है। बाधितावस्था को दुःख कहा गया है। सुख-दुःख के इस लक्षणानुसार इनका स्वरूपदर्शन करने के लिए आत्मा तथा प्रकृति का स्वरूप दर्शन अवश्य प्रयोज्य है। अतः हम आत्मा तथा प्रकृति के स्वरूपदर्शन में प्रवृत्त हो रहे हैं। आत्मा की अबाधितावस्था सुख है तथा बाधितावस्था दुःख है। यही आत्मशब्द जीवात्मा का वाचक है। आवरण तथा विक्षेप शक्तियुक्त (तमोगुण = आवरण शक्ति), (रजोगुण = विक्षेपशक्ति) अविद्या संज्ञक पदार्थ का परिच्छिन्न अनन्त देशसमूह में जो चित्प्रतिबिम्ब है, वही है जीव। अतएव जीव परिच्छिन्न (Conditioned) सत् है। चित्संवित् वास्तव में परिच्छिन्न नहीं होता। प्रकृति के परिच्छेद के कारण वह परिच्छिन्न-सा प्रतीत होता है। तरंगित जलाशय में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जिस प्रकार से चंचल भासित होता है, उसी प्रकार परिच्छिन्न प्रकृति प्रतिबिम्बित चित्संवित् परिच्छिन्न जैसा प्रतीत होने लगता है। अतः जीवात्मा का स्वरूपदर्शन करने के लिए परिच्छिन्न प्रकृति का स्वरूपदर्शन आवश्यक है। प्रकृति के कर्म द्वारा हम प्रकृति को जानते हैं। इसीलिए कर्मशब्द प्रकृति के वाचक रूप में व्यवहृत होता है। मनुष्य की प्रकृति को जानने के लिए हम यह जानने की चेष्टा करते हैं कि मनुष्य का कर्म क्या है? मनुष्य किस कर्म का निष्पादन करता है?

मनुष्य-शरीर में ज्ञान, परिचालन तथा पोषण यह त्रिविध क्रिया होती रहती है। शक्ति तथा यन्त्र के संयोग के अभाव में कोई भी कर्म निष्पादित नहीं होता। अत: मनुष्य के इस त्रिविध कर्म के निष्पादन हेतु प्रधानत: त्रिविध शक्ति तथा त्रिविध यन्त्र हैं, यह अनुमान किया जाता है। जिस शक्ति से शरीर घृत है, उसे प्राणशक्ति कहते हैं। प्राणशक्ति तथा पोषणशक्ति भिन्न पदार्थ नहीं है। विसर्ग-आदान तथा विक्षेप क्रिया द्वारा शरीर घृत होता है। इसलिए प्राण अथवा पोषणशक्ति, विसर्गादि त्रिविध क्रिया निष्पादक शक्ति तथा यन्त्र का स्वरूपज्ञान होने पर प्राण अथवा पोषणी शक्ति का दर्शन होगा। परिपाक किंवा समानयन्त्र, श्वास अथवा प्राणयन्त्र, शोणित संचालन अथवा व्यानयन्त्र, समुत्वर्ग अथवा अपान यन्त्र—ये हैं पोषणी शक्ति की क्रिया का सम्पादन करने में उपयोगी यन्त्र। कण्ठ अथवा अन्ननाली तथा उससे संयुक्त नि:श्रावण ग्रन्थि-समूह (Alimentary canal and annexed secretory glands), यह सब परिपाक यन्त्रान्तर्गत कहा गया है। फुफ्फुस (Lungs) यह श्वासयन्त्र है। हृद्यन्त्र, शिरा, धमनी, स्रोत: इत्यादि शोणित यन्त्र हैं। वृक्क (Kidney) तथा फेफड़ा एवं त्वक्, यह समुत्सर्ग यन्त्र है। आहार पाक, आशोषण, परिपाक यन्त्र का कार्य है। वायुमण्डल (Atmosphere) से प्राणवायु का, विष्णुपदामृत का ग्रहण तथा उसके अनन्तर प्रश्वास (अङ्गाराम्न वाष्प) का त्याग श्वासयन्त्र से एक विनिमय व्यापार (Exchange of Gases) के रूप में साधित होता है। समग्र शरीर में रक्त का परिवेशन तथा नवीकरण (Distribution and renovation of blood throughout the organism) शोणित संचालन यन्त्र का कार्य है। पैशिक रज्जु (Muscular fibre) इस यन्त्र का प्रधान उपादान है। रक्त से यूरिया का विभाग करना ही समुत्सर्ग यन्त्र का प्रधान कार्य है।

पैशिक संस्थान तथा स्नायव संस्थान संयोगात्मक शारीरयन्त्र है जो समग्र शारीरयन्त्र का युगपत् प्रभु तथा भृत्य है, परिचारक है। इस यन्त्र की आज्ञा के बिना अन्यान्य शारीरयन्त्र क्रिया नहीं कर सकते। वे सब इसी के नियमाधीन हैं। इस कारण पैशिक तथा स्नायुयन्त्र संहति अन्य शारीरयन्त्र का प्रभु है। यदि पोषणयन्त्र पैशिक तथा स्नायव संस्थान का पोषण न करे, तब वे क्रिया नहीं कर सकते। इसलिए ये पोषण यन्त्रसमूह के भृत्य के समान हैं। पोषणयन्त्र तमोगुण प्रधान त्रिगुण परिणाम है। पैशिक संस्थान रजोगुण प्रधान त्रिगुण परिणाम हैं, स्नायव संस्थान सत्वगुण प्रधान त्रिगुणपरिणाम कहे गये हैं। सत्व-रज:-तम: इतरेतराश्रय वृत्तिक हैं। अन्योन्यमिथुन वृत्तिक हैं। इनमें एक भी अन्य की सहायता के बिना, अन्य की अपेक्षा के बिना कोई कार्य नहीं कर सकता। ये कभी वियुक्त होकर अवस्थित नहीं रह सकते। ज्ञानयन्त्र परिचालनयन्त्र तथा पोषणयन्त्र एक-दूसरे पर आश्रित हैं। अन्योन्यमिथुन वृत्तिक हैं। हमारा शरीरयन्त्र विधि के अनुसार अथवा नियमतन्त्र राज्य विशेष (Government of the Constitutional Type) है।

देहराज्य का कार्य निश्चित नियम कानून के अनुसार निष्पादित होता है। स्नायुकेन्द्र समूह (Nervous Centres) स्नायुगण द्वारा बहिर्देश का संवाद ग्रहण करते हैं। आन्तर शारीरयन्त्र में कहाँ किसका अभाव है, उसे पूर्ण करते हैं। मस्तिष्क (Brain) तथा कशेरुक मज्जा, प्रधान स्नायुकेन्द्र (Principle Nerve-centre) है। त्वक्-नयन-कर्ण-नासिका-जिह्वा को प्रधान ज्ञानेन्द्रिय (The principle sense organs) मानते हैं। पेशियाँ समस्त शारीरराज्य का कार्य निर्वहण करने वाले अनुष्ठान में नियुक्त यन्त्र (Executive Organs) हैं। पेशियों को 2 भागों में बाँटा गया है। प्रथम बहिर्भव परिचालन निष्पादक यन्त्र (Muscles of external movement) तथा आन्तर परिचालन निष्पादक यन्त्र (Muscles of Internal Movements)। जो पेशियाँ अस्थियों के साथ संयुक्त हैं, वे बहिर्भव परिचालन निष्पादक हैं। जो कोष्ठ है, वे गम्भीर उदरयन्त्र तथा रक्ताशय समूह का वरण तथा प्राकार का प्रधान भाग निर्मित करते हैं। (Those which form the chief bulk of the walls of the hollow viscera and of the blood vessels)। वे उसके आन्तर परिचालन का निष्पादन करते हैं। ये पेशियाँ इच्छाधीन नहीं हैं। अतः इनको अनैच्छिक (Involuntary) तथा बहिर्भवपरिचालन निष्पादक पेशीसमूह को ऐच्छिक (Voluntary) कहा जाता है। आयुर्वेद परस्परतः विभक्त मांसावयव संघात को पेशी (Muscles) कहता है। मांस ही पेशी का प्रसिद्ध तथा व्यावहारिक नाम है। पाश्चात्य विज्ञान के पठन से यह विदित होता है[1] कि पेशी का विश्लेषण करने से जल, प्रोटिड, अन्यान्य यवक्षारात्मक द्रव्य, लवण तथा कार्बोहाईड्रेट प्राप्त होता है।

ऐच्छिक पेशी (Voluntary Muscles) के क्रिया तत्व के आधार पर नरशरीरवेत्ताओं ने पेशी क्रिया विज्ञान की व्याख्या की है। ये प्रसारणशील तथा स्थितिस्थापक (Extensible and Elastic) और उत्तेजनीय तथा संकोचनशील (Excitable and Contractile) हैं। आकुंचन शैत्य का तथा प्रसारण ताप का कार्य है। अथवा आकुंचन सोम का तथा प्रसारण अग्नि का कार्य है। शास्त्रपाठ से ज्ञात होता है कि अखिल जागतिक कार्य अग्निषोमात्मक है। केवल पेशी ही क्यों, समस्त जागतिक पदार्थ आकुंचन—प्रसरणशील हैं। स्थितिस्थापक धर्म को (Elasticity) स्पर्शवद्द्रव्य का साधारण धर्म कहते हैं। संकोचन-आपीडन (Compression), आकर्षण (Attraction), आनमन (Flexion) तथा व्यावर्त्तन (Torism), इन चतुर्विध यान्त्रिक क्रियाओं से स्पर्शवद् द्रव्यों का स्थिति परिवर्तन संघटित होता है।

1. ''मांसावयवसंघातः परस्पर विभक्तः पेशी इत्युच्यते''—सुश्रुतसंहिता
"Muscle–or, to call it by its popular names, flesh or meat–is mainly composed of water and of proteid."
—Human Physiology by Walter, p. 319

अध्यापक वेमा (Prof. Bayma) कहते हैं कि स्थितिस्थापक धर्म के लिए चातुर्विध्य अंगीकार करना चाहिए।[1] स्थितिस्थापक धर्म के चातुर्विध्य प्रदर्शनार्थ अध्यापक वेमा जिन सब बातों को कहते हैं उससे ज्ञात होता है कि आणविक सन्निवेश तारतम्य ही स्थितिस्थापक धर्म के चातुर्विध्य का कारण है। पेशीसमूह से देहराज्य का जो-जो कार्य सम्पादित होता है, उसका कारण क्या है? पेशीसमूह प्रसारणशील, स्थितिस्थापक, उत्तेजनीय तथा संकुचनशील क्यों हैं? पेशी-स्नायु-शिरा-धमनी प्रभृति शरीरयन्त्रसमूह जब एक Cell से जन्मलाभ करते हैं, तब इनके धर्म तथा क्रियागत पार्थक्य का कारण अवश्य ज्ञातव्य है। अध्यापक मैकलिस्टर (Macalister) कहते हैं कि समस्त प्रोटोप्लाज़्म ही बाह्यशक्ति कर्तृक प्राणन् व्यापार निष्पादन से उत्तेहित हो सकते हैं। अन्य की सहायता के बिना एक प्रोटोप्लाज़्म प्राणधारणोपयोगी सर्वप्रकार के कर्मनिष्पादन के योग्य है। तब भी जीवजाति के उन्नतिविधायक, वृद्धि तथा विपरिणामजनक पृथक्करण व्यापार (Differentiation) के आरम्भ होने पर अनेक सेल (Cell) में शरीरकर्म निष्पादन श्रम का विभाग हो जाता है। इसके कारण कोषात्मक शारीरविधान के एक अंश के संकोचनशीलत्व का आधिक्य होने से पेशी संगठित होती है और अन्य अंश के कोषसमूह के स्तरपृष्ठ की संवेदन ग्रहण योग्यता समुपचित अथवा समाहित होती है।

उद्भिद् के प्रोटोप्लाज़्म का अनुबन्ध (Continuity) परस्परतः सन्निकृष्ट, श्रेणीभूत कोषसमूह द्वारा होता है। उद्भिद् शारीरयन्त्र संहति की यही पद्धति है। तथापि केवल प्रोटोप्लाज़्म के अनुबन्ध से जैवशरीर यन्त्रों का संगठन नहीं हो जाता। इसके संगठनार्थ अन्य साधन का भी प्रयोजन है। उद्भिद् स्थावर सप्राण पदार्थ हैं। इनमें प्राण है। यही प्राणशक्ति का प्राथमिक आविर्भाव क्षेत्र है। जीवसमूह को एक कोषात्मक अमीबा तथा बहुकोषात्मक (Metazoa, or animals composed of many cells so united as to form tissues) इन दो प्रधान श्रेणी में विभक्त किया गया है।[2] अध्यापक मैकलिस्टर कहते हैं कि निम्नश्रेणी के बहुकोषात्मक जीवगण का शारीरकर्म निष्पत्ति क्रमविभाग (Physiological division of labour) अंशतः होता है। निम्नश्रेणी के बहुकोषात्मक जीवगण के पैशिक तथा स्नायव यह दोनों कार्य बाह्यत्व कोषसमूह (Ectodermal Cells) द्वारा निष्पादित

1. "A Body may be altered by mechanical action in four distinct ways, Viz. By compression, traction, flexion and torsion. Hence four kinds of elasticity can be admitted."
—The Elements of Molecutar Mechanics by J. Bayma, p. 196
2. "The animal kingdom is composed of protozoa or unicellular animals,–eg–Ameoba, and metazoa or animals composed of many cells so united as to form tissues : e.g. all animals, and which alone produce eggs (ova)"
—Human Embroyology by Manton, p. 1-2

होता है तथा इसीलिए उक्त कोषसमूह स्नायव पैशिक कोष (Neuro Muscular Cells) इस नाम से अभिहित है।

उच्चश्रेणी के जीवसमूह में संस्कार ग्रहण तथा संचारण शक्ति केवल निर्दिष्ट अंगों के ऊपरी भाग के कोषसमूह में परिच्छिन्न होकर रहती है। इन कोषों को स्नायुकोष कहा जाता है। सभी स्नायव तथा पैशिक कोष यद्यपि कार्यतः परस्पर सम्बद्ध हैं तथापि पैशिक कोषों से स्नायव कोषसमूह विशेषात्म भाव प्राप्त करते हैं। सविभक्त होते हैं। उच्चश्रेणी के जीवों के स्नायुकोष समूह बाह्य उत्तेजक का संस्कार ग्रहण करते हैं तथा उसकी स्नायवीय शक्ति को प्रवृत्ति रूपेण प्रवर्तित करते हैं। स्नायु से संलग्न पेशी में इसके द्वारा आकुंचन कर्म आरम्भ हो जाता है। जीवितावस्था में जब पेशियाँ स्नायु से उत्तेजना प्राप्त करती है, तभी आंकुचित होती हैं।[1] शास्त्र का उपदेश है कि प्रकृति के आपूरण से सर्वप्रकार परिणाम संघटित होते हैं। प्रकृति सर्वविध परिणामसाधन योग्यता युक्त है। प्रकृति सर्वशक्तिमती तथा सर्वप्रकार के परिणामसाधन की योग्यता से युक्त होने पर धर्माधर्म की मुखापेक्षा करके परिणामसाधन करती है। सब प्रकार के परिणामों का निमित्तकारण है धर्माधर्म। ''सर्वशक्तिमती प्रकृति धर्माधर्म की मुखापेक्षी हो परिणामसाधन करती है तथा धर्माधर्म सर्वविध परिणाम का निमित्तकारण है।'' यह बात आधुनिक विज्ञान के लिए सर्वथा विरोधी है, ऐसा मानना उचित नहीं है। तब भी शास्त्र ने इस तत्व की जिस प्रकार से व्यापक तथा विशुद्धरूप से व्याख्या की है, आज भी विज्ञान इस तत्व की उस प्रकार से व्याख्या करने में समर्थ

---

1. "All protoplasm is capable of being stimulated to metabolism and the discharge of energy by external agencies; but in the differentation which characterises the development of animals, a physiological division of labour takes place in many cells, whereby the contractility of one part of the apparatus become intensified, consisting muscular tissue, while the capacity of receiving sensations becomes concentrated in other cells of the surface layer. In vegetables, the continuity of protoplasm in contiguous cells in the method whereby the organism is unified; but in animals, where this continuity fails, a supplemental contrivance in needed for the purpose. In the lower metazoa this differentation in partial, sensation being possessed by most of the ectodermal cells, whose bases are elongated into long contractile processes, on which account they are called neuro-muscular cells. In animals of a higher grade, the capacity of receiving and transmitting impressions becomes limited to the cells of a certain part of the surface only, and these, which are called nerve become differentiated from the cells of the muscular system although correlative to them is function. In such animals the nerve cells receive the impress of a stimulus from without and transform it into an impulse of nerve force, which sets up contraction in the muscle connected therewith ......" —Human Anotomy by Maclister, p. 49

नहीं हो सका है। कार्यकारण सम्बन्ध विचार में प्रवृत्त होकर आधुनिक दार्शनिक, वैज्ञानिक पाश्चात्य विद्वानों ने शक्तिसातत्य (Persistence of force and conservation of energy) को प्रधानतः लक्ष्य किया है।

धर्म अथवा शक्तिसमूह एक भाव अथवा एकरूप अवस्था का त्याग करके अवस्थान्तर ग्रहण करता है, किन्तु ये तत्वतः अपेत अथवा वर्द्धित नहीं होते। समष्टिभूत जो शक्ति है, उसके मान में ह्रास-वृद्धि नहीं है। यह सतत समान रहती है। यांत्रिक शक्ति (Mechanical Force), रासायनिक शक्ति (Chemical Force), ताड़ित् शक्ति (Electrical Force), जीवनी शक्ति (Vital Force), सभी इतरेतर सम्बद्ध हैं। प्रत्येक ही प्रत्येक का आकार ग्रहण करती है। प्रत्येक ही प्रत्येक के भाव से भावित होती है। शक्तिसमूह में भावान्तर प्राप्तिशीलत्व, रूपान्तर ग्रहण योग्यत्व रहता है। ये भी इतरेतर सम्बद्ध हैं। शक्ति का तत्वतः ध्वंस नहीं होता। इसीलिए जगत् में विविध-विचित्र परिणाम संघटित होते हैं। शक्तिसमूह में तत्वतः ध्वंसराहित्य, आत्मसंरक्षणशीलत्व (Conservation), इनका सातत्य (Persistence), इतरेतर सम्बन्ध (Correlation), भावान्तर प्राप्तिशीलत्व (Convertibility) तथा तुल्यवृत्तिकत्व (Equivalence) यह सब वैज्ञानिकों की दृष्टि में कारणतत्व है। किन्तु यहाँ जिज्ञासा होती है कि धर्मी अथवा वस्तुसमूह निर्दिष्ट धर्म अथवा योग्यता युक्त है, साथ ही एक धर्मी अथवा वस्तुनिष्ठ शक्ति अन्य एक धर्मी अथवा वस्तु में गमन कर सकती है। शक्ति में भावान्तर प्राप्ति की योग्यता है। शक्तिसमूह में तत्वतः अपाय अथवा वृद्धि नहीं होती। यह सब जानकर भी क्या हम विविध विचित्र कार्य के स्वरूपावलोकन में समर्थ होंगे?

वैचित्र्यमय संसार में वैचित्र्य के कारणों का अनुत्सन्धित्सु मानव क्या कारणतत्व के इन कतिपय सूत्रों को पाकर स्वयं को कृतार्थ मानेगा? कारणतत्व के पहले कहे गये कतिपय सूत्रों से अवगत हो जाने पर भी इनकी स्वरूपावगति पूर्णतः नहीं हो पाती। वैचित्र्य कारणानुत्सन्धित्सु मानव इसके द्वारा यह सोचकर आत्मकाम नहीं हो सकता कि मैंने कारणतत्व का रहस्य पूर्णतः उद्भिन्न कर लिया। विद्वान् बेन (Bain), मिल (J.S.Mill) भी ऐसा नहीं सोच सके। वे इसे मान चुके हैं कि कारणतत्व के कतिपय साधारणसूत्र द्वारा विविध विचित्र कार्यसमूह का रहस्य उद्भिन्न होना असम्भव है। विद्वान् बेन कहते हैं कि कारणतत्व का स्वरूप निर्णय करने के लिए उद्यत होने पर किसी कार्य का कारणानुसन्धान करने के लिए केवल उसकी साधारण शक्ति को पकड़ने से कारणानुसन्धान यथायथ रूप में नहीं होता। केवल यह जान लेने से कि शक्ति एक भाव अथवा एकरूप अवस्था त्यागपूर्वक अन्यभाव अथवा अन्यरूप अवस्थाग्रहण करती है, कारणानुसन्धान चेष्टा फलवती नहीं हो सकती। केवल उपादान कारण ही कार्य प्रसविता नहीं है। प्रत्येक कार्योत्पत्ति में उपादान तथा निमित्त, इन द्विविध कारण का प्रयोजन है। सहकारी अथवा निमित्त-

कारण की (Collocations) विचित्रता ही विचित्र कार्योत्पत्ति का हेतु है। सहकारी अथवा निमित्तकारण को भी कार्य के कारणरूप में ग्रहण करना होगा।[1]

जर्मनी के प्रसिद्ध रसायनवेत्ता लिबिग (Liebig) कहते हैं कि अणुसमूह की परस्पर संयोगविभाग प्रक्रिया में प्रवृत्तिशक्ति अथवा रजोगुण, सन्त्यानशक्ति अथवा तमोगुण के अभिभवपूर्वक अणुसमूह को अन्यरूप में सन्निवेशित करके प्रवर्तित करता है। यह अवश्य स्वीकार्य है कि अणुओं में निर्दिष्टनियमानुसार सन्निवेशित होने की योग्यता अव्यपदेश्य अथवा सूक्ष्मभाव से (Inpotential Stage) पहले से ही विद्यमान रहती है। यदि यह योग्यता उनमें पूर्व से ही विद्यमान न रहती, तब संघर्षण तथा स्पन्दन की कोई भी कार्यकारिता उनमें न रहती।[2] वेद कहते हैं कि पंचभूत अथवा गतिशील परमाणुपुंज जगत् कार्य के उपादान कारण हैं और सृज्यमान पदार्थों के धर्माधर्म निमित्त कारण हैं। कुम्भकार मृत्तिका तथा दण्डचक्रादि से जिस प्रकार से घट निर्माण करता है, सर्वशक्तिमान परमेश्वर उसी प्रकार से पंचभूत तथा धर्माधर्म द्वारा जगत्-सृष्टि करते हैं। महर्षि गौतम कहते हैं, पूर्वकर्म शरीर की उत्पत्ति का निमित्त कारण है तथा भिन्न-भिन्न अवयवसमूह तथा आकृति-गठन के लिए परमाणुसमूह के संयोग विशेष के लिए पूर्वकर्म ही निमित्त कारण हैं। मनुष्य, पशु-पक्षी, कृमि प्रभृति जीवजाति भेद में पूर्वकर्म को ही निमित्तकारण माना गया है। इसी प्रकार धातुप्राण संवाहिनी नाड़ियों की, शुक्रान्त धातु समूह की, स्नायु, त्वक्, वात्, पित्त, कफ, अस्थि, शिरा, पेशी, कलल, शिरः, बाहु, उदर, कण्ठ, आमाशय, हृदय, पक्वाशय, अधः, स्रोतः इत्यादि की रचना में भी पूर्वकर्म कारण है।

जीव को पूर्वकृतकर्म के अनुसार ही भोगायतन देह मिलती है। सांख्यदर्शन का कथन है कि कर्मवैचित्र्य ही सृष्टिवैचित्र्य का हेतु है। कर्मविशेष ही व्यक्तिविशेष का कारण है। पातंजल दर्शन का उपदेश है कि देव-मनुष्य-पशु-पक्षी प्रभृति शरीर इन्द्रिय परिणाम प्रकृति का, उपादान कारण का आपूरण है। प्रकृति धर्माधर्मरूप निमित्त कारण

---

1. "Seeing that, in causation, there must be provided, not merely a sufficient force, energy, or moving power, but also the suitable arrangement for making the transfer as required; this completing arrangement, or collocation, is a part of the cause, and (by Ettepsis) is frequently spoken of and investigated as the cause."
—Logic by Bain, Part II, p. 32

2. "In the processes of combination and decomposition under consideration, motion, by overcoming the vis inertiae give rise immediately to another arrangement of the atoms of a body, that is to the production of a compound which did not before exist in it. Of course these atoms must previously possess the power of arranging themselves in a certain order, otherwise both friction and motion would be without the smallest influence." —Liebig Chemistry, p. 284

के वशवर्त्ती होकर परिणाम संघटन करती है। वेदान्त दर्शन का कथन है कि परमेश्वर सापेक्ष हैं। परमेश्वर धर्माधर्म की अपेक्षा करके सृष्टि करते हैं। सृज्यमान प्राणियों का धर्माधर्म ही सृष्टिवैषम्य का हेतु है। सृष्टि-प्रलय परम्परा अनादि है। पूर्व सृष्टि में कृतकर्मसमूह प्रलयकाल में संस्कारवस्था में विद्यमान रहते हैं। यह अंगीकार करने में "सृष्टि को निर्निमित्त-निष्कारण कहना होगा। वह होने पर असत् का सद्भाव तथा सत् का असत्भाव हो जाता है," इस प्रकार के असत् सिद्धान्त की शरण लेनी होगी। भगवान् जैमिनी भी कर्म को ही सृष्टि का तथा उसके वैचित्र्य का कारण मानते हैं। तर्ककेशरी उदयनाचार्य अदृष्ट के अस्तित्व का प्रतिपादन करते समय कार्यकारण के स्वरूप निरूपणार्थ प्रवृत होकर कार्यकारण के स्वरूप का निरूपण करते हैं। ये सापेक्षत्व, अनादित्व, वैचित्र्य, विश्ववृत्तिता, सुख-दुःख भोग के प्रत्यात्मनियम में इन पंचविधयुक्ति का आश्रय ग्रहण करते हैं।[1]

अंग-प्रत्यंग निर्वृत्ति स्वभाव प्रकृति से होता है। इसमें गुणागुणसमूह विद्यमान रहते हैं। इन्हें गर्भज भ्रूण के धर्माधर्म निमित्तज जानना चाहिए। भगवान् धन्वन्तरि का यह उपदेश पहले कहा गया है। अतः स्नायु-पेशी-प्रभृति की अभिव्यक्ति में गुणत्रय तथा धर्माधर्म कारण है, यह निःसन्दिग्ध है। लिंगदेह के संस्कारानुसार स्थूलदेह का निर्माण होता है, पाश्चात्य जब तक यह तथ्य उपलब्ध नहीं करते, तब तक उनके मत में अपूर्णता रहेगी।

एक कोष (Cell) से उत्पन्न शरीरयन्त्र समूह से आकृतिगत धर्मगत भेद क्यों होता है, अध्यापक मैकलिस्टर ने इस प्रश्न का जो समाधान प्रस्तुत किया है उससे तथा शारीरयन्त्र समूह की उत्पत्ति में परमाणुपुंज के परस्परतः संयोग विशेष का कारण क्या

---

1. ऋग्वेदसंहिता 8/10/81, शुक्लयजुर्वेदसंहिता 17/19

"शरीरोत्पत्तिनिमित्तयत् संयमोत्पत्ति निमित्तं कर्म।"—न्यायदर्शन 3/2/69

"यथा ऋल्विदं शरीरं धातुप्राण संवाहिनीनां नाड़ीनां शुक्रान्तनां धातुनां च वायुत्वगस्थिशिरापेशी-कललकण्ठराणा च शिरोबाहुदराणां सक्थनां च कोष्ठगानां च वातपित्तकफानां च मुखकण्ठ-हृदयामाशयपक्वाशयाधः स्त्रोतसां च परमदुःखसम्पादनीयेन सन्निवेशेन व्यूहनमशक्क्ं पृथिव्यादिभिः कर्मनिरपेक्षरुत्पादयितुमिति कर्मनिमित्ता शरीरोत्पत्तिरिति विज्ञायते।"—न्यायभाष्य

"कर्मवैचित्र्यात्सृष्टिवैचित्र्यम्" —सांख्यदर्शन 6/41

"जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्"—पातंजलदर्शन—कैवल्यपाद सूत्र 2

"वैषम्यनैर्घृण्येन सापेक्षत्वात् तथाहि दर्शयति"—वेदान्तसूत्र 2/1/34

"सापेक्षो हीश्वरी विषमां सृष्टिं निर्मिमिते। किमपेक्षत इति चेत्। धर्माधर्मावपेक्षत् इति वदामः"

—शारीरकभाष्य

"सापेक्षत्वादनादित्वाद्वैचित्र्यात् विश्ववृत्तितः। प्रत्यात्मनियमात् उक्तेरस्तिहेतुरलौकिकः॥"

—न्यायकुसुमांजलि

मीमांसक कहते हैं कि धर्माधर्म के साथ माता-पिता का संयोग शरीरोत्पत्ति का हेतु है।

"कर्मजन्योपभोगार्थं शरीरं न प्रवर्त्तते। तद्भावे न कश्चिद्धिहेतुस्तत्रावतिष्ठते।"—श्लोकवार्त्तिक

"धर्माधर्मसंहिता मातापितृसंयोगाः शरीरहेतुर्नतन्माचमिति"—न्यायरत्नाकर

है, इस प्रश्न के शास्त्रीय समाधान को जान लिया। अब पेशी तथा स्नायु का कुछ संवाद होगा। पाश्चात्य शारीरसंस्थान तथा कर्मविज्ञान (Anatomy and Physiology) ने आकुंचन तथा प्रसारण इन द्विविध कर्मानुसार, आकार तथा पैशिकरज्जु (Fibres) का सन्निवेशगत भेद के अनुसार, अधिष्ठानगत भेदानुसार तथा नियमानुसार पेशीसमूह का श्रेणी विभाग किया है। कतिपय पेशीयरज्जु दीर्घाकार लम्बमान (Longitudional) हैं। बाहु तथा पद की पेशी ऐसी ही हैं।

डॉ. वैलर (A.D.Waller) कहते हैं कि स्नायु तथा स्नायुरज्जु का श्रेणी विभाग किया गया है। उत्पत्ति तथा गति एवं मार्ग के अनुसार, उनकी अणुवीक्षण यन्त्र में देखी आकृति (Microscopical Structure) के अनुसार, उनकी भ्रौण आद्यावस्था तथा विभाग (Embroyonic origin and distribution) के अनुसार तथा उनकी क्रिया के अनुसार श्रेणी विभाग किया गया है। उत्पत्ति स्थानानुसार स्नायुयों को मस्तिष्क काशेरुक माज्जेय (Cerebro Spinal) तथा समवेदक (Sympathetic) इन दो श्रेणी में तथा आणुवीक्षणिक आकृति के अनुसार उनको भेदोमय अथवा शुभ्र (Medullated or White) एवं अभेदोमयकोषाच्छन्न अथवा धूसर श्रेणी में तथा क्रियाभेदानुसार उनको पराचीन-केन्द्रातिग (Efferent centrifugal) तथा प्रतिचीन, केन्द्राभिग (Afferent-centripetal) इन दो श्रेणी में भाग किया गया है। स्नायुविधान को केन्द्रिक तथा पारिध (Central and Peripheral) इन दो अंशों में भाग किया गया है।

मस्तिष्क, काशेरुकमज्जा तथा समवेदक ग्रन्थिसमूह (Brain-Spinal and Sympathetic Ganglia) ये केन्द्रिक (Central) स्नायुविधान के अन्तर्भूत हैं तथा जिन स्नायुओं द्वारा शरीर के अन्यान्य यन्त्रसमूह के साथ मस्तिष्क-कशेरुकमज्जा तथा समवेदक ग्रन्थि का सम्बन्ध स्थापित होता है, वे पारिध (Peripheral) हैं।[1]

---

1. "The nervous system consists of central and peripheral parts. To the first belong those large masses of nervous substance forming the brain and spinal cord, or great cerebro-spinal centre and to the second belong the various servous cords, cerebrospinal and sympathetic, which are distributed in different parts of the body. Along with these the nervous system also includes the organs of the external senses and the ganglia."

—Quáin's Element of Anatomy, Vol. I, p. 642

तथा

"The organs now being dealt with consist of (1) The central nervous system including the brain, spinal-cord, and sympathetic ganglia, and (2) The peripheral nervous system, including the nerves by which these parts are brought in relation to the other organs of the body." —Elementary Physiology by Davis, p. 127

उपर्युपरि सन्निवेशित परस्परमिलित 26 कशेरुकास्थि (Verteterae) द्वारा वृत्तवेश (Vertebral Column) निर्मित होता है। मस्तक मेरुदण्ड के ऊपर अवस्थित है। इसके अभ्यन्तर में (मेरुदण्ड के) स्थूलरज्जु के समान कशेरुक मज्जा नामक एक प्रकार का स्नायवपदार्थ है। इसमें स्फीत तथा प्रवर्द्धित होकर मस्तिष्क रहता है। काशेरुकमज्जा का जो अंश करोटिमध्य में है, वह मस्तिष्क है। जो अंश कशेरुका अथवा पृष्ठास्थि गर्भघृत है, वह काशेरुक मज्जा कहा जाता है। बृहत्तम तथा ऊर्ध्वतन अंश अधिपति (Cerebrum), क्षुद्रांश (Cerebellum), Ponsvaroli तथा मेडुलाआफ लाकेंटा तथा मस्तिष्क, इन चार भाग में विभक्त है तथा तीन आवरणी (Membranes) द्वारा आवृत्त है। पूर्व अथवा प्राच्य मस्तिष्क (The Fore Brain), मध्य मस्तिष्क तथा प्रतीच्य मस्तिष्क (Hind Brain), यह मस्तिष्क के तीन भाग हैं।

नरदेह में 12 जोड़ी करोट स्नायु (Cranial) तथा 31 जोड़ी काशेरुकमज्जा स्नायु (Spinal Nerves) हैं। जिन-जिन कशेरुकास्थि के निकट से जिन-जिन काशेरुक मज्जा में स्नायु उत्थित होती है, उन-उन काशेरुकास्थि के नाम के अनुसार उनका नामकरण किया गया है। साधारणतः पृष्ठवंश के भिन्न-भिन्न प्रदेश में स्नायुयुग्म की संख्या वहाँ की कशेरुकाओं की संख्या के अनुरूप है। केवल ग्रीवादेशीय (Cervical) तथा त्रिकास्थि (पृष्ठवंशमूलास्थि) देशीय (Coccygeal) स्नायुओं की संख्या तदनुरूप नहीं है। ग्रीवादेशीय स्नायुयुग्म (Cervical) आठ हैं। पृष्ठदेशीय स्नायुयुग्म पाँच हैं तथा त्रिकास्थि देशीय स्नायुयुग्म (Lumber) 5 हैं। वस्तिदेशीय स्नायुयुग्म (Sacral) 5 हैं तथा त्रिकास्थि देशीय स्नायुयुग्म (Coccygeal) एक है। काशेरुक मज्जा में स्नायुयुग्म प्रत्येक दो मूल से उत्थित होते हैं। एक है सम्मुखीन अथवा गतिविधायक मूल (Anteriar or Motor root), अन्य है प्रतिचीन अथवा संवेदीमूल (Cranial or Cerebral)। सभी स्नायु करोटि गह्वर (शिरास्थि), मस्तिष्क या स्नायुविधान केन्द्र से उत्पन्न होते हैं।

विद्वान् Willis के मत से कारोट अथवा मस्तिष्क स्नायु नवयुग्म, विद्वान् Saemmering के मत से 12 युग्म हैं। इनकी क्रिया के अनुसार मस्तिष्क स्नायु-समूह को तीन श्रेणी में विभक्त किया गया है—विशेष ऐन्द्रियक स्नायुसमूह में, गतिविधायक तथा संचालक स्नायुसमूह में तथा मिश्र (संचालक संज्ञावाही) स्नायुसमूह में। प्रथम युग्म अथवा घ्राणस्नायु (Olfactory), द्वितीय युग्म अथवा नायनस्नायु (Optic), अष्टम युग्म अथवा श्रावण स्नायु (Auditory)। पंचम युग्मांश अथवा रासनस्नायु (Trigeminus-trifacial), तथा नवमयुग्म अथवा जिह्वा-मूल स्नायु (Glosso Pharayngeal)। ये विशेष ऐन्द्रियक अथवा संज्ञावाहि स्नायु (Nerves of Special Sense) हैं। तृतीय युग्म अथवा नेत्रगति विधायक, नयनस्पन्दक (Motor oculi), चतुर्थ युग्म अथवा नेत्रसंचालक (Patheticus-trochlear), पंचमयुग्मांश तथा षष्ठयुग्म अथवा बाह्यनायनपेशी संयुक्त

(Abducedes), सप्तमयुग्म अथवा जिह्वामूल स्नायु (Glossopharyngeal), दशमयुग्म अथवा व्यापक-भ्रमणशील स्नायु (Ragus or pneumogastic) एवं एकादशयुग्म (Spinal accessary), ये हैं मिश्रकारोटस्नायु (Mixed Nerves)।

समवेदकस्नायुविधान दो ग्रन्थिमय (Gangliated) स्नायुरज्जु निर्मित हैं। ये करोटि के तलदेश से त्रिकास्थिपर्यन्त व्याप्त हैं। इसकी स्नायु ग्रन्थि संख्या में काशेरुकमज्जेय स्नायुसमूह के अनुरूप है। केवल ग्रीवादेश में प्रत्येक दिक् में 3 ही ग्रन्थियाँ हैं और अधोदेश में ये ग्रन्थिमय दोनों स्नायु रज्जु त्रिकास्थि के पास परस्परतः सन्निकृष्ट होकर एक ग्रन्थि में परिणत हो जाते हैं।[1] यह ग्रन्थि त्रिकास्थि सम्मुखीन ग्रन्थि (Ganglion Impar or Coceygeal) कही जाती है। प्रत्येक समवेदक स्नायुग्रन्थि से आभ्यन्तर तथा बाह्य शाखाएँ निर्गत होती हैं। बाह्यशाखा दो श्रेणी के सूत्र से निर्मित हैं। एक श्रेणी के सूत्र काशेरुकभाज्जेय (Spinal) स्नायु से समवेद में तथा अपर श्रेणी के सूत्रसमूह ग्रन्थिसमूह (Ganglion) से काशेरुक माज्जेय स्नायुसमूह में गमन करते हैं। आभ्यन्तर शाखाएँ रक्तवाही नाड़ी में तथा आभ्यन्तर यन्त्रसमूह में जाती हैं। आभ्यन्तर शाखाएँ रक्तवहानाड़ी में तथा आभ्यन्तर यन्त्रसमूह में व्याप्त हो जाती हैं। यन्त्रसमूह में व्याप्त शाखाएँ मस्तिष्क तथा काशेरुक माज्जेय स्नायुविधान के शाखा सहयोग से वक्षःगह्वर, उदरगह्वर तथा वस्तिगह्वर में बृहद् स्नायुजल (Plexus) का निर्माण करती है।

आभ्यन्तर यन्त्रसमूह की समवेदक स्नायु की शाखाएँ तीन प्रधान स्नायुजाल (Plexus) का निर्माण. करती हैं। यह स्नायु जाल वस्तिगह्वर, उदरगह्वर तथा वक्षःगह्वर में अवस्थान करता है। उक्त स्नायुजाल त्रय को हत्पिण्डीय (Cardiac), नाभिमूलीय (Solar) तथा कटिदेशीय (Hypogastric) नाम से अभिहित किया गया है। नाभिमूलीय स्नायुजाल (Solar Plexus) को औदर मस्तिष्क (The abdominal Brain) कहते हैं। जो श्रुति-तन्त्र तथा योगशास्त्रोक्त षटचक्र का संवाद रखते हैं, वे अनायास ही समझ जायेंगे कि समवेदक स्नायु जाल समूह ही शास्त्र में 'चक्र' के नाम से लक्षित है। श्रुति-तन्त्र तथा योग में षट्चक्र का उल्लेख है। पृष्ठवंश के अधोभाग में लिंग तथा गुह्य के मध्य में मूलाधार चक्र प्रतिष्ठित है। यह त्रिकोणक है। मतान्तर से चतुष्कोणक है। इसके ऊर्ध्व में स्वाधिष्ठान संज्ञक षटकोण चक्र विद्यमान है। नाभि में दशार मणिपूरक चक्र विद्यमान है। हृदय में द्वादशार अनाहत की

1. "Each gangliated cord of the sympathetic extends along the side of the spine from the base of the skull to the coccyx. In the neck it lies in pont of the heads of the ribs : in the abdomen, on the sides of the vertebral bodies, and as it descends in front of the sacrum it approaches its fellow, so that in front of the coccyx the two are united in a single ganglion, the ganglion impar."
—The Enclyclopaedia Britannica, 9th Ed., Anatomy

स्थिति है। कण्ठकूप में षोडशार विशुद्धाख्य चक्र तथा भ्रूमध्य में द्विदल आज्ञाचक्र है। शास्त्र की धारणा के अनुसार हमारे देह में असंख्य नाड़ियाँ हैं। अथर्ववेद तथा ऋग्वेद में स्नायु शब्द का अर्थ है सूक्ष्म नाड़ियाँ। आंग्लभाषा में Nerve शब्द जिस अर्थ में व्यवहृत होता है, वेद में उसी अर्थ में स्नायु शब्द का प्रयोग किया है।

तैत्तरीय आरण्यक का पाठ करने से विदित होता है कि स्नायु शब्द अंग्रेजी के Nerve का समानार्थक है। मूलाधार को त्रिकास्थिसम्मुखीन ग्रन्थि (Ganglion impar or Coccygeal) तथा स्वाधिष्ठान, मणिपूर तथा अनाहत को यथाक्रमेण हाईपोग्यस्ट्रिक (Hypogastric, मूलाधार अथवा Pelvic Plexus), सोलर प्लेक्सस (Solar Plexus=स्वाधिष्ठान अथवा Epigastric Plexus), तथा कार्डियाक प्लेक्सस (मणिपुर=Cardiac Plexux) कहा गया है। समवेदक स्नायुसमूह अन्त्यकोष्ठ में, शोणितवहा नाड़ियों में तथा अनिच्छाधीन पैशिक निर्माण के ऊपर क्रिया करके पोषण-कार्य में सामञ्जस्य करते हैं। यही स्नायुग्रन्थियाँ अन्त्रकोष्ठादि में प्रतिफलित अथवा प्रत्यावृत क्रिया (Reflex Action) का मूल कही जाती हैं। समवेदक स्नायुविधान द्वारा प्रधानतः अनिच्छाधीनगति (Involuntary Motion), निःस्रवण (Secretion) इत्यादि कार्य नियामित होता है। विश्वसारतन्त्र में कहा है कि नाभि से सभी नाड़ियाँ देहपोषिका हैं, रसादि चालन द्वारा इनके द्वारा शरीर का पुष्टिसाधन होता है। ये ज्ञानसाधन यन्त्र नहीं हैं। विश्वसारतन्त्र के इस वाक्य से प्रतिपन्न होता है कि पाश्चात्य नरशरीर विज्ञान जिसे समवेदक स्नायु कहता है, वे विशेषतः ज्ञानकरण नहीं हैं। शास्त्र का भी यही सिद्धान्त है।

स्नायुतन्त्र में जो धूसर पदार्थ (Gray matter) है, उसके लिए पाश्चात्य नरशरीरविज्ञानी कहते हैं कि वह केन्द्रिक (Central) है। इस धूसर पदार्थ से ही शरीर की सर्वगति तथा प्रवृत्ति का नियमन कार्य होता है। उक्त धूसर पदार्थसमूह को क्षुद्र-बृहत् ताड़ित्वार्त्तावह कार्य का अनुष्ठान गृह (Telegraphic Office) जैसा माना गया है। जैसे Telegraph Office में तार के प्रयोग से सबको सम्पर्क-सूत्र में बाँध दिया जाता है, उसी प्रकार उक्त धूसर पदार्थ में विविध पिण्ड समूह देह के अन्यान्य अंश के साथ स्नायुरज्जु से सम्बद्ध हो जाते हैं। जैसे टेलिग्राफ ऑफिस तारों में विद्युत् प्रवाह प्रवाहित होता है, तब उनके घटकावयव अणुनिचय परिदोलक (Pendulum) की तरह स्पन्दनयुक्त हो जाते हैं। स्नायुरज्जु समूह में भी जब स्नायव प्रवाह होता है, तब वे ऐसे ही स्पन्दनयुक्त हो जाते हैं। स्नायुरज्जु के स्पन्दन का स्वरूप अभी भी यथायथ भाव से निर्धारित नहीं है। अधिकांश स्नायुरज्जु जिनको पेशी के साथ सम्बद्ध माना जाता है, वे पराचीन केन्द्रातिक (Efferent) कहलाती हैं। क्योंकि वे उसी धूसर पदार्थ (Gray matter) से प्रवृत्तिवहन करती हैं। पेशियाँ संकुचित होते ही स्थितिस्थापक धर्मयुक्त होने के कारण प्रसारित होती हैं। अतएव पराचीन अथवा केन्द्रातिग स्नायुसमूह गतिविधायक-संचालक नाम से भी कहा जाता है।

परीक्षण से यह प्रमाणित हो गया है कि गतिविधायक अथवा संचालक स्नायु को काट देने पर पेशी में आकुंचित होने की शक्ति नहीं रह जाती। जो स्नायुरज्जु त्वक् के साथ सम्बद्ध हैं, वे केन्द्रिक यन्त्र में नोदन वहन करते हैं। इसलिए उनको प्रतिचीन, केन्द्राभिग (Afferent) कहा जाता है। प्रतिचीन स्नायु संज्ञावाही (Sensation) हैं। अतएव देखा जाता है कि मस्तिष्क अथवा इतर केन्द्रसमूह के नियोगवहन को पेशियों को तथा त्वक् से संवादवहन पूर्वक उसे मस्तिष्क अथवा इतरेतर केन्द्रसमूह को प्रदान करना यह स्नायुतन्त्र का द्विविध कार्य है।

बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक भेद से शारीरकर्मसमूह को भागद्वय में विभक्त करा जा सकता है। जो कर्म संकल्पपूर्वक हैं, मानस कर्म जिनकी आद्यावस्था है, जो अध्यावसायादि सूक्ष्म अवस्थाओं का अतिक्रमण करके, स्थूलावस्था में उपनीत हैं, जो मन के शासन में हैं, ऐसा कर्म बुद्धिपूर्वक (Voluntry) कर्म है। अबुद्धिपूर्वक कर्म इससे विलक्षण है। वह संकल्पपूर्वक नहीं है। ऐसे कर्म में मन का कोई शासन नहीं है। प्राणनक्रिया तथा शरीर का पोषण-कार्य अबुद्धिपूर्वक कर्म का दृष्टान्त है। हम इच्छा करें अथवा न करें, श्वास-यन्त्र अपना कार्यसाधन करता है। पाकयन्त्र पाककार्य सम्पन्न करने में मनोयोग नहीं चाहता। हृदंययन्त्र अविराम नर्तन स्थगित नहीं करता। निद्राभिभूत व्यक्ति की प्राणशक्ति जाग्रतावस्था के समान बिना आलस्य अपना कार्य करती रहती है। अतएव अबुद्धिपूर्वक कर्म मन के शासन में नहीं है। मनः इनका प्रवर्त्तक अथवा निवर्त्तक नहीं है। निद्रितावस्था के व्यक्ति के पदतल में यदि गुदगुदी की जाये, तब निद्रित रहते हुए भी वह अपने पैर खींच ले गया। यह भी अबुद्धिपूर्वक क्रिया का एक दृष्टान्त है। पाश्चात्य नरशरीरवेत्ता कहते हैं कि स्नायु प्रत्यावृत्त क्रिया (Reflex Action) द्वारा अबुद्धिपूर्वक कर्म निष्पादित करते हैं। प्रत्यावृत्त क्रिया निष्पन्न करने के लिए केन्द्रातिग अथवा प्रतिचीन स्नायु (An afferent nerve), स्नायुकेन्द्र अर्थात् परस्पर मिलितभाव से क्रियाकारी स्नायु कोष श्रेणी (A group of nerve cells acting together), तथा केन्द्रातिग अथवा पराचीन स्नायु (Efferent nerve) का प्रयोजन है प्रत्यावृत्त क्रिया के स्वरूप प्रदर्शनार्थ अध्यापक लाड[1] (Ladd) के वचन पादटिप्पणी में उद्धृत हैं।

शुक्लयजुर्वेद संहिता में कहा है कि नरशरीर में त्वक्-चक्षु-श्रवण-रसन-घ्राण-मनः तथा बुद्धि ये सप्त ऋषि, सप्तप्राण, अथवा शक्ति प्रतिष्ठित हैं। त्वगादि सप्तर्षि सदा सावधानी से शरीर की रक्षा करते हैं। जब मनुष्य निद्रित होता है तब ये देहव्यापी ऋषि हृदयाकाश में प्रतिष्ठित विज्ञानात्मा को प्राप्त होकर स्थित रहते हैं। मनुष्य के निद्राकाल में शरीररक्षक सप्तर्षि जब विज्ञानात्मा को प्राप्त हो जाते हैं, तब

1. "When a physiological function is occasioned in a peripheral nerve, independently of a so-called act of will, by the stimulation of some other peripheral nerve, this function is said to reflex."
—Physiological Psychology by Ladd, p. 120

शरीर की रक्षा कौन करता है। तब प्राण तथा अपान जो सदा जागरण[1] करते हैं, जो दीप्यमान, निद्राशून्य हैं, वे इस देह का रक्षण करते हैं।

शुक्लयजुर्वेद संहिता के इस उपदेश का तात्पर्य यह है कि शरीर का प्राणन-कार्य सदा जागरणशील है। वह प्राणशक्ति जो सदा जागती रहती है, शरीर का पोषण-कार्य उससे होता है। प्राणशक्ति प्राण-अपान-समान-व्यान तथा उदानरूप से पंच वायव्यात्मिका है। प्रत्यावृत्त क्रिया (Reflex Action) कहने से पाश्चात्य विद्वान् प्राणशक्ति की क्रिया को ही लक्ष्य करते हैं। अध्यापक Dr. Landois कहते हैं कि Spinal Cord अर्थात् कशेरुकामज्जा के धूसर पदार्थ (Gray matter) को किसी प्रकार का नोदन उपस्थित होने पर, उसे प्रभूत बाधा का अतिक्रमण करना पड़ता है। पराचीन स्नायुरज्जु तथा धूसर पदार्थ का जो स्थान बाधित हुआ है, उस स्थान की उस दिशा से बहिर्गत होकर धूसर पदार्थ की स्वल्पबाधा उस पराचीन (Efferent) स्नायुरज्जु के अभिमुख उपनीत हो जाता है। इसलिए स्वल्प उत्तेजना से ही साधारण प्रत्यावृत्त क्रिया की उत्पत्ति हो जाती है। यह प्रत्यावृत्त क्रिया शुद्ध उत्तेजित त्वक् के रक्षार्थ प्रवर्तित होती है।[2] बाधा का अतिक्रमण करना ही कर्म का रूप है। बिना बाधा के कर्म नहीं होता। बाह्य, अथवा त्वगुत्पन्न (Superficial), गम्भीर (Deep) तथा यान्त्रिक (Organic), प्रत्यावृत्त क्रिया को इन तीन भागों में विभक्त किया गया है। पैर में गुदगुदी करने से जो प्रत्यावृत्त क्रिया होती है, वह है बाह्य प्रत्यावृत्त क्रिया। यदि गुदगुदी की जगह अभिघात हो, तब तत्संलग्न पेशी आकुंचित होकर रहती है। यह गम्भीर प्रत्यावृत्त क्रिया का उदाहरण है। श्वासक्रिया, शोणित संचालन, क्षतसंरोहण, परिपाक इत्यादि प्राण व्यापार यान्त्रिक प्रत्यावृत्त क्रिया है।[3] इसलिए सारांश यह है कि

---

1. "सप्तऋषयः प्रतिहिता शरीरे सप्तरक्षति सदमप्रमादम्। सप्त आपः सप्तो लोकभियुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौसत्रसदौ च देवी"—शुक्लयजुर्वेद संहिता 34/35

   "सप्तऋषयः प्राणाः त्वक्-चक्षुः श्रवणरसनाघ्राणमनोबुद्धिलक्षणाः शरीरे प्रतिहिताः व्यवस्थिताः ते एव सप्तसदं सदाकाममप्रमादं सावधानं यथा तथा शरीरं रक्षन्ति......" —महीधर कृत भाष्य
2. "....Any impulse reaching the grey matter of the cord has to overcome considerable resistance. The least resistance lies in the direction of these efferent fibres which emerge in the same plane and upon the same side as the entering fibre. Thus the feeblest stimulus gives rise to a simple reflex, which generally is merely a simple protective movement for the part of the skin which is stimulated. —Human Physiology, Landois, Vol. II, p. 91
3. "There are three group of reflexes (a) the superficial, (b) the deep or tendor (c) the organic reflexes,"

   "The superficial or skin reflexes are excited by stimulating the skin, e.g. by Tickling, Pricking, Scratching & c..."

   "The organic reflexes include a consideration of the acts of micsurition, erection, ejaculation defaecation, and those connected with the motor and secretory digestive processes, respiration and circulation." —Ibid, p. 912

नरशरीर विज्ञान ने प्रत्यावृत्त क्रिया में प्राण शक्ति के कार्य को लक्ष्य किया है। हमारी यह बात विज्ञान-विरुद्ध नहीं है। बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक इन द्विविध क्रिया का स्वरूप-दर्शन करने के लिए पहले बुद्धि, इच्छा, जीवन योनि, प्रयत्न इत्यादि पदार्थों का स्वरूप निरूपण कर्त्तव्य है।

श्रुति का उपदेश है कि कार्य कारण से स्वरूपतः भिन्न पदार्थ नहीं है। विमल स्फटिक में नाना प्रकार के पदार्थ का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह जिस प्रकार से नानारूप में रंजित दृष्ट होता है, अखण्ड सच्चिदानन्द लक्षण परमात्मा भी उसी प्रकार माया द्वारा विविध नाम रूप में परिच्छिन्न होकर विचित्र विश्वरूप धारण करते हैं। एक व्यक्ति जैसे क्रिया एवं कर्मभेद से भिन्न-भिन्न नाम से अभिहित होता है, महाऐश्वर्यवान् परमात्मा भी कर्मभेद से विविध नामों से कहे जाते हैं। माया का मनमोहन नृत्य विमोहित चित्त पर भेदज्ञान का आधिपत्य हो जाता है। मायामुग्ध व्यक्ति ही कार्य को कारण से पृथक् मानते हैं।[1] आत्मविद् के नेत्रों में जगत् आत्ममय है। आत्मविद् आत्मा से भिन्न पदार्थ देख ही नहीं पाते। आत्मा ही वास्तव में अखिल अभिधान का अभिधेय है। उसके अतिरिक्त अन्य अभिधेय नहीं है।[2] प्राण-वाक्-चक्षुः-श्रोत्र-मनः इत्यादि सभी आत्मवाची हैं। आत्मा ही उन सब शब्दों का वाच्य अथवा अभिधेय है। पहले कहा गया है कि आत्मा जब प्राणन क्रिया सम्पादन करता है, तब वह प्राण नाम से, जब वाक् का उच्चारण करता है, तब वागिन्द्रिय नाम से, जब मनन-कार्य करता है, तब मनः नाम से अभिहित होता है। प्राण-वाक्-चक्षु-मनः आदि आत्मा के कर्मज नाम हैं। प्राण तथा वाक् शब्द द्वारा क्रियाशक्ति विकार तथा चक्षुः तथा श्रोत्र द्वारा विज्ञानशक्ति विकार लक्षित होता है। मनः ज्ञानशक्ति विकास का साधारण करण है। अवबोधार्थक 'मन' धातु के उत्तर में करणवाच्य असून्, प्रत्यय करने से मनः पद सिद्ध होता है। यह मत है, ज्ञात है, (इत्यादि विषय होते हैं) जो ज्ञान विकास का साधारण करण है, वह मनः है।

ऐतरेय आरण्यक भी कहता है कि चक्षुरादि बाह्य ज्ञानेन्द्रिय, वाक्पाण्यादि कर्मेन्द्रिय, मनः, बुद्धि, मेधा, धृति, मति, मनीषा, स्मृति, संकल्प, पृथिव्यादि पंचभूत, मनुष्यादि से लेकर क्षुद्रतम कीटपर्यन्त अखिल जीव, एक प्रकार से स्थावर, जंगम, बृहत् पदार्थ मात्र ही प्रज्ञान का, शुद्ध चैतन्य के अखण्डैकरस परमात्मा का भिन्न-भिन्न नाम है। उनकी ही सोपाधिक अथवा परिच्छिन्न (Conditioned) अवस्था है।[3]

---

1. "मायैवैकाहि नृत्यन्ति मोहवत्याखिला धियः।
पुंसां भेदोबुद्धिभेदादम्बुभेदात् यथारवेः।"—सांख्यसार
2. "सर्व वेदोऽन्या च सर्ववाक् न ह्यात्मनोऽन्यद्रव्यतिरिक्तम् अभिधयेमस्ति सत्वशेषात् यदभिधानमभिदध्यात्।"—निरुक्तटीका
3. "कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे कतरस आत्मा येन वापश्यति येन वा शृणोति येन वा गन्धानाजिघ्रति येन वा वाचं व्याकरोति येन वा स्वादु चास्वादु च अविजानति यदेतद्हृदयं मनश्चैतत् संज्ञानमात्मानं विज्ञानं प्रतिज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिमनीषा जुतिः स्मृति सङ्कल्पेः क्रतुरसु कामोवेशः इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति—यत् किंचित् इदं प्राणि जङ्गमस्य पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वंतत् प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं"—ऐतरेय आरण्यक

कार्यकारण से स्वरूपतः भिन्न नहीं है, यह सत्य है, तथापि जब तक हम अविद्या से आबद्ध नेत्रों के साथ विद्यमान रहेंगें, हम संकल्पविकल्पात्मक मन के वश में विचरण करेंगे, इन्द्रियाधीन होकर विविध दुःखानुभव करेंगे तब तक हमारी दृष्टि में पारमार्थिक ज्ञान का प्रकृत रूप उद्‌भासित नहीं होगा और हम शास्त्र की इस उक्ति को हृदयंगम नहीं कर सकेंगे कि कार्य से कारण भिन्न नहीं होता। तब तक हम अद्वैतवाद की सर्वसन्तापहर मूर्त्ति की उपासना के योग्य नहीं हो सकते। तब तक द्वैत की भृकुटी हमारे चित्त को विचलित करती रहेगी। ऋग्वेदसंहिता ने इसी बात को समझाने के लिए कहा है—"ऋत अथवा परब्रह्म के प्रथमज प्रथमोत्पन्न चित्त प्रत्यक् प्रवण जनित अनुभाव, जब आदिभूत ज्ञान का विकास होगा तब हे मानव! ऐन्द्रियक ज्ञान को भूलकर तुम सनातन ज्ञान में स्थिरभाव से अवस्थान करने में पारग होगे। बहिर्मुख चित्त को योगशास्त्र में उपदिष्ट नियमानुसार अन्तर्मुख करने में समर्थ होगे। तभी तुम्हारे अद्वैत ज्ञान का विकास होगा। तुम्हारे सभी संशय तभी विलीन हो जायेंगे। तब तुम इस अमूल्य श्रुतिवर्णित उपदेश का मर्म ग्रहण कर सकोगे कि एक ब्रह्म है, दूसरा कोई नहीं। जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक तुमको संशयात्मक मन के वश में रहकर द्वैताद्वैत के मध्यवर्त्ती होकर अवस्थान करना होगा।"[1]

ऋग्वेद के इस अमूल्य उपदेश का तात्पर्य परिग्रह होने पर जगत् के द्वैत, एकत्ववाद, विज्ञानैकत्ववाद, जड़ैकत्वाद इत्यादि वादों के उत्पत्ति रहस्य की अनुभूति हो जायेगी तथा इस मत विभिन्नता की भी मर्मोपलब्धि होगी। ब्रह्मज्ञ-आत्मविद् ऋषिगण ने जिस कारण से आपात् प्रतीयमान परस्पर-विरुद्ध मतों के स्थापनार्थ प्रयत्न किया है, वह जागतिक भाव लेकर, मन के वश में रहकर रागद्वेष की कठपुतली बनकर नहीं ज्ञात हो सकता। अधिकारी भेद के कारण विभिन्न मतों का प्रतिपादन ऋषियों ने किया है। क्योंकि जागतिक स्थिति में अद्वैतज्ञान का विमलालोक लक्षित ही नहीं हो सकता। रागद्वेषादि से विनिर्मुक्त चित्त से ही यह ज्ञात होगा कि अद्वैतज्ञान का विकास कैसे होता है ?

न्यायमतानुसार इच्छा (Will)-द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख तथा ज्ञान आत्मा का धर्म है। गुण अथवा धर्म के द्वारा द्रव्य अथवा धर्मी लक्षित होता है। इसी से द्रव्य तथा धर्मी से अवगत होना सम्भव है। इसी कारण भगवान् गौतम आत्मा के स्वरूप निरूपणार्थ कहते हैं कि इच्छा, द्वेष आदि आत्मधर्म हैं। ये आत्मगुण हैं, आत्मलिंग तथा आत्मा के अनुमापक हैं।[2] प्रशस्तपाद कहते हैं कि स्वार्थ अथवा परार्थ हेतु अप्राप्त

1. "न विज्ञानामि यदि वेदमस्मि निन्यः सन्नद्धो मनसा चरामि। यदा भागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्वायो अश्नुवे भागयस्या।" —ऋग्वेदसंहिता 2/3/21/22
2. "इच्छाद्वेष प्रयत्नसुखदुःखज्ञानानात्मनोलिङ्गमिति"—न्यायदर्शन, 1/1/10
महर्षि कणाद भी कहते हैं कि प्रसिद्ध अथवा ज्ञान ही आत्मा का लिंग है, ऐसा मत समझना। प्राणापान-निमेषोन्मेष-वृद्धि-क्षत अथवा भग्न का संरोहणादिलक्षण, जीवन कार्य की मनोगति,

प्रार्थना का नाम इच्छा है। काम-अभिलाषा-राग-संकल्प, कारुण्य-वैराग्य-उपधा (दूसरे को ठगने की इच्छा) इत्यादि इच्छा के ही प्रकार भेद हैं। इच्छा किस प्रकार से तथा किसलिए उत्पन्न होती है? अनागत-अप्राप्त के लिए जो इच्छा होती है, उस विषय का साध्यसुख अनागत होने पर भी बुद्धि उसकी उत्पत्ति का कारण है। अतिक्रान्त सुख हेतु जो इच्छा उदित होती है, स्मृति उसका कारण है। अप्राप्त तथापि प्राप्तव्यरूपेण विनिश्चित पदार्थ को पाने के लिए ही प्रयत्नादि अभिव्यक्त होते हैं। प्रयत्न भी द्विविध है—जीवनयोनि तथा इच्छाद्वेष पूर्वक भेद। भाषापरिच्छेद ग्रन्थ में प्रवृत्ति-निवृत्ति तथा जीवन योनि रूप से प्रयत्न को त्रिधा विभक्त किया गया है। जीवन योनि (जीवनपूर्वक) प्रयत्न का स्वरूप क्या है? यह प्रयत्न सुप्त अथवा निद्रित में प्राणापान का प्रेरक है। जाग्रत् होते ही यही अन्तःकरण की इन्द्रियान्तर प्राप्ति का हेतु भी है। फेफड़ा, हृदययन्त्र का जो अविराम आकुंचन-प्रसारण हो रहा है, यही जीवनयोनि (जीवनपूर्वक) प्रयत्न ही उसका कारण है। इच्छाद्वेषपूर्वक जो प्रयत्न है, वह हितप्राप्ति तथा अहितकर परिहारार्थ समर्थ व्यापार का हेतु तथा शरीर विधायक है।

धर्माधर्मपेक्ष आत्मा तथा मनः के संयोग का नाम है जीवन। इसी जीवन से जिसकी उत्पत्ति होती है, वही है जीवनपूर्वक। इच्छाद्वेषपूर्वक प्रयत्न का कारण क्या है? इच्छाद्वेषपेक्ष आत्मा तथा मन के संयोग से इच्छाद्वेषपूर्वक प्रयत्न की उत्पत्ति होती है। हितसाधन का उपादान जो प्रयत्न है उसे इच्छापूर्वक तथा दुःख साधन का जो परित्याग है उसे द्वेषपूर्वक[1] कहा गया है। जीवन कौन पदार्थ है? विपच्यमान कर्माशय सहित सदेह आत्मा का जो मनः के साथ संयोग है, सम्बन्ध है, वह जीवन है, यह न्यायकन्दलीकार श्रीधराचार्य का मत है। चरकसंहिता में भी कहा है कि भोगायतन पंचमहाभूत विकार शरीर, चक्षुरादि इन्द्रिय, सत्व तथा मनः एवं आत्मा, ये सभी पदार्थ अदृष्टयन्त्रित हैं। पूर्वकर्म नियामित संयोग को जीवन कहा गया है।[2] सांख्यदर्शन ने

इन्द्रियान्तर विकार, सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष, प्रयत्न ये सभी आत्मलिंग हैं (प्राणापाननिमेषोन्मेष जीवनमनोगतिन्द्रियान्तरविकाराः सुःख-दुःखेच्छा प्रयत्नाश्चात्मना लिङ्गानि) —वैशेषिक दर्शन आत्मा शब्द यहाँ जीवात्मा का वाचक है।

1. "स्वार्थे परार्थे वा प्राप्तप्रार्थनेच्छा। सा चात्ममनसोः संयोगात् सुखाद्यपेक्षात् स्मृत्यपेक्षात् उपपद्यते। प्रयत्नस्मृतिधर्माधर्महेतुः। काभिऽभिलाषः रागः सङ्कल्पः कारुण्यं वैराग्यम् उपधाभाव इत्यवमादय इच्छाभेदः।...प्रयत्नः संरम्भः उत्साह इति पर्यायाः। स द्विविधो जीवनपूर्वकः इच्छाद्वेष पूर्वकश्च तत्र जीवनपूर्वकः सुप्तस्य प्राणापानसन्तान प्रेरकः प्रबोधकाले चान्तकरणस्येन्द्रियान्तर प्राप्ति हेतुः। अस्य जीवनपूर्वकस्यात्ममनसोः संयोगाद्धर्माधर्म अपेक्षाद्युत्पत्तिः। इतरस्तु हिताहित प्राप्ति परिहारसमर्थस्य व्यापारस्य हेतु शरीरविधारकश्च। स आत्ममनसोः संयोगादिच्छापेक्षात् द्वेषापेक्षात् उत्पपद्यते। —प्रशस्तपाद कृत भाष्य
2. "सदेहस्यात्मनो विपच्यमानकर्माशयसहितस्य मनसा सह संयोगः सम्बन्धी जीवनम्।"

—न्यायकन्दली

"शरीरेन्द्रियसत्वात्म संयोगाचारी जीवितं। नित्या श्चानुबन्धश्च पर्यायैवायुरुच्यते।"

—चरकसंहिता

तथा—"शरीरजीवयोर्योगो जीवनं"—भावप्रकाश

अन्तःकरण की सामान्य साधारण वृत्ति को प्राण कहा है।[1] जीवनयोनि प्रयत्न तथा इच्छा का स्वरूप एक सीमा तक प्रदर्शित किया गया। अब यह देखना है कि बुद्धि कौन पदार्थ है?

न्यायदर्शन में बुद्धि, उपलब्धि तथा ज्ञान को समानार्थक कहा है। देहेन्द्रियसंघात के अतिरिक्त स्वाभाविक चैतन्य ही न्यायवैशेषिक मतानुसार बुद्धि पदार्थ है। बुद्धिपदार्थ को लेकर सांख्य दर्शन के साथ न्यायवैशेषिक का आपात् प्रतीयमान विरोध है। सांख्यमत से बुद्धि अध्यवसाय अथवा निश्चयात्मिका वृत्ति है। यह प्रकृति का आद्यपरिणाम भी है। वेदान्त दर्शन भी बुद्धि को सत्वगुण परिणाम रूप अन्तःकरण कहता है। सांख्य वेदान्त की बुद्धि 'बुध' धातु के उत्तर में करणवाच्य 'क्तिन्' प्रत्यय से सिद्ध होती है। अर्थात् सिद्ध पदार्थ। न्याय दर्शन में बुद्धि भावसाधन है। श्रुति ने बुद्धि को निश्चयात्मिका वृत्ति प्रकृत कार्य कहा है। इसमें यह ऐसा है, यह ऐसा नहीं है, यह निश्चय किया जाता है। द्वैतज्ञान में भोक्ता तथा भोग्य, ज्ञाता तथा ज्ञेय, इन दो पृथक् पदार्थ का अस्तित्व प्रतिभात होता है। श्रुति के मत से प्रकृति तथा उसका विकार, सत्वादिगुण विशेष परिणाम, महत् अथवा बुद्धितत्व से पृथिव्यादिमहाभूत पर्यन्त सभी पदार्थ भोग्य हैं। ज्ञेयरूपेण निर्वाचित हैं। महत् अथवा बुद्धितत्त्व प्रकृति का आद्यविकार है। यह ज्ञान तथा क्रियाशक्ति सम्मूर्च्छित पदार्थ है। बुद्धि निश्चयात्मिका होती है। संकल्प व्यापारवत् अन्तःकरण, मनः तथा संकल्प। अन्त में अहंकारात्मिका अन्तःकरण—अभिमान।[2]

प्रेक्षापूर्वकारी—प्रथमतः पदार्थ का सन्दर्शन—पदार्थ का स्वरूपावधारण करते हैं। इस पदार्थ का इस प्रकार से कार्यसाधन का सामर्थ्य है, यह निश्चय करें। यदि उनको इप्सितरूप में सन्दृष्ट तथा प्रमाण द्वारा प्रमित तथा विषयीभूत अर्थ निश्चित हो, तब वे प्रार्थना करें। तदनन्तर यह तय करें कि प्रार्थित पदार्थ किस उपाय से समधिगत होगा। तदनन्तर कर्मारम्भ होगा। बुद्धिपूर्वक कर्म का यही स्वरूप है। सन्दर्शन—पदार्थ के स्वरूप निरूपण की प्रार्थना तथा अध्यवसाय, यह त्रिविध मान व्यापार सभी बाह्य क्रियाप्रवृत्ति का मूल अथवा आद्यपर्व—आद्यावस्था है। मनुसंहिता में कहा है कि संकल्प सभी क्रिया का मूल है। काम संकल्पर्वूक होता है, यज्ञ भी संकल्प सम्भव है। व्रतनियमरूप धर्म में भी संकल्प का आश्रय लिया जाता है। मेधातिथि ऋषि ने संकल्प का स्वरूप समझाते हुए सन्दर्शन (पदार्थ का स्वरूप निरूपण), प्रार्थना तथा अध्यवसाय, इन त्रिविध मानस व्यापार को लक्ष्य किया है। महर्षि मेधातिथि कहते हैं

1. "तस्माद्भोक्ता पुरुषो भोज्या प्रकृतिस्तथा भुङ्क्ते इति। त्रिगुणभेदपरिणामत्वात् महदाद्यं विशेषान्तं लिङ्गम्।......। एवं प्रधानस्य व्यक्ततां गतस्योपलब्धिर्भवति तत्र बुध्यादीनि स्वादुनि भवन्ति। अध्यवसायसङ्कल्पाभिमाना इत्यर्थे इन्द्रियार्थान् पञ्च स्वादुनि भवन्ति—मैत्र्युपनिषद्।

2. भगवान् पतंजलिदेव कहते हैं—"इह य एव मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स बुद्धा तावत् कश्चिदर्थं सम्पश्यति सन्दृष्टे प्रार्थना प्रार्थनायामध्यवसायः अध्यवसाय आरम्भः, आरम्भे निवृत्तौ फलावाप्तिः" —महाभाष्य

कि "इस प्रार्थना से यह कार्यसिद्धि हो" यह बुद्धि ही संकल्प है।[1] छान्दोग्योपनिषत् के पाठ से विदित होता है कि विश्वजगत् संकल्पमूलक है। संकल्प से जगत् की उत्पत्ति होती है, संकल्प से जगत् विलीन हो जाता है। संकल्प में ही जगत् प्रतिष्ठित है।

बाह्य प्रकृति में, किंवा मनुष्य देहयन्त्र में बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक जो क्रिया संघटित होती है, उन्हें हम भले ही अपनी अदूरदर्शिता के कारण उपलब्ध न कर सकें, वे सभी संकल्पमूलक हैं। भौतिक जगत् में संकल्पशक्ति वास्तव में अन्धवत् प्राकृतिक नियम का पालन करती है। वह आकर्षण-विकर्षण करती है, यान्त्रिक-रासायनिक तथा दैहिक क्रिया का नियमन करती है। वह मानवीय संकल्प की मुखापेक्षा किये बिना ही इन सभी कर्मों की प्रवृत्ति-निवृत्ति का विधान करती है। भौतिक जगत् इन सब क्रिया का निष्पादन करता है, इसका कारण क्या है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि भौतिक जगत् में इन सब क्रिया के सम्पादन का सामर्थ्य है। इसलिए यह निश्चित है कि जिसे जैसे कार्य के निष्पादन का सामर्थ्य अथवा शक्ति नहीं है, वह उस कार्य का सम्पादन नहीं कर सकता।

हिमशिला ताप के कारण तरल अथवा वाष्पीय स्थिति में आ जाती है। इसका कारण है कि ताप भेदवृत्तिक है। द्रव्यों के अणुओं में जो संसर्गवृत्तिक अथवा आकर्षणी शक्ति है, उसके कारण अणुसमूह परस्पर सन्निकृष्ट हो जाते हैं। भेदवृत्तिक ताप इस संसर्गवृत्तिक आकर्षणी शक्ति को अभिभूत, क्षीणबल करता है। इसी कारण हिमशिला तापसंयोग से तरल अथवा वायवीय अवस्था को प्राप्त हो जाती है। भले ही हिमशिला ताप से तरल अथवा वायवीय हो जाये, परन्तु कागज-काठ आदि तापसंयोग से द्रवीभूत न होकर भस्मीभूत क्यों हो जाता है? इनका द्रवीभूत होने का संकल्प नहीं है। इनका दग्ध होकर भस्मीभूत होने का संकल्प है। इसीलिए वे द्रवीभूत न हो भस्मीभूत हो जाते हैं। इनके द्रवीभूत न होने का संकल्प क्यों है?

कागज-काष्ठ आदि जिस कारण से परिच्छिन्न (Conditioned) हैं, वह बताते हैं। इसके घटकावयव के अणु जिस भाव से सन्निवेशित हैं, उसकी आपेक्षिक साम्यावस्था जितनी कठिन है, उससे ये किसी की भी वश्यता स्वीकार नहीं करते। दग्ध हो जायेंगे, किन्तु द्रवीभूत नहीं होंगे। गलना नहीं चाहते। कागज-काष्ठ आदि का यही संकल्प है। ताड़ित् शक्ति के साथ इनका अल्प विस्तर परिचय है। ताड़ित् शक्ति का स्वरूप क्या है, यह निर्णीत नहीं है। तब भी इससे वैज्ञानिक अनेक कार्य साधन करते हैं। विविध उपाय से ताड़ित् शक्ति उत्पादित होती है, जब उसमें घर्षण (Friction) तथा रासायनिक प्रक्रिया (Chemical Action) होती है। घर्षण से

---

1. "सङ्कल्पमूलः कामो वै यज्ञाः सङ्कल्पसम्भवाः।
व्रतनियमधर्माय सर्वे सङ्कल्पजाः स्मृताः" —मनुसंहिता
अथ कोऽयं सङ्कल्पोनाम यः सर्वक्रियामूलम्? उच्यते। यच्चेतः सन्दर्शनं नाम यदनन्तरम् प्रार्थनाध्यवसायी क्रमेणभवतः। एते हि मानसाव्यापाराः सर्वक्रिया प्रवृत्तिषु मूलतं प्रतिपद्यन्ते"
—मेधातिथि भाष्य

उत्पादित ताड़ित को घर्षण ताड़ित (Frictional or Franklinic or Static Electricity) तथा रासायनिक क्रिया जनित ताड़ित् को वोल्टेक अथवा गैलवेनिक ताड़ित् (Voltaic of Galvanic Electricity) कहते हैं।

ताड़ित शक्ति आकर्षण-विकर्षण क्रिया से आत्मपरिचय प्रदान करती है। जड़वस्तु मात्र ही आकर्षण तथा विकर्षण शक्तियुक्त है। वह भेद तथा संसर्ग वृत्तिक है। अतएव यह कह सकते हैं कि ताड़ित् शक्ति प्रत्येक जड़वस्तु में विद्यमान है। विद्वान् साईमर (Symmer) कहते हैं कि ताड़ित् शक्ति द्वयात्मक है, परस्परविरुद्ध द्विविध धर्मयुक्त है, जो दो सूक्ष्म तरल पदार्थ रूप हैं। जब ये दो सूक्ष्म तरल पदार्थ परस्पर संयुक्त होते हैं, तब ये एक-दूसरे को उदासीनीकृत (Neutralised) करते हैं। जब तक इनका साम्यभाव संघर्षण से विक्षोभित नहीं हो जाता, तब तक इनका प्रत्येक द्रव्य समपरिणाम में अवस्थित रहता है। फ्रैंकलिन के मत से ताड़ित् एक जातीय तरल पदार्थ है। यह प्रत्येक द्रव्य में समभाग में सविभक्त होकर रहता है। जब द्रव्य संघर्षण क्रियाधीन अथवा विघटित होते हैं, तब यह संघर्षक तथा संघृष्ट रूप से भागद्वय में विभक्त हो जाता है। एक में उसकी अधिक मात्रा तथा अन्य में तदपेक्षा अल्पमात्रा प्रवेश करती है। धन (Positive) तथा ऋण (Negative) शब्दद्वय का इसीलिए व्यवहार हुआ है। फैराडे (Faraday) के मत से अणुसमूह की संघर्षक निमित्तक अवस्थाविशेष ही ताड़ितावस्था है। कोई ईथर कहते हैं, कोई इसे तड़ित् कहकर अवधारित करते हैं। इनके मत से द्रव्य पृष्ठ संलग्न ईथर का स्वस्थान से भ्रंश होना ही धन तथा ऋणरूपी अवस्थाद्वय का कारण है।[1] विद्वान् किली (Keely) यह बताने के लिए कि ताड़ित् कौन पदार्थ है, त्रिगुण तत्व को ही विशेषत: लक्ष्य करते हैं। इनके मत से तड़ित् त्रिगुण का ही परिणाम है।[2] काँच अथवा लाक्षादण्ड को फलालैन कपड़े से घर्षित करने पर वह जो वस्तु को आकर्षित करता है, यह घर्षण ताड़ित् की क्रिया है। जहाँ घर्षण होता है, वहीं ताड़ित् शक्ति उत्पन्न होती है। अन्य स्थान पर नहीं होती। इसका कारण क्या है? काँच, लाक्षा प्रभृति द्रव्य में ताड़ित् शक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान में परिचालित नहीं होती। जहाँ उत्पादित होती है, वहीं आबद्ध हो जाती है।

---

1. "Several theories have been advanced to account for these phenomena, but all are more or less unsatisfactory. Symmer proposed a two fluid theory..... A modification of this theory was made by Franklin, who proposed instead a 'one fluid Theory'.
"Some Electricians, notably Farady, have propounded a Molecular Theory of Electricity. ....Some indeed hold that the ether itself is Electricity."
—Electricity and Magnetism by Thompson. p. 9-10
2. "Electricity is the result of three differentiated sypmathetic flows combining the Celestial and terrestrial flows by an order of assimilation negatively attractive in its character."
—True Science by Koely, p. 15

काँच-लाक्षादि अपरिचालक होते हैं। ये अपरिचालक (Non-conductor) क्यों हैं? उनका संकल्प ही उन्हें अपरिचालक करता है। इनके अणुसमूह जिस प्रकार से सन्निवेशित हैं, उससे वे उनमें (काँच-लाक्षादि में) ताड़ित् शक्ति को अबाधरूप से नहीं चलने देते। प्रकृति किसी द्रव्य को परिचालक तो किसी को अपरिचालक क्यों बनाती है? द्रव्यसमूह के पूर्वकर्म अथवा प्रार्थनानुसार प्रकृति उनको परिच्छिन्न यथाप्रार्थित सामर्थ्य प्रदान करती है।

चौम्बकाकर्षण के सम्बन्ध में सामान्यतः सब जानते हैं। अयस्कान्त भी इसी का नाम है। अयः अर्थात् लौह का कान्त अथवा वस्तुमात्र का कान्त। इसके आकर्षण से आकृष्ट होने की योग्यता का बल लौह में ही है, अथवा वस्तुमात्र में है, इसके तत्वानुसन्धान में विद्वान् Coulomb ने प्रयास किया था। जो द्रव्य उनकी परीक्षा में गृहीत हुए थे, उनको उन्होंने सूक्ष्मशलाका की आकृति में परिणत करके, उन्हें कौषेयसूत्र (Fibers of Silk) में लपेटकर उन्हें दो बलवत् चुम्बकों के विपरीत ध्रुव के मध्य लटकाया था। (Between the opposite poles of two strong magnets) इससे परीक्षार्थ गृहीत द्रव्य चुम्बक ध्रुव के द्वारा आकृष्ट होते दीखा था। विद्वान् Coulomb ने ताम्र, स्वर्ण, रौप्य (चाँदी), सीसा, काँच, काष्ठ, अस्थि प्रभृति सभी द्रव्यों की सूची प्रस्तुत की है। तथापि विद्वान् Coulomb यह धारणा नहीं त्याग सके कि अयःस्कान्त लौह का ही कान्त है। कालान्तर में विद्वान् Faraday ने यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि Solid (ठोस), तरल (Liquid) तथा वायवीय (Gaseous), ये सभी चौम्बक शक्ति के क्रिया-क्षेत्र हैं। सभी चौम्बक हैं। कतिपय वस्तु चौम्बक शक्ति से आकृष्ट होती है, कतिपय विप्रकृष्ट हो जाती है। इस द्विविध धर्म के कारण वस्तुसमूह को पैरामैगनेटिक तथा डायोमैगनेटिक श्रेणी में विभक्त किया गया है। अब जिज्ञासा होती है कि सभी द्रव्य जब चौम्बक हैं तब लौह-निकेल प्रभृति द्रव्यों में जैसा चुम्बकानुराग परिदृष्ट होता है, अन्यान्य द्रव्य में स्पष्ट रूप से लक्षित क्यों नहीं होता? परमाणुसमूह के सन्निवेश तारतम्यानुसार घनत्व (Density) की भिन्नता से द्रव्यों के चौम्बकधर्म तारतम्य में भेद हो जाता है। एक द्रव्य का चौम्बकधर्म, चुम्बकानुराग यान्त्रिक संकोचन अथवा आपीड़न से बढ़ता है। तापमान के परिवर्तन के कारण चौम्बकधर्म में परिवर्तन होता है। अतः कह सकते हैं कि जो द्रव्य लौहधर्मा हैं, अर्थात् जिनका आणविक सन्निवेश लौह के आणविक सन्निवेश के समान है, उनमें ही अधिक चौम्बक धर्म है। भिन्न-भिन्न आणविक सन्निवेश जो भिन्न-भिन्न रूप होता है, क्या वह निर्निमित्त है? क्या वह आकस्मिक (Result of Chance) है? यदि वैज्ञानिक यह कहें कि वह आकस्मिक है, तब हमें दुःख के साथ यह कहना होगा—"वैज्ञानिकगण! आप अपना वैज्ञानिक नाम त्याग करें।" अकस्मात् उत्पत्तिवाद विज्ञान का अपवाद है। अतः जो 'वैज्ञानिक' उपाधि रखकर विज्ञान का

अपवाद करते हैं, विज्ञान को अज्ञान कलंक से मलिन करते हैं, वे 'वैज्ञानिक' की उपाधि के लिए सर्वथा अयोग्य हैं।

परमाणुओं के भिन्न-भिन्न रूप सन्निवेशित होने के वास्तव में कारण हैं। निमित्त के बिना कुछ की भी उत्पत्ति नहीं होती। अकारण कोई घटना संघटित नहीं हो जाती। ("न चासति निमित्ते कस्यचिदुत्पत्तिः"—न्यायभाष्य) निमित्तभेद के कारण ही प्रयोजन में भेद होता है। निमित्तभेद के कारण प्रवृत्ति में भेद होता है। निमित्त भेदानुसार रागद्वेष में आकर्षण-विप्रकर्षण में भेद हो जाता है। लौह का भी चुम्बकानुराग सन्तापभेद से विभिन्न होता है।[1] समान कारण से चिरकाल तक समान कार्य आविर्भूत होता रहता है। लौह जिस कारण से चुम्बक की ओर आकृष्ट होता है, वह कारण जिस-जिस वस्तु में रहेगा, वह-वह वस्तु लौह के समान चुम्बक धर्मयुक्त हो जायेगी। यदि कृत्रिम उपाय से किसी वस्तु को लौहधर्मी बनाते हैं, तब वह लौह के समान चुम्बकाकर्षित होगी, यह प्राकृतिक नियम है।

पाश्चात्य विद्वान् कोषसमूह को जैवशरीर के मूल उपादान (Form Element) के रूप में ग्रहण करते हैं, यह पहले कहा गया। कोषसमूह के सम्मिलिन से प्रथमतः एक स्तर अथवा सन्तानिका (Membarane Layer) उत्पन्न होती है। यह सूक्ष्म स्तवक बीजत्वक (Blastoderm Germinal Membarane) कहा जाता है। यह बाह्यत्वक् स्तर (Ectoderm or Epiblast), मध्यत्वक्स्तर (Mesoderm or Mesoblast) तथा अन्त्यत्वक् स्तर (Entoderm or Hypoblast) नामक त्रिस्तर में संविभक्त है। बाह्यत्वक् से चर्म, स्नायुविधान के केन्द्रिक तथा परिध अंश, चक्षुरादि विशेष इन्द्रियाँ, इत्यादि का परिणाम होता है। अन्त्यत्वक् से अन्न नाली की श्लैष्मिक झिल्ली (Mucous Membarane of the Alimentary Canal) प्रभृति उत्पन्न होती है। मध्यत्वक् से (Mesoblast से) कंकाल (Skeleton) तथा पेशी, कोष्ठादि का आविर्भाव होता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि त्वक्, स्नायु, पेशी, हृद्‌यन्त्र इत्यादि का जब उपादान एक है, तब इनके आकारादि भेद-वैभिन्र्य का क्या कारण? स्नायु जो कार्य करता है, पेशी से वह कार्य नहीं होता, इसका क्या कारण? बाह्य त्वक् से जो शरीरयन्त्र उत्पन्न होते हैं, उनमें भी

---

1. These views are strikingly confirmed by the effects of compression and of temperature, which we have just been considering. We have seen that the capacity for magnetism in the same body is augmented by mechanical compression, and is even made to differ in different directions, according to the mode in which the compressing force is applied. When the density of the body is, by nature, different in different direction–as in crystals–its magnetic capacity is likewise different. The same view is likewise conformed by the changes of the magnetic capacity produced by changes of temperature."

—A Treatise of Magnetism by H.Lloyad. p. 67

कार्य तथा धर्म विभिन्नता क्यों ? इन सबका उत्तर देना होगा। स्थूल दृष्टि से ज्ञात न होने पर भी इनके आकृत्यादि धर्मगत भेद का भिन्न-भिन्न कारण है।

भगवान् पतंजलिदेव तथा भगवान् वेदव्यास का कथन है कि द्रव्यमात्र ही धर्म अथवा योग्यतावच्छिन्न है। धर्म अथवा शक्ति की शान्त, उदित तथा अव्यपदेश्य, ये त्रिविध अवस्थाएँ हैं। धर्मी अथवा वस्तु का जो धर्म है, जो शक्ति के कार्य सम्पादनपूर्वक अस्तमित हो गया है, शान्त अथवा उपरत हो गया है, वह है शान्तधर्म। अनागतावस्था का त्याग करके जो व्यापार करता है, वह है उदित धर्म। भविष्यत् कार्य जनन करने वाली शक्ति है, अव्यपदेश्य धर्म। बीज से अंकुर, अंकुर से शाखा, प्रशाखा, पत्र, पल्लव युक्त वृक्ष। बीज का बीजधर्म शान्त होकर अंकुरधर्म उदित होता है, बीज से अंकुरोत्पत्ति के पूर्व में बीज में जो अंकुरोत्पादिका शक्ति अव्यक्तरूपेण से विद्यमान थी, उसे स्वीकार करना ही होगा। बीजनिहित अंकुरोत्पादिका शक्ति अव्यपदेश्य धर्म का दृष्टान्त है। अव्यपदेश्य धर्म के स्वरूपप्रदर्शनार्थ भगवान् व्यासदेव कहते हैं कि स्थावर, जंगम सभी पदार्थ सर्वविकार जनन शक्ति से युक्त हैं। सभी सर्वात्मक हैं, सभी वस्तुओं से सर्वप्रकार के परिणाम संघटित होते हैं। स्थावर जंगम हो सकता है, जंगम स्थावर हो सकता है। अणु महत् हो सकता है। महत् अणु हो जाता है। जिस शक्ति से नाना जातीय विचित्र पदार्थ से परिपूर्ण विश्व की सृष्टि होती है, उसमें कभी जात्युच्छेद नहीं होता। जिज्ञासा होती है कि यदि सभी सर्वात्मक है, सभी वस्तु यदि सर्वविकार जननशक्ति युक्त है, तब सभी वस्तु में सभी वस्तु का उत्पादन क्यों नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में उपादान नियम क्यों अंगीकार होगा ? प्रातःस्मरणीय भगवान् वेदव्यास इसके उत्तर में कहते हैं कि यद्यपि सबकुछ अवश्य सर्वात्मक है, फिर भी देश-काल-अवयव के सन्निवेश से अधर्म आदि की प्रतिबन्धकता से सब वस्तु में सर्वविकार जननशक्ति सूक्ष्मभावेन रहने पर भी सर्वत्र सर्वदा उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती। प्रतिबन्धक कारण की बाधा अतिक्रमण करने से सभी वस्तु में सर्वप्रकार विकारोत्पादन करना सम्भव हो जाता है। जो योगी है, उनकी दृढ़ संकल्प शक्ति को देशादिनिमित्त बाधा नहीं दे सकते। इसीलिए वे सभी वस्तु से सर्वप्रकार के कार्योत्पादन में समर्थ हैं।[1]

विज्ञान इन अमूल्य उपदेशों को यथावत् सर्वांश में ग्रहण नहीं कर सकता है, तथापि इन्हें कल्पनाप्रसूत कहकर एकबारगी त्याग भी नहीं कर सकता। रसायन, भूततन्त्र (Physics), इत्यादि विज्ञान शाखा की समधिक परिपुष्टि नहीं हो जाती, तब तक क्या मानव प्रकृति को वे इस तरह से वशीभूत कर सकेंगे ? क्या विज्ञान प्रकृति की योग्यता का आविष्कार करके अपने आविष्कारों से उस पर आधिपत्य का अधिकार

1. "जलभूम्योः परिणामिकं रसादिवैश्चरुप्यं स्थावरेषु दृष्टं तथा स्थावराणां जङ्गमेषु जङ्गमानां स्थावरेविष्वत्येवं जात्यनुच्छेदेन सर्वं सर्वात्मकमिति.... देशकालाकारनिमित्तापवन्धात्र खलु समानकालमात्मनामभिव्यक्तिरिति" —योगसूत्रभाष्य

नहीं दे रहा है ? प्रकृति सर्वशक्तिमयी है, प्राकृतिक वस्तुजात ने सर्वशक्तिमान प्रकृति के गर्भ से ही जन्मलाभ किया है। वे सब कर्मसंस्कार से परिच्छिन्न हैं। परिच्छिन्न अवश्य हैं, किन्तु सर्वशक्तिमान जननी के सर्वव्यापक अंक से वे विच्छिन्न नहीं हैं। सभी जड़ वस्तुओं को Magnetic किया जा सके, जब तक यह रहस्य उद्भिन्न नहीं हो सकेगा, तब तक क्या कोई इस बात पर विश्वास कर सकेगा कि समस्त वस्तु प्रक्रिया द्वारा चुम्बकीय गुण वाली हो सकती है ? जब विज्ञान ने इस रहस्य का भेदन कर दिया तब सबको इस पर विश्वास हो गया। इसी प्रकार से यह विश्वास है कि ऋषियों ने जो कुछ कहा है और जो आज उपेक्षित है, एक दिन विज्ञान की और उन्नति होने पर वह समादृत होगा। नवीन विज्ञान अपनी कल्पना तूलिका द्वारा वैसी उन्नति का रूप अंकित करने का साहस ही नहीं कर सका है, जैसा ऋषिगण ने उन्नति लाभ कर लिया था। तैत्तरीय आरण्यक में कहा गया है कि शुद्धचित्त-शिवसंकल्प योगी चित्त को एकाग्र करके अतीत-अनागत, व्यवहित-विप्रकृष्ट सर्वप्रकार के वस्तुजात का सम्यक् रूप से साक्षात्कार करते हैं। किम्बहुना विश्वामित्रादि ऋषिगण ने स्वयं संकल्पमात्र से बहुप्रजा सृष्टि किया है।[1]

छान्दोग्योपनिषत् का कथन है कि शैत्य तथा तेज के संकल्प से जल वाष्पाकृति धारण कर ऊर्ध्व में जाता है और पुनः वृष्टिरूप में पृथ्वी पर अवतरण करता है। वृष्टि के संकल्प से अन्न उत्पन्न होता है। अन्न के संकल्प से प्राण का संकल्प होता है। प्राण संकल्प से मन्त्र का संकल्प, मन्त्र संकल्प से अग्निहोत्रादि कर्म संकल्प तथा अग्नि होत्रादि संकल्प से लोक का संकल्प, लोक के संकल्प से जगत् का संकल्प होता है। इसलिए उपनिषत् का आदेश है कि संकल्प की उपासना करो। जो व्यक्ति ब्रह्म के समान ही संकल्पोपासना करता है, वह संकल्प से अवगत होकर दृढ़ संकल्प हो जाता है। वह कामचार होता है। उसकी कोई कामना अतृप्त नहीं रहती। कोई कर्म असाध्य नहीं होता।[2]

संकल्प ही सर्वशक्ति की आद्य अवस्था है। पण्डित ए०आर० वैलेस (A.R. Wallace) कहते हैं कि हम जब शक्ति का अन्य कोई मूल कारण जानना चाहते हैं, तब सभी शक्ति इच्छाशक्ति प्रसूत है, इच्छाशक्ति ही सब शक्तियों की आद्यावस्था है। ऐसा सिद्धान्त न्यायविगर्हित अथवा असम्भव प्रतीत नहीं होता। विश्वजगत् केवल विशिष्टचेतन पुरुष वर्ग के अथवा एक पुरुषप्रधान की इच्छा के अधीन है, ऐसा नहीं

1. ''मनसा साधु पश्यन्ति मानसा ऋषयः असृजन्त'' —तैत्तरीय आरण्यक
''मानसाः एकाग्रमनोयुक्ता विश्वामित्रादयः ऋषयः स्वसङ्कल्पमात्रेण बहवोः प्रजाः असृजन्त''
—सायण कृत भाष्य

2. ''तानि ह वा एतानि सङ्कल्पात्मकानि सङ्कल्पे प्रतिष्ठितानि समक्लृपतां द्यावापृथिवी... स यः सङ्कल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते क्लृप्तां वै स लोकान् ध्रुवान् ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिध्यति यावत् सङ्कल्पस्य गतं तत्रा स्ययथाकामचारी भवति य सङ्कल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते''
—छान्दोग्योपनिषत्

है, परन्तु वास्तव में इसकी इच्छा है शक्तिस्वरूप। अर्थात शक्ति की इच्छा के अधीन है। प्रोफेसर ग्रीन (T.H.Green) कहते हैं कि इच्छा मनुष्य का कोई पृथक् अंश नहीं है। बुद्धि तथा काम की विवेचना इच्छाशक्ति से पृथक् नहीं हो सकती। मनुष्य इच्छाशक्ति स्वरूप है। इच्छा ही सर्वकर्ममूल है। एमेनुअल कान्ट कहते हैं कि मानव की इच्छा ही उसकी आत्मा है। कोई ज्ञानशक्ति को बुद्धि तथा संयमशक्ति को इच्छाशक्ति कहते हैं। जो भी हो, श्रुति आदि शास्त्र जिसे संकल्पशक्ति कहते हैं, वह अनेकतः इच्छाशक्ति के समान है। यह विश्वास है।[1]

परिदृश्यमान जगत् में विशिष्ट-व्यापक चेतन पदार्थ, संकीर्ण अथवा आसन्न चेतन पदार्थ, सप्राण स्थावर अथवा उद्भिद् एवं अप्राण स्थावर रूप चतुर्विध पदार्थ हमें दृष्टिगोचर हो रहे हैं। ऐतरेय आरण्यक श्रुति के अनुसार जगत् सच्चिदानन्द ब्रह्म अथवा परमात्मा का कार्य है। कार्य सदैव कारणानुसार ही होता है। अतः अखिल जागतिक पदार्थ सत्वादि त्रिविध ब्रह्मस्वभाव विशिष्ट है, सच्चिदानन्दमय ब्रह्म का कार्यभूत अखिल जागतिक पदार्थ सत्वादि त्रिविध ब्रह्मस्वभाव युक्त है। तथापि सकल पदार्थ में सत्वादि त्रिविध ब्रह्मस्वभाव अभिव्यक्त नहीं होता। अचेतन मिट्टी, पाषाण आदि में सच्चिदानन्द आत्मा सत्ता मात्र में आविर्भूत होता है। जड़ मृत पाषाण आदि में

---

1. "If therefore, we have traced one force, however minute, to an origin in our own will, while we have no knowledge of any other primary cause of force, it does not seem an improbable conclusion that all force may be will force, and thus, that the whole universe is not merely dependent on, but actually is, the will of higher intelligences or of one supreme intelligence."

—Natural Selection, Alfred R. Wallace, p. 212

तथा

"Will then is equally and indistinguishably desire and thought not however mere desire or mere thought, if by that is meant desire or thought as they might exist in a being that was not self distinguishing and self seeking or as they may occur to a man independently of any action of himself; but desire and thought as they are involved in the direction of a self distinguishing and self-seeking subject to the realisaton of an idea... The will is simply the man. Any act of will is the expression of the man as he at the time is. The motive issuing in his act, the subject of his will the idea which for the time he sets himself to realise, are but the same thing in different words. Each is the reflex of what for the time, as at once feeling, desiring and thinking, the man, is..."

—Prolegomena of Ethics by T.H. Green, p. 178

"Kant says of man that "he will" is his "proper self"

—Metaphysics of Ethics, p. 71

"Intellect is knowing power, will is controlling power."

—Moral Philosophy by H. Calderwood, p. 166

इतरेतर स्वभावद्वय की अभिव्यक्ति नहीं होती। औषधि वनस्पति इत्यादि स्थावरजीव एवं श्वासरूप प्राणधारी जंगमजीव।

अचेतन मृत पाषाणादि से स्थावर जीवरूप औषधि वनस्पतिगण तथा औषधि वनस्पति से श्वासरूप प्राणधारी जंगम जीवसमूह होता है जो आत्मा का अधिकतर आविर्भाव क्षेत्र है। औषधि वनस्पति में जीवात्मा का किंचित् विकास है। अचेतन मिट्टी (मृत) पाषाणादि में वह दृष्ट नहीं होता। तभी इनकी तुलना में जंगम जीवगण में आत्मा का अधिक आविर्भाव है। मनुष्य में भी जिनकी विवेकशक्ति विकसित है, जो प्रज्ञान युक्त हैं, जो अवलोकन में समर्थ हैं, मर्त्य शरीर में अवस्थान करके भी जो अमृतत्व की इच्छा करते हैं, इस पृथ्वी पर उनकी आत्मा का सर्वाधिक विकास होगा।[1]

योगवाशिष्ठ में कहा है लिंगदेह की प्रधानता के अनुसार मनुष्यादि को चेतन संज्ञा दी गयी है। तिर्यकादि की लिंगदेह तथा स्थूलदेह के समप्राध्यान्य के कारण इनका जड़ चेतन नाम पड़ा है। स्थावरादि के लिंगदेह में अन्तः संवेदन मात्र है। इसलिए उन्हें जड़ संज्ञा दी गयी है।

मानव प्रकृति के परिचायक लक्षण से यथायथ परिचय प्राप्ति के लिए, बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक कर्म के स्वरूप दर्शन के लिए, उन्नति-अवनति के रूप का निरीक्षण करने के लिए, विशिष्ट अथवा व्यापक चेतन पदार्थ मनुष्यादि, आसन्न चेतन पदार्थ—पशु-पक्षी-कीट इत्यादि जीव, सप्राण जड़ तथा स्थावर-उद्भिद् तथा अप्राण जड़-भूत तथा पदार्थों का, जागतिक पदार्थ का तत्वान्वेषण करना अत्यावश्यक कर्त्तव्य है। इसलिए कहा जा सकता है कि मानव प्रकृति के परिचायक लक्षण से अवगत होने के लिए भूततन्त्र (Physics), रसायन (Chemistry), जीवविज्ञान (Biology), शरीरविज्ञान (Anatomy), मनोविज्ञान (Psychology), आत्म विज्ञान, आयुर्वेद, ज्योतिष, गणित, होराशास्त्र (Astrology), भूविद्या (Geology), भूगोल (Geography), वाग्विज्ञान (Science of Language), धर्मनीति (Moral Science), समाजविज्ञान (Sociology), Ethics, राजनीति (Politics), अर्थनीति (Political Economy), इन सब विज्ञान की सहायता ग्रहण करना चाहिए। मानवतत्व (Anthropology) इन सब विज्ञानों से सम्बद्ध है। इनकी सहायता के बिना मानवतत्व से अवगत हो सकना असम्भव है।

भूततन्त्र तथा रसायनतन्त्र के ज्ञान के अभाव में भूत तथा भौतिक पदार्थ का स्वरूपावलोकन नहीं हो सकता। मानव शरीर पंचभूत विकार है। अतः मानवतत्व से

---

1. "तस्य य आत्मानमाविस्तरां वेदाश्नुते हविर्भूयः औषधिवनस्पतयो यच्च किन्तु प्राणभृत्स आत्मानमास्तिरां वेदौषधिवनस्पतिषु हि रसो दृश्यते चित्तं प्राणभृत्सु प्राणभृत्सुत्वेवाविस्तरामात्मा तेषु हि रसोऽपि दृश्यते न चित्तमितरेषु पुरुषे त्वेषां विस्तरामात्मा स हिमप्रज्ञानेन सम्पन्नतमो विज्ञानं वदति, विज्ञानं पश्वति वेद श्वस्तनं वेदलोकालोकोमत्तेनामृतमीषु सत्येवं सम्पन्नः अथेतरेषां पशुनाम् अशनापिपासे एवाभिविज्ञानं न विज्ञातं वदन्ति न विज्ञातं पश्यन्ति न विदुःश्वस्तनं न लोकालोकौ त एतावत्तौ भवति यथाप्रज्ञं हि सम्भवाः।" —ऐतरेय आरण्यक

अवगत होने के लिए भूततन्त्र (Physics) तथा रसायनतन्त्र की सहायता लेना आवश्यक है। जब भूत तथा भौतिक शक्ति प्राण अथवा जीवनी शक्ति के वश में कार्य करती है, तभी साधारण जीव की अभिव्यक्ति होती है। इसलिए भूतविद्या तथा रसायन-विद्या का घनिष्ठ सम्बन्ध जीवविज्ञान के साथ है।

भूत तथा भौतिक शक्ति, जड़ विज्ञान की दोनों अभिधेय हैं। भूत तथा शक्ति की भिन्नता का, इन्द्रिय गम्य धर्मसमूह का, इनके स्वभावसिद्ध अथवा कृत्रिमोपाय द्वारा संघटित परिणामों का तत्वानुसन्धान करना जड़विज्ञान का कार्य है। ''जड़ का विज्ञान ही जड़विज्ञान'' यदि जड़विज्ञान का यह अर्थ लिया जाये, तब यह कहना पड़ेगा कि प्रकृति विज्ञान ही जड़विज्ञान का यथार्थ अर्थ है। क्योंकि श्रुति आदि शास्त्र प्रकृति को जड़ पदार्थ कहते हैं। अत जड़विज्ञान दृश्य का, विषय का, भोग्य (Object का) का विज्ञान है। श्रुति का कथन है कि प्रकृति तथा उसके विकार बुद्धि, मनः, इन्द्रिय, भूत—ये दृश्य हैं, भोग्य हैं। अतएव मनोविज्ञान-जीवविज्ञान, ज्योतिष आदि सभी जड़विज्ञान के अन्तर्गत आते हैं। जो जड़विज्ञान की अवज्ञा करते हैं, उन्होंने विज्ञान के प्रयोजन को ही नहीं जाना है, यह मेरा विश्वास है। प्रकृति की सहायता के बिना पुरुष को जान सकना असम्भव है। पुरुष को जानने के लिए प्रकृति की उपासना करनी होगी। इसी कारण सांख्य ने प्रकृति की ही उपासना की है। सांख्यदर्शन प्रकृति देवी की स्तुति से पूर्ण है। जो प्रकृति को पहचान सके हैं, उन्हीं के समक्ष पुरुष स्वयं प्रकाशित होता है। प्रकृति की उपासना से ही पुरुष का रूप देखा जा सकता है। पुरुष कभी भी प्रकृति विरहित तथा प्रकृति पुरुष विरहित नहीं है। विश्वजगत् केवल जड़प्रकृति का कार्य नहीं है। यहाँ प्रत्येक अणु में प्रकृति-पुरुष दोनों विद्यमान हैं। एक को देखने के लिए उद्यत होने पर अन्य को देखना ही होगा। ऋग्वेद ने कहा है कि जगत् भोक्तृभोग्य सम्बन्धात्मक है। जगत् अग्निषोमात्मक है। अथवा प्रकृति तथा पुरुष के योग से विश्वजगत् सृष्ट हुआ है—

सप्तार्धगर्भा भुवनस्यरेतो।
विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशविधर्मणि।

अर्थात् अविकृति रूपा तथा अखिल विकारों की मूल प्रकृति, त्रिगुणमयी शक्ति तथा प्रकृति-विकृति में उदासीन पुरुष-चिच्छक्ति, इन दो से महदादि सप्त तत्व की उत्पत्ति होती है। भले ही प्रकृति-पुरुष योग से विश्वजगत् सृष्ट हुआ हो, पुरुषांश के अविक्रिय होने के कारण तथा प्रकृत्यंश के विकारशीलत्व के कारण प्रकृत्यंश ही प्रपंचाकार में परिणत हो जाता है। इसीलिए ऋग्वेद में अर्द्धगर्भा का प्रयोग किया है। महदादि सप्त प्रकृति,-विकृति अपने अर्द्धांश (प्रकृत्यंश) द्वारा विश्वजगत् का प्रसव करती है। महदादि सप्तत्व ही (महतत्व—अहंकारतत्व तथा पंचतन्मात्र) विश्वप्रपंच के आन्तर तथा बाह्य पदार्थों के रेतः स्वरूप है। बीज तथा कारण हैं। ये सप्ततत्व

सर्वव्यापक पुरुष विष्णु के एक देशवर्त्ती, एक पादाश्रित हैं। ये उसकी शक्ति हैं।[1] जिन्होंने सांख्यदर्शन का अध्ययन किया है, वे अनायास ही उपलब्ध करेंगे कि यह ऋग्वेद का मन्त्र ही सांख्य दर्शन का बीज है। पुरुष तथा प्रकृति (प्रधान) एक ब्रह्म के ही दो रूप (Dual Aspect) हैं।

प्रकृति त्रिगुणमयी है। अब गुणत्रय के सम्बन्ध में एक-दो बात कही जा रही है। सांख्य का कथन है कि सत्वगुण=प्रकाशसमर्थ, रजोगुण=प्रवृत्ति—परिचालन समर्थ, तमोगुण=नियमन अथवा प्रतिबन्ध समर्थ है। सत्वादि गुणत्रय अन्योन्याभिभव वृत्तिक हैं। अन्योन्याश्रय वृत्तिक, अन्योन्यजननवृत्तिक तथा अन्योन्यमिथुन वृत्तिक हैं। एक गुण अन्य दो गुणों को अभिभूत करके अपनी वृत्ति प्राप्त करता है। सत्वगुण अभिभूत करता है रजः-तमः को। रजोगुण अभिभूत करता है सत्व तथा तमः को। तमोगुण अभिभूत करता है—सत्व तथा रजः को। प्रथम में प्राप्त करता है शान्तवृत्ति, द्वितीय में प्राप्त करता है घोरावृत्ति, तृतीय में प्राप्त होती है मूढ़ावृत्ति। इसी कारण गुणत्रय हैं अन्योन्याभिभव वृत्तिक। जिसकी अपेक्षा से जिसमें क्रिया होती है, उसे उसका आश्रय कहा जाता है। सत्वगुण प्रवृत्ति तथा नियम का आश्रय लेकर रजः एवं तमः का प्रकाश द्वारा उपकार करता है। तमः प्रकाश-प्रवृत्ति का आश्रय लेकर नियमन तथा प्रतिबन्ध द्वारा सत्व तथा रजः को उपकृत करता है। रजः प्रकाश तथा नियम का आश्रय लेकर प्रवृत्ति द्वारा सत्व तथा तमः का उपकार करता है। इसी कारण गुणत्रय अन्योन्याश्रय वृत्तिक हैं। गुणत्रय को इसी कारण अन्योन्यजनन वृत्तिक कहा है, क्योंकि ये अन्यतम के जनक हैं। जनन=परिणाम। परिणामत्रय के त्रिगुणात्मकत्व के कारण इनका अन्योन्यजनन वृत्तिकत्व अनुमित हुआ है। ये दोनों स्त्री-पुरुष के समान अन्योन्य-संयोगशील हैं। अन्योन्य सहचर हैं। इसीलिए इनको अन्योन्यमिथुन वृत्तिक भी कहा है। कहा है—

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योन्याभिभवाश्रयजनन मिथुन वृत्तयश्चगुणाः॥

(सांख्यकारिका)

भगवान् वेदव्यास कहते हैं कि सत्वादिगुणत्रय परस्पर उपरक्तप्रविभाग हैं। अर्थात् सत्व का प्रकाशांश, रजः के क्रियांश तथा तमः के प्रतिबन्धकांश द्वारा तथा सत्व के प्रकाशांश द्वारा तथा तमोगुण का प्रतिबन्धकांश सत्व के प्रकाशांश तथा रजः के क्रियांश द्वारा उपरक्त है। गुणत्रय परिणामस्वभाव है तथा संयोगविभागधर्मी भी हैं। ये परस्परतः विरोधी हैं। परस्परतः विरुद्धताड़ित् शक्तिद्वय में जैसे एक के द्वारा दूसरे का

---

1. "यद्वा सप्तार्धगर्भाः सप्तमहदंकारी पञ्चतन्मात्राणीति मिलित्वा सप्तसंख्यानि तत्वानि अर्धगर्भा अविकृतिरूपा विकाराश्रया मूलप्रकृतेः प्रकृतिविकृति रुदासीनस्य आत्मानश्चोत्पन्नत्वादर्धांशेन प्रपञ्चकारेण परिणामात् अर्धगर्भाः पुरुषांशस्याविक्रीयत्वा दित्यभिप्रायः अतएव तेषां प्रकृतिविकृतित्वं यस्मादेवं तस्माद्भुवनस्य रेतः कारणं कारणभूतानि तान्येव विष्णोर्व्याप्तस्य पुरुषस्य विधमपि प्रदिशा प्रदेशेन तिष्ठन्ति"—सायणभाष्य

बल स्फुरित होता है, (जैसे दो पहलवानों में से एक के बल-प्रयोग से दूसरा उत्तेजित होता है, वैसे ही) परस्परतः विरोधी सत्वादि गुणत्रय के परस्पर आश्रय से परस्परतः बल में उत्तेजना आती है, प्रतिद्वन्द्वि शक्ति से ही प्रतिद्वन्द्विशक्ति का विजृम्भण होता है। यदि सत्वादि गुणों में यह प्रतिद्वन्द्विभाव न रहता, तब कोई भी स्फुरण होना सम्भव नहीं था।[1] भूत तथा भौतिक पदार्थ तमोगुणप्रधान परिणाम हैं। हम जड़ शब्द से साधारणतया तमोगुणप्रधान परिणाम को ही लक्ष्य करते हैं। गुणत्रय जब अन्योन्य-मिथुन वृत्तिक है, जब वह अन्योन्याश्रयवृत्तिक है, तब यथोक्त जड़ पदार्थ में भी सत्व तथा रजः विद्यमान रहता है। आकाशादि पंचभूत में क्रमशः तमोगुण मात्रा वर्द्धित होती है। प्राणशक्ति रजोगुणप्रधान परिणाम है। चक्षुरादि इन्द्रियगुणप्रधान तथा अन्तःकरण सत्वगुणप्रधान परिणाम हैं। परमाणु भी त्रिगुणविकार पदार्थ हैं। भूत तथा भौतिक शक्तिराज्य में भेदवृत्तिक रजः तथा संसर्गवृत्तिक तमः शक्ति की प्रधानता परिलक्षित होती है। जड़ पदार्थ के जितने प्रकार के धर्म हमारी बुद्धि में विषयीभूत हो रहे हैं, उनके सम्बन्ध में विचार करने से ज्ञात होता है कि वे सभी गुणत्रय के कार्य हैं। विज्ञान ने भूत तथा भौतिक शक्ति का स्वरूपदर्शन कराने के लिए (स्फुटरूप से अथवा अस्फुट रूप से) त्रिगुणतत्व की ही व्याख्या की है। यह बात सत्य है अथवा असत्य, यह देखा जायेगा।

विद्वान् बेमा (J. Bayma) कहते हैं कि प्रत्येक भौतिक वस्तु (Material Substance) प्रवृत्ति अथवा क्रियाशक्ति, गति, प्रवृत्ति अथवा क्रियाश्रयता तथा जड़त्व (Active Power, Possivity and Inertia) इन त्रिविध गुणों से युक्त हैं। जो सम्पूर्णतः प्रवृत्ति अथवा क्रियाशक्तिविहीन है, वह कभी भी अपने अस्तित्व का प्रदर्शन अथवा गुणख्यापन नहीं कर सकता। अतएव कोई भी उस पदार्थ का स्वरूप नहीं जान सकता। वह पदार्थ सत् है, अथवा नहीं है, इसके निर्धारण में अक्षम ही रह जायेगा। जब भौतिक वस्तु हमारी इन्द्रियों में क्रिया करती है, तब हम उन्हें सत् समझते हैं। तब उनके गुणों का परिचय प्राप्त करते हैं। तब हम अंगीकार करते हैं कि ये प्रवृत्ति-शक्ति विशिष्ट हैं। जो गति अथवा कर्माश्रयविहीन हैं, जो गति तथा कर्म का आधार नहीं है, वह कभी भी गतिग्राही नहीं हो सकता। भौतिक पदार्थ मात्र ही गतिग्राही है। अतः वह कर्माश्रय है। जो अपनी अवस्था का स्वयं परिवर्तन नहीं कर सकता, वह स्वयं गतियुक्त होगा अथवा अन्य द्वारा चालित किया जायेगा, यह निश्चित कर सकना सम्भव नहीं है। अतः सभी भौतिक वस्तु निसन्दिग्ध रूप से जड़त्व धर्मयुक्त है।[2] पतंजलिदेव कहते हैं कि सत्वगुण प्रकाशील है, रजोगुण क्रियाशील है

---

1. ''एते गुणाः परस्परोक्त प्रविभागाः''
''परिणामिनः संयोगविभागधर्माणः इतरेतेरोपाश्रयेण उपार्जितमूर्त्तयः''—योगसूत्रभाष्य
2. "Every material substance is endowed with active power, passivity and inertia, for causing receiving and conserving local motion." —Molecular Machanics by J.Bayma, p. 11

तथा तमोगुण स्थितिशील है। भगवान् वेदव्यास[1] कहते हैं कि तापक रजोगुण का सत्वगुण तप्य है। सत्वगुण ही क्रिया का आश्रय है। अध्यापक बेमा भी यहाँ त्रिगुण को ही लक्ष्य कर रहे हैं।

भूत (Matter) तथा शक्ति (Energy-Force-Power) के स्वरूप सम्बन्ध में वैज्ञानिकों के मध्य विशेष मतभेद है। पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने भूत (Matter) तथा शक्ति (Energy) के स्वरूप का जहाँ तक अवलोकन किया है, उससे विदित होता है कि उन पदार्थद्वय के सम्बन्ध विषयक चतुर्विध प्रधान सिद्धान्तों का वर्णन किया जा सकता है, जो निम्नलिखित हैं—

(क) भूत तथा शक्ति परस्परतः भिन्न हैं। शक्ति भूत के बाहर, भूत के बहिर्देश में अवस्थित रहकर भूत तथा भौतिक पदार्थ पर क्रिया करती है।

(ख) शक्ति भूत के अतिरिक्त है। भूत से विजातीय है—स्वजातीय नहीं है। तथापि भूत से बाहर नहीं है। भूत के अन्तः में स्थित है।

(ग) शक्ति भूत से अतिरिक्त नहीं है। यह भूत का नैसर्गिक धर्म है।

(घ) भूत तथा भौतिक शक्ति भिन्न नहीं है। भूत ही भौतिक शक्ति है। पक्षान्तर से भौतिक शक्ति ही भूत है।

ये चारों सिद्धान्त सन्दिग्ध हैं। हमारी धारणा है कि Matter शब्द से जो लक्षित होता है, वह तमोगुणप्रधान परिणाम है तथा Energy रजोगुणप्रधान परिणाम है। गुणत्रय अन्योन्यमिथुन वृत्तिक हैं। अन्योन्याश्रय वृत्तिक तथा अन्योन्याभिभव वृत्तिक हैं। इस शास्त्रोपदेश का मर्म ग्रहण करने से भूत तथा भौतिक एवं शक्ति सम्बन्धित सभी विवाद समाप्त होगा और वेद के चरण में तथा वेदप्राण ऋषि कपिल, पतंजलि, वेदव्यास के चरणों में लुण्ठित, विलुण्ठित होना पड़ेगा।

अध्यापक बेमा (J. Bayma) ने भौतिक जगत् में आकर्षण तथा विप्रकर्षण शक्तिद्वय के अस्तित्व को माना है। यदि भूतसमूह केवल मात्र आकर्षण धर्मात्मक होते, तब किसी वस्तु में प्रसारणशीलता, स्थितिस्थापकता, स्थानावरोधकता (Expansivity, Elasticity and Impenetrability) धर्म परिदृष्ट ही नहीं होता। यदि भौतिक वस्तु के अणु विप्रकर्षण धर्मात्मक न होते, तब वायु एवं वाष्प प्रसरणशील न होता। ऐसी स्थिति में क्रिया की प्रतिक्रिया ही नहीं होती है। पाषाणादि पर आघात करने से वे उसे सह्य करते रहते। कर्म का रूप है बाधा का अतिक्रमण करना। बाधा के अभाव में कर्म ही नहीं होता। कर्म के रूप का चिन्तन करने से क्रियानिवर्त्तकता का रूप चित्तदर्पण पर प्रतिफलित होता है। अतः कर्ममात्र क्रियाशील तथा स्थितिशील है। अथवा प्रवृत्ति और संस्त्यान, अथवा रजः-तमः, इन द्विविध शक्ति द्वारा कर्मसाधित होता। यह अनुमान करना होगा। किम्बहुना क्रियाशय-क्रियाव्याप्य-प्रकाशशील सत्वगुण का भी अस्तित्व मानना होगा। कोई-कोई आणविक आवर्त्तसमूह

1. ''तत्रापि तापकस्य रजसः सत्वमेव तप्यम् कस्मात् तापक्रियायाः कर्मस्थत्वात् सत्वे कर्मणि तापक्रिया न अपरिणामिनी निष्क्रिये क्षेत्रज्ञे...''—योगसूत्रभाष्य

(Molecular Vortices) को आकर्षण-विकर्षण के स्थान पर बैठाना चाहते हैं। अध्यापक बेमा ने इसे प्रमाणित किया है कि इससे इष्टसिद्धि कदापि नहीं होगी।[1]

भौतिक वस्तुसमूह के काठिन्य, तारल्य, प्रसारणशीलत्व, स्थितिस्थापकत्व, रूपवत्व आदि धर्म सत्वादिगुणत्रय के ही कार्य हैं। विज्ञान ने इसे प्रतिपादित किया है। महामति न्यूटन का गतिविषयक तीनों नियम सत्वादिगुणत्रय की ही व्याख्या है।

रासायनिक पण्डित जेगो (W. Jago) कहते हैं कि जो गुरुत्वयुक्त है, अर्थात् जो मध्याकर्षण (Gravitation) क्रियास्पद है, मध्याकर्षण शक्ति जिस पर क्रिया करती है, वह है Matter। अतएव कहा जा सकता है कि जो तमोगुणप्रधान है, उसे ही इन्होंने Matter कहा है। तमोगुण स्थितिशील, सन्स्त्यान धर्मात्मक, तमोगुण संसर्गवृत्तिक (Aggregative Power) है।[2]

अध्यापक हलमन् (S.W. Halman) कहते हैं कि बल (Energy) के लक्षणनिर्देशकाल में कहा है कि जो द्रव्यसमूह की गति अवस्था का परिणाम हेतु है, वही बल (Energy) है। विद्वान् ऐलेन (Grant Allen) संसर्गवृत्तिक (Aggregative Power) शक्ति को फोर्स (Force) तथा भेदवृत्तिक शक्ति को (Seperative Power) को एनर्जी (Energy) कहते हैं। संसर्गवृत्तिक तथा भेदवृत्तिक को उक्त विद्वान् ने 4 भागों में विभक्त किया है। यथा—मूर्त्तावच्छिन्न सांस्थानिक (Molar), अण्ववच्छिन्न (Molecular), परमाण्ववच्छिन्न (Atomic) तथा ताड़ित् (Electric)। मध्याकर्षण (Gravitation), मूर्त्तावच्छिन्न अथवा सांस्थानिक संसर्गवृत्तिशक्ति (Molecular force or Aggregative Power) है। रासायनिक आकर्षण (Chemical Affinity) परमाण्वच्छिन्न संसर्गवृत्तिशक्ति है तथा ताड़िताकर्षण (Electric Affinity) है ताड़ितसंसर्ग वृत्तिशक्ति (Electric Force or Aggregative Power)। अतएव तापादि शक्तिसमूह में जो त्रिगुण परिणाम है, आशा करता हूँ कि पाश्चात्य विज्ञान उसे स्पष्टतः अंगीकार करेगा।

प्रत्येक अणु निर्दिष्ट संसर्गवृत्ति शक्तियुक्त है। कोई अणु कभी भी इससे विरहित होकर नहीं रहता। इसी कारण विश्व में समन्वित संसर्ग वृत्तिशक्ति का मान सदा एकरूप रहता है। कभी भी ह्रासवृद्धि नहीं होती। यही संसर्गवृत्तिक शक्तिसातत्य (Persistence of Force) कहा जाता है।

विश्व में समष्टिभूत शान्त तथा स्थितिशील (Potential), उदित तथा क्रियमाण (Kinetic) भेदवृत्ति शक्ति (Energy) सतत स्थिर है। इनका परिणाम भी एकरूप है। तब भी यह संसर्गवृत्तिशक्ति की तरह प्रत्येक अणु में निबद्ध होकर नहीं रहती। द्रव्य से द्रव्यान्तर में संक्रमण करती है। संसर्गवृत्तिशक्ति समूह सतत

1. "Attractive and repulsive powers cannot be replaced by molecular vortices." —Molecular Mechanics, J. Bayma, p. 39
2. "Matter, then, is anything which possesses weight that is, is acted on by gravitation." —Inorganic Chemistry by Jago, p. 1

अपरिवर्तनीय रूप से स्थितिशील रहता है। भेदवृत्ति शक्तिसातत्य कन्जरवेशन ऑफ एनर्जी (Conservation of Energy) के नाम से लक्षित होती है। यहाँ यह कहना है कि वैज्ञानिकों में अनेक दोनों का एकार्थ में ही प्रयोग करते हैं। विद्वान् स्पेन्सर ने 'Persistence of Force' इस संज्ञा का ही उपयोग किया है। पण्डित हेल्महोल्ज ने 'Conservation of Force' शब्द से इंगित किया है, जबकि टेट (Tait), स्टुअर्ट, ग्रोव (Grove) इसे Conservation of Energy कहते हैं।

अप्राण स्थावर जगत् में हम जो कुछ देखते हैं, वह त्रिगुण का कार्य है। वहाँ गुणत्रय की प्रतिद्वन्द्विता तथा आकर्षण एवं विप्रकर्षण के अन्योन्याभिभव की चेष्टा है। प्रतिद्वन्द्विता शब्द से हम जो कुछ समझते हैं, गुणत्रय की प्रतिद्वन्द्विता वैसा द्वन्द्व नहीं है। गुणत्रय जैसे एक-दूसरे के अभिभव करने की चेष्टा करते हैं, उसी प्रकार एक क्षण के लिए भी वे एक-दूसरे का विरह सहन नहीं कर सकते। अति दूर जाने पर खींचते हैं। अति निकट आने पर भगा देते हैं। यह एक विचित्र प्रतिद्वन्द्विता है। इसे प्रतिद्वन्द्विता न कहकर कलह ही कहना होगा।

विज्ञान में भौतिक, प्राकृतिक तथा रासायनिक रूप द्विविध परिणाम का वर्णन है। तापसंयोग से द्रव्य का प्रसारण तथा विलयन (Expansion and Fusion), लोह का चौम्बक धर्माधान (Magenetising of Iron), इत्यादि इनके प्राकृतिक परिणाम (Physical Change) परिवर्तन के दृष्टान्त हैं। भौतिक वस्तुसमूह के जैसे परिमाण में उनके गुण का तथा उपादान का अन्यथाभाव होता है, वह है रासायनिक परिणाम। भौतिक परिणाम में उपादान का अन्यथाभाव नहीं होता। गुणगत परिणाम ही होता है। रासायनिक संयोग सजातीय अणुओं में नहीं होता। विजातीय अणुसमूह परस्परतः रासायनिक संयोग से संयुक्त होते हैं, तथापि पारमाणविक गुरुत्व की संख्या के अनुपात (Proportion) के अनुसार रासायनिक संयोग होता है। रासायनिक संयोग सजातीय अणुओं के मध्य न होने का कारण क्या है? सभी द्रव्यों के प्रति सभी द्रव्यों का रासायनिक आकर्षण समान न होने का हेतु क्या है? क्यों द्रव्यभेद से रासायनिक आकर्षण की भिन्नता उपलब्ध नहीं होती? रसायनशास्त्र आज भी इन प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे सका है। अध्यापक J.J. Thomson, अपने ग्रन्थ 'Applications of Dynamics to Physics And Chemestry' में रासायनिक संयोग के तत्व-निरूपण की चेष्टा कर गये हैं। पाठकगण इस ग्रन्थ को देखें। अध्यापक बेमा (J. Bayma) कहते हैं कि समप्रकृतिक अणु अपने विप्रकर्षणात्मक आवेष्ठन (Repulsive Envelop) की साक्षात् प्रतिबन्धकता के कारण परस्पर सम्मिलन के लिए सचेष्ट[1] नहीं होते।

---

1. "Chemical affinity is not to be found between molecules of the same kind. For molecules of the same nature on account of the direct opposition of their repulsive envelops, cannot have any tendency to fuse themselves into a single molecular system."
—Molecular Mechanism by J. Bayma, p. 215

हमारा विचार यह है कि कर्म का उद्देश्य है अभाव का मोचन। जिसका जो है, वह उसे पाना नहीं चाहता (क्योंकि वह तो उसके पास already है)। जिसके पास जो नहीं है, वह उसका अभावबोध करता है। जिसके अभाव के कारण वह अपने को अपूर्ण मानता है, उसे वह पाना चाहता है। इसी कारण धन के साथ ऋण का रासायनिक संयोग होता है, धनी धनी का तथा ऋणी ऋणी का विप्रकर्षण करता है। धनी सदा ऋणी का आकर्षण करता है। क्या यह बात पूर्ण सत्य है? संसार में यह परिलक्षित होता है कि धनी दरिद्र को देखकर विरक्त हो जाते हैं, विद्वान् मूर्ख से घृणा करता है, तब इस बात को सार्वभौम सत्य कैसे कहें कि धनी ऋणी का आकर्षण करता है? बात पूर्णत: सत्य है, क्योंकि हम जिनको धनी मानते हैं, वे वास्तव में धनी नहीं हैं, हम जिनको विद्वान् मानते हैं, वे भी वास्तव में विद्वान् नहीं हैं। जिनकी धनाकांक्षा पूर्ण हो गयी है, जो स्वयं को धनी मान रहे हैं, वे ही वस्तुत: धनी हैं। जिनकी धनाकांक्षा अभी भी चरितार्थ नहीं है, जो स्वयं धन लाभार्थ सदा व्यस्त हैं, जिन्होंने अपने धनाभाव को विशेषत: अनुभव किया है, ऐसे लोग दरिद्र के ही समान हैं। वे दरिद्र के सजातीय हैं। दरिद्र के विजातीय नहीं हैं। इसी प्रकार जो प्रकृत विद्वान् हैं, वे कदापि मूर्ख की उपेक्षा नहीं करते। एक ही वस्तु सम्बन्धित भेद से धन तथा ऋण, दोनों धर्मी हो जाते हैं। गन्धक ऑक्सीजन के सम्बन्ध में धन (Positive) है, किन्तु हाईड्रोजन के सम्बन्ध में ऋण है। अतएव सिद्धान्त है कि प्रत्येक अणु में धन-ऋण दोनों ताड़ित् विद्यमान है।[1] प्रत्येक जागतिक पदार्थ अग्निषोमात्मक है। इस शास्त्रोपदेश का यही आशय है।

रसायनतन्त्र को शुक्राचार्यजी ने कलाविशेष कहा है। पदार्थसमूह के संयोग, उपादान, ताप एवं अन्यान्य प्राकृतिक शक्तियों द्वारा पदार्थसमूह में जो परिवर्तन संघटित होता है तथा विभिन्न जातीय द्रव्यों की परस्परत: क्रिया तथा प्रतिक्रिया होती है, इन सबका अनुसन्धान करना रसायनशास्त्र का उद्देश्य है। रासायनिक प्रतिक्रिया को अव्यवहित संयोग (Direct Union or Synthesis), रासायनिक स्थानभ्रंश (Chemical Displacement), इतरेतर परिवर्तन (Mutual Exchange), अणुओं का स्थाननिवेशनभेद (Rearrangement of Particles), तथा साक्षात् विभाजन (Direct Decomposition) इन पाँच श्रेणियों में विभक्त किया गया है।

---

1. "Sir Himprey Dary, in his admirable paper on galvanism, endeavoured to show that substances having an affinity for each other are in different states of electricity; the one plus and the other minus; that the more intensely these two different states exit in two bodies, the stronger is their affinity for each other; and that in order to decompose a compound or to put an end to the union between its constituents, we have only to bring them into the same electrical state."

—System of Chemistry of Inorganic Bodies by Thomson, p. 36

रसायनतन्त्र के साथ मूलतन्त्र का जो निकट सम्बन्ध है, वह सर्वविदित है। आणविक आकर्षण-विकर्षण की लीला भूततन्त्र में तथा पारमाणविक आकर्षण-विकर्षण की लीला रसायनतन्त्र में विशेषत: वर्णित है। पाश्चात्य रसायनतन्त्र हाईड्रोजन, ऑक्सीजन, नाईट्रोजन, कार्बन इत्यादि प्राय: 70 मूलभूत का संवाद प्रदान करता है। इन मूल अमिश्रभूत के परस्पर संयोग से विविध सांयौगिक पदार्थों की उत्पत्ति होती है। विश्व के भौतिक पदार्थों को दो प्रधान भागों में विभक्त किया जाता है। जिन भौतिक पदार्थों के अणुगण परस्परत: संहत, एकीभूत हैं, जिनकी अन्योन्य संयुयुक्षा, परस्पर मिलनेच्छा परितृप्त हो गयी है, वे प्रथम श्रेणी भुक्त हैं। जिन भौतिक पदार्थों के अणु अब तक परस्परत: मिलित नहीं हैं, अत: जिनका इतरेतर मिलन प्रयोजन अब तक अचरितार्थ ही है, वे द्वितीय श्रेणी भुक्त हैं।

पृथ्वी का बाह्यत्वक, बाह्यपटल प्रधानत: प्रथम श्रेणी के जड़वस्तु समूह से पूर्ण है। मृत्तिका-पाषाणादि ऐसी जड़वस्तु है। जब तक कार्बन तथा ऑक्सीजन के अणु परस्परत: मिलकर कार्बनिक एसिड रूप में परिणत नहीं हो जाते, तब तक ये परस्परत: अभिमुखीन अवस्था में सवेग दौड़ते रहते हैं। तब तक ये प्रवृत्तिशील रहते हैं। किन्तु परस्पर मिलित होकर कार्बनिक एसिड रूप से परिणत होने से इनकी प्रवृत्ति विनिवृत्त हो जाती है। तब ये प्रशान्तभाव से मृतवत् अवस्थित हो जाते हैं। भेदवृत्ति सविता कार्बन को पुन: ऑक्सीजन के आलिंगन से वियुक्त कर देते हैं। ये पुन: परस्परत: मिलित होने के लिए प्रवृत्त होते हैं। पुन: चंचल अथवा गतिशील हो जाते हैं। भौतिक जगत् का किंचित् आभास मिला। भौतिक जगत् आकर्षण-विकर्षण का लीलाक्षेत्र है। यही भौतिक वस्तुजात की प्रकृति है, यह हृदयंगम हो गया। अब यह देखना है कि जीवजगत् की प्रकृति क्या है? उद्भिद्राज्य से जैवप्रकृति का विकासारम्भ होता है। ऐतरेय आरण्यक ने उद्भिद् को सप्राण जड़ कहा है।

उद्भिद् तथा जैवशरीर में परिस्पन्दात्मिका क्रिया होती है। उद्भिद् शरीर रससञ्चलनक्रिया है तथा जैवशरीर में शोणित संचालन क्रिया निष्पन्न होती है। पाषाणादि में ऐसा नहीं होता। रस अथवा रक्तसंचालन व्यापार यथायोग्य यन्त्रों द्वारा साधित होता है। जिसके द्वारा रसरक्तसंचार का शरीरकर्म निष्पादित होता है, उसे शारीरयन्त्र (Organ) कहते हैं। सजीव पदार्थ शरीरयुक्त होता है। सजीव शरीर के जो घटकावयव हैं, उनमें कोई भी निरर्थक नहीं है। जिन अवयवों के समवाय से शरीर गठित होता है, उन सबमें पृथक्-पृथक् कार्यकारिता रहती है। सभी पृथक्-पृथक् प्रयोजनार्थ समवेत होते हैं। वृक्ष का मूल, पत्रादि प्रत्येक का अलग-अलग कार्य है। शरीर पदार्थ मात्र ही भिन्न-भिन्न यन्त्रों की समष्टि है। अशरीरी में ऐसा नहीं है। सजीव देह के जो घटकावयव हैं, वे तरल तथा ठोस इन दो पदार्थों से सम्मूर्च्छित हैं। अशरीरी पदार्थ वायवीय होते हैं। सजीव देह का गठन शुद्ध तरल अथवा शुद्ध ठोस द्रव्य से नहीं होता। दोनों के मिलन से शरीर संघटित होता है। अशरीरी सांयौगिक तरल पदार्थ जात

जब ठोस आकार में परिणत होते हैं, तब साधारणत: वे स्फटिक्वत् होते हैं। परन्तु सजीव देह में वैसी परिणति नहीं होती। सजीव की वृद्धि तथा निर्जीव की वृद्धि भिन्न प्रकार से होती है।

सजीव देह बाह्य पदार्थ ग्रहण करता है, उसकी देह में इन बाह्यपदार्थों का यथायोग्य विपरिणाम होता है। सजीव देह की वृद्धि निर्दिष्ट नियम से होती है, नियमातिक्रम से नहीं होती। वृक्ष का मूल-स्तम्भ-शाखा-अथवा जीवदेह की अस्थि-पेशी-स्नायु इत्यादि का यथाप्रमाण अभ्युच्चय होता है तथा इस वृद्धि की निर्दिष्ट कालानुसार उपरति भी होती है। सजीव देह के अवयवों की वृद्धि अप्रतिहत गति से नहीं होती। निर्जीव देह की वृद्धि केवल अणुओं के पारस्परिक संयोग से होती है। सजीव देह तथा निर्जीव देह की उत्पत्ति-पद्धति भी विभिन्न है। सजीव देह की उत्पत्ति बीजपूर्विका है, निर्जीव देह की वैसी नहीं है।

जिस प्रकार जीवदेह कोषसमूह द्वारा गठित होता है, वृक्ष की देह भी कोषों से गठित होती है। रससंचालनादि कर्मसम्पादनार्थ जिन यन्त्रों का प्रयोजन है, वृक्ष में वे सब विद्यमान हैं। कोषाकार (Cellular, Parenchyma), दारुमय (Wood Tissue), नाड़ीमय (Vascular Tissue), रज्जु नाड़ीमय (Fibro Vascular tissue), वृक्षशरीर इस विधान द्वारा सम्मूर्च्छित है। उद्भिद् का आहार अंशत: वायवीय, अंशत: जलीय अथवा तरल है। अपने उत्पत्ति क्षेत्र पृथ्वी अथवा जल से (जो जल में उत्पन्न होते हैं) ये जलीय आहार तथा वायु से वायवीय आहार संग्रह करते हैं। तरल आहार मूल से तथा वायवीय आहार पत्र (पत्ते) से लेते हैं।

आन्तर तथा बाह्य सजीव देह इन द्विविध प्रकृति से जात, स्थित, वर्द्धित, विपरिणाम प्राप्त, क्षीण तथा विनष्ट होती है। बीज है आन्तर प्रकृति। मृत्तिका, जल, वायु, तेज: (आलोक तथा उत्ताप) तथा आकाश इसकी बाह्य प्रकृति है। धातुसमूह का संहतीकरण पृथ्वी का कार्य है। धातुओं का वहन जल का कार्य है। विभागादि वायु का कार्य है तथा अवकाश द्वारा निवर्द्धन आकाश का कार्य है। बीजनिष्ठ शक्ति के केन्द्रिक तथा बाह्य प्रकृति शक्तिसमूह को पारिध कहते हैं। अंकुरित होना, शाखा-प्रशाखा-पत्र-पल्लव-पुष्प-फल इत्यादि की शक्ति बीज में सूक्ष्मभावेन विद्यमान रहती है। मृत्तिका आदि बाह्य प्रकृति बीज में सूक्ष्मत: अवस्थित इस शक्ति को उदितावस्था में लाने में सहायक होती हैं। बाह्यप्रकृति वृक्ष का साधारण कारण है। बाह्यप्रकृति जैसे आम्रबीज के लिए है, वैसे ही सभी बीजों के लिए है। इसलिए केन्द्रिक वृक्षोत्पादन शक्ति साधारणत: एक विशेष जातीय वृक्षोत्पादन में ही तत्पर है, जब कि पारिध वृक्षोत्पादन शक्ति साधारणत: सभी प्रकार के वृक्षों के उत्पादनार्थ सचेष्ट है। आम्रबीज से आम्रवृक्ष ही उत्पन्न होगा, अन्य वृक्ष उत्पन्न नहीं होता। क्रमाभिव्यक्तिवादी कहते हैं कि जितने भी प्रकार के उद्भिद् हैं, वे एक आदि उद्भिज् की सन्तान सन्तति हैं। विशेष-विशेष वृक्षोत्पादिका शक्ति एक जातीय एक आदिम मूलवृक्षोत्पादिका शक्ति

का ही विशेष-विशेषण परिणाम है। प्राथमिक अथवा मूलवृक्षोत्पादिका शक्ति ही क्रमाभिव्यक्ति के नियमवशात् भिन्न-भिन्न जातीय वृक्ष में परिणत होती जा रही है।

स्थावर तथा जंगम जीवों में जितने प्रकार के साजात्य तथा वैजात्य लक्षित होते हैं, वे सब क्रमाभिव्यक्ति के फल हैं। फ्रांस के प्रसिद्ध दार्शनिक लेमार्क (J.B. Lamark) ने सर्वप्रथम जीवावतरणवाद का सूत्रपात किया था। तदनन्तर पण्डित डारविन (C. Darwin) ने उसे नूतन और पूर्णभाव से गठित किया। किसी अज्ञेय नियम के अनुसार आदिम जीव की अभिव्यक्ति होती है। तदनन्तर उससे क्रमशः भिन्न-भिन्न जीव परिणाम होता है। सन्तान उत्तराधिकार में पितृधर्म प्राप्त करता है, साथ ही स्वयं भी कुछ ऐसे धर्म का अर्जन करता है जो पहले नहीं था। देशादि निमित्त कारण से सन्तान की प्रकृति अनेकांश में नूतनभाव से भावित हो जाती है। जन्म के समय जैसा था, आगे वैसा नहीं रहता। माता-पिता से कुछ अंश में भिन्न रहता है। एक व्यक्ति पिता से जो धर्म प्राप्त करता है तथा स्वयं जो अर्जन करता है, ये दोनों धर्म इस व्यक्ति की सन्तान में संक्रमित हो जाते हैं। किम्बहुना उसकी सन्तान सर्वांश में अपने माता-पिता जैसी नहीं होती। पितामह जैसी भी नहीं होती। इसी प्रकार थोड़ा-थोड़ा करके विसदृश तथा विभिन्न धर्माक्रान्त होते-होते बहुत से पुरुष अतीत (मृत्युग्रस्त) हो गये। अन्त में पूर्वपुरुष से परपुरुष का पार्थक्य होता है। अन्त में दोनों पुरुष (पूर्वपुरुष तथा वर्तमान पुरुष) को समान जाति का अवधारित नहीं किया जा सकता। विद्वान् लामार्क पैत्रिकधर्म संक्रमण एवं संगति संयोजन (Heredity and Adaptation) रूप जीवक्रमाभिव्यक्ति के इन दो नियमों से अवगत थे। अपत्यसंचार नियम (Law of Heredity) साजात्य का एवं संगतिनियम वैजात्य का मूल प्रवर्तक है।[1] साजात्य संरक्षण आन्तर अथवा केन्द्रिक शक्ति का है और वैजात्य संगठन बाह्य अथवा पारिध शक्ति का कार्य है। विद्वान् Lamark प्राकृतिक निर्वाचन (Natural Selection) के विशेष तत्त्व प्राप्त नहीं कर सके। जीवगण की अन्योन्याभिभव चेष्टा के इतरेतर प्रतिद्वन्द्विता की बात उन्होंने अवश्य कही, किन्तु प्राकृतिक निर्वाचन (Natural Selection) संज्ञा का वे आविष्कार नहीं कर सके।[2]

---

1. "The two properties of organic being which determine and regulate the relation of the offspring to the progenitors, and which not only assign to individuals their position in the surrounding world, but also help them to attain it, are transmission or heredity, and adaptation." "Heridity is the conservative adaptation the progressive principle."

—The Doctrine of Descent by O.Schnaidt, p. 165

2. "Lemark touches upon the struggle to each against all, but does not discover the term natural selection. He is fully conscious of the two factors, heredity and adaptation, but his theories and convictions lack the emphasis of detected evidence." —Ibid, p. 125

हमने जैवप्रकृति का आन्तर—केन्द्रिक तथा बाह्य—पारिध यह दो रूप देख लिया, आन्तर प्रकृति साजात्य संरक्षण (Conserve) करती है। बाह्य प्रकृति वैजात्य अथवा विकार (Variation) की प्रवर्त्तक है। बाह्य अथवा पारिध प्रकृति वैजात्य की प्रवर्त्तक है, यह बात सुनी। किन्तु प्रश्न यह है कि पारिध प्रकृति वैजात्य प्रवर्तक है। बाह्य प्रकृति किस नियम के अधीन होकर वैजात्य संघटन करती है, अथवा अनियमित भाव से यह करती है? वैजात्य संघटन का अन्ततः उद्देश्य क्या है? क्रमाभिव्यक्तिवादी कहते हैं कि संगति (Adaptation) उन्नति विधायिका है। (Progressive है)। क्या उन्नति भी वैजात्य का नियत फल है? वैजात्य से क्यां अवनति नहीं होती? हम जो अपनां परिचय वैदिक आर्य सन्तान कह कर देते हैं, क्या यह हमारा वर्तमान वैजात्य उन्नति रूप में परिगणित होगा? ग्रीस-रोम प्रभृति प्राचीन सभ्य देशों का वैजात्य क्या है? क्या वह उन्नति पदवाच्य होगा?

बाह्य प्रकृति वस्तुतः आन्तर प्रकृति की ही मुखापेक्षी होती है। भगवान् पतंजलिदेव कहते हैं कि प्रकृति का आपूरण होने से जात्यन्तर परिणाम अवश्य होता है, किन्तु प्रकृति धर्माधर्म अपेक्षापूर्वक परिणामसाधन करती है। मनमाने तौर पर नहीं करती। आन्तर तथा बाह्य प्रकृति मूलतः एक है। ये वास्तव में दो स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं। एक ही मूल प्रकृति धर्माधर्म संस्कारावच्छिन्न होकर भिन्न-भिन्न आन्तर प्रकृति-रूप में अभिव्यक्ता होती रहती है। विकार निर्दिष्ट नियमाधीन है। संगति (Adaptation) के नियमाधीन होकर आम्रवृक्ष एक बार में कण्टकी वृक्षरूपेण परिणत नहीं हो जाता। आम्रबीज तथा कण्टकी बीज की बाह्य प्रकृति एक है, किन्तु आम्रवृक्ष की बाह्य प्रकृति जो देती है, कण्टकी वृक्ष की प्रकृति वह क्यों नहीं देती? आम्रबीज ने जो चाहा, प्रकृति ने उसे वह दे दिया। अतएव धर्माधर्म ही यथाक्रमेण उन्नति और अवनति का मूल है। क्या तब धर्माधर्म प्रकृति का ही प्रवर्तक है? पतंजलिदेव उत्तर देते हैं कि धर्माधर्म प्रकृति का कार्य है। कार्य से कारण प्रवर्तित—चालित नहीं होता। अतएव धर्माधर्मरूप कार्य स्वकीय प्रकृति का प्रयोजक कैसे होगा? धर्म प्रकृति के आवरण अधर्म को प्रोत्सारित कर देता है। आवरण भेद कर देता है। अधर्मावरण प्रोत्सारित होते ही प्रकृति स्वयं अपने कार्य के अनुकूल हो जाती है।

कृषक धान्य की जड़ में पानी अथवा भौमरस अनुप्रवेश नहीं करा पाता, किन्तु वह मूग, श्यामाक, गवेधुक प्रभृति घास-पात को अपने खेत से उखाड़ फेंकता है। प्रतिबन्धक घास-पात को उखाड़ फेकने से रस स्वयं धान्य की जड़ में प्रवेश करने लगता है। इस प्रकार से धर्म ही अधर्म की निवृत्ति का कारण है।[1]

---

1. ''निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतिनां वरणभेदन्तु ततः क्षेत्रिकवत्''

—पातंजलदर्शन, कैवल्यपाद (23.3)

''न हि धर्माधर्मविभिन्नं प्रयोजकं प्रकृतीनां भवति न कार्येण कारणं प्रवर्त्यते इति''

—योगसूत्र भाष्य

अब संक्रमणशीलता तथा सन्ततिप्रवणता (Heredity) तथा सङ्गतिप्रवणता (Adaptation), इस नियम द्वय के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहना है। शास्त्र-दृष्टि से सन्दर्शन करने से पाश्चात्य क्रमाभिव्यक्तिवादीगण के ये नियमद्वय जीव जात्यन्तर परिणाम के कारण नहीं हैं, यह स्पष्ट उपलब्धि होगी। जीव का कर्म वास्तव में वैचित्र्य का निमित्त कारण है। जो भी हो, अब यह जानना है कि प्राण (Life) कौन पदार्थ है?

जो दर्शन तथा विज्ञान की आलोचना करते हैं, उन्हें यह ज्ञात है कि दार्शनिक-वैज्ञानिकों में विस्तृत मतभेद है। मतभेद का स्वरूप चिन्तन करने पर यह प्रतिपन्न होता है कि व्यक्तिगत संस्कार अथवा प्रतिभा ही मतभेद का कारण है। मतभेद प्राकृतिक नियम से होता है। वासना तथा संस्कार का अस्तित्व सभी मानते हैं। यह भी सर्वसम्मत है कि अभ्यास अथवा पूर्वकर्म ही संस्कार तथा वासना का पूर्वभाव है। जो पूर्वजन्म के अस्तित्व को नहीं मानते, शास्त्र-दृष्टि से वे नास्तिक हैं। उनका कथन है कि वर्तमान जन्म का अभ्यास ही व्यक्तिगत भिन्न-भिन्न संस्कार अथवा वासना का हेतु है। जो पूर्व जन्म के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, शास्त्रमत से जो आस्तिक हैं उनके मत से अभ्यास ही जाति अथवा व्यक्तिगत संस्कारभेद का कारण नहीं है, प्रत्युत् जन्मान्तर का अभ्यास ही प्रकृष्ट कारण है। सूक्ष्मभाव से अवस्थित शक्ति जैसे परिपाक व्यतिरिक्त अन्य यत्न की अपेक्षा न करके आविर्भूता होती है, उसी प्रकार से जन्मान्तराभ्यास हेतुक प्रत्येक व्यक्तिगत प्रतिभा निमित्तकारण सहयोग से प्रकटिता अभिव्यक्त रहती है। प्राणिमात्र अपनी प्रतिभा के अनुसार इतिकर्त्तव्यता निर्णय करता है। स्व-स्व प्रतिभा को ही सभी प्रमाण रूप में देखते हैं। 'यह इस प्रकार का अथवा ऐसा नहीं है' इसे पशु-पक्षी, कीट-पतंग, बालक-वृद्ध, प्रौढ़-युवा सभी, अपनी-अपनी प्रतिभा के अनुसार अवधारित करते हैं। पुं (पुरुष) कोकिला को मधुमास में पंचमस्वर में गायन करते, मधुकरादि को स्वकूलायादि का निर्माण करते, वानर, कुक्कुर प्रभृति जीववृन्द को हितकर-अहितकर द्रव्य निर्वाचन करते तथा भेषज संग्रह करते देखकर प्रश्न उठता है कि इनको किसने सिखाया? भिन्न-भिन्न जातीय मृग तथा पक्षीगण अपने-अपने जाति के आहारादि (आहार, प्रीति-राग, द्वेष, प्लवन, उड्डयन प्रभृति) क्रिया में प्रवृत्त होते हैं। उसका प्रवर्त्तक कौन है? अनादि प्रतिभा के कारण नर कोकिल मधुमास में पंचमस्वर में गायन करता है, इसी प्रतिभा के कारण पशु-पक्षी अपनी-अपनी जाति में प्रसिद्ध आहारादि कर्म में प्रवृत्ति हो जाते हैं।[1]

---

1. "अनागमय सोऽभ्यास: समय: केश्चिदिष्यते। अनन्तरमिदं कार्यमस्मादित्युपदर्शनम्"

—वाक्पदीय

"स्वरवृत्तिं विकुरुते मधौपुंस्कोकिलस्य क:। जन्त्वादय: कूलायदिकरणे केन शिक्षिता:"

"आहार प्रीत्येभि द्वेष प्लवनादि क्रियासु क:। जात्यन्वय प्रसिद्धासु प्रयोक्ता मृगपक्षिणाम्"

—वही

भर्तृहरि ने स्वभावजा, चरणजा, अभ्यासजा, योगजा, अदृष्टोपपादिता तथा विशिष्टोपहिता इस प्रकार विशिष्ट सूत्र से प्राप्त प्रतिभा को 6 भागों में विभक्त किया है।[1] अतएव प्रतिभा भेद से ही मतभेद होता है। यह नि:सन्दिग्ध है।

जितने प्रकार के दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक मत हैं, उनको प्रथमतः आस्तिक तथा नास्तिक इन भागद्वय में विभक्त करना होगा। आस्तिक तथा नास्तिक की एकत्ववादी तथा द्वैतवादी (Monist तथा Dualist) दो शाखाएँ है। द्वैतवादी प्राणतत्वविद् विद्वान् भूत तथा प्राण इन दो को स्वतन्त्र पदार्थ कहते हैं। ये प्राण को भौतिक (Material) पदार्थ नहीं कहते। विद्वान् Berthez भौतिक तथा रासायनिक शक्ति से प्राण को पृथक् पदार्थ रूप में निर्वाचित करते हैं और उसे प्राणतत्व अथवा जीवनी शक्ति (Vital Principle or Vital Force) की संज्ञा प्रदान करते हैं। इनके मतानुसार सावयव अणुसमूह निर्जीव पदार्थ के उपादान हैं तथा निरवयव अणुसमूह सजीव पदार्थ के उपादान हैं। पण्डित बील (Lionel Beale) अपने ग्रन्थ 'Protoplasm or Matter and Life' में कहते हैं कि जीवनी शक्ति जड़ से पृथक् पदार्थ है।[2] जड़ैकत्ववादीगण (Materialistic Monists) के मत से प्राण, मनः, आत्मा ये सब भौतिक शक्ति के विकार हैं।

जब मतभेद प्रतिभाभेदमूलक है, जब प्रतिभा पदार्थ है, लोग अपनी-अपनी प्रतिभा के अनुसार जब पदार्थ की उपलब्धि करते हैं, तब कोई भी पदार्थ हो, उसके सम्बन्ध में सबका सम्मत एकरूप सिद्धान्त नहीं हो सकता। प्राण कौन पदार्थ है? इसका विभिन्न वादिगण से जो-जो उत्तर मिलेगा, उसी से (उसे जानने की) आशा करता हूँ। यदि प्रत्येक पदार्थ के सम्बन्ध में परस्पर-विरुद्ध अनेक मत हों, तब पदार्थ का तत्वविनिश्चय कैसे हो सकेगा? हमारा विश्वास है कि यदि मतभेद प्राकृतिक नियम से हो, व्यक्तिभेद तथा मतभेद जब समकारण से हो, तब व्यावहारिक विज्ञान द्वारा मतभेद के सार्वभौम रूप का समन्वय हो सकना कदापि सम्भव नहीं है। तब प्रत्येक पदार्थ के सम्बन्ध में व्यक्ति भेदानुसार मतभेद रहेगा ही। ऐसा नहीं है कि तब मतभेद का समन्वय ही न हो सके। यदि समन्वय असम्भव हो जाता, तब मानव की

---

1. "स्वभावचरणाभ्यासयोगादृष्टोपपादिता।
विशिष्टोपहिता चेति प्रतिभां षड्विधं विदुः" —वाक्पदीय
2. "Leading biologists also have maintained a duatily of matter and life known as vitalism. ...Berthez termed it the vital principle or vital force, to distinguish it from the physical and chemical forces, which govern inorganic matter. Bichat loged it in the animal tissues under the name of the vital properties. Buffon endeavoured to discriminate between organic and inorganic molecules, the former composing dead or lifeless matter, and the latter animate or living matter. And Beale still adhers to similar openions in his speculations upon protoplasm or the matter of life." —Science of the Sciences by C.W. Shields, Vol. II, p. 333

तथ्यानुत्सन्धित्सा ही न रहती। ऐसी स्थिति में मानव स्व-स्व प्रतिभा प्रसूत मत को अभ्रान्त मानकर यावज्जीवन पकड़े रहता है। उसमें संशय होने का अवकाश ही नहीं रहता है। सत्यज्ञान है, इसमें सन्देह का लेशमात्र नहीं है। यदि सत्यज्ञान न होता तब क्या हम मिथ्याज्ञान को मिथ्याज्ञान कह पाते? सत्यज्ञान है, अथच उसको प्राप्त करने का पथ भी है। वेद तथा उसके चरणों से प्रसूत दर्शनादिशास्त्र ही उस पथ के प्रदर्शक हैं। वेदादि शास्त्रोपदिष्ट चित्तशुद्धि करने वाली साधना से चित्तमल को हटाये बिना सत्यज्ञान का आविर्भाव नहीं होगा। जब तक हम वृत्तियों के अधीन रहेंगे, इन्द्रियों में विचरण करेंगे, रागद्वेष के निदेशवर्त्ती रहेंगे, तब तक हम सर्वसंशयच्छेदन करने वाले सत्यज्ञान का, सर्वसन्तापहर, सर्वजनकमनीय, प्राणारामरूप का दर्शन नहीं पा सकते।

जो जड़वादी हैं, क्या उन्होंने जड़ का प्रकृत रूप देखा है? प्राण-मनः-आत्मा, ये सब जड़शक्ति अथवा भूतविकार हैं (इनके मत से) किन्तु जिज्ञासा करता हूँ कि जड़शक्ति किंवा भूतशक्ति का स्वरूप क्या है? क्या इसका यथेष्ट समाधान हो सका है? विद्वान् स्पेन्सर कहते हैं कि शक्ति सातत्य (Persistence of Force) ही सर्वकार्य का कारण है। विषयी-ज्ञाता-भोक्ता (Subject) तथा विषय ज्ञेय अथवा भोग्य (Object), ज्ञान (Knowledge) कौन पदार्थ हैं, यह जानने के लिए इन पदार्थ द्वय का स्वरूप-निरूपण करना अत्यन्त आवश्यक है। इसके स्वरूप निरूपित न होने से ज्ञान पदार्थ का स्वरूप निर्णय नहीं हो सकता। इसे पण्डित स्पेन्सर ने अपने मनोविज्ञान के ग्रन्थ में स्पष्टतः माना है।[1] ईंटा-कीट-पशु-पक्षी तथा मनुष्य, इनमें पार्थक्य है। चैतन्य नामक पदार्थ के सम्बन्ध में किसी प्रेक्षावान् को सन्देह नहीं है। अब जिज्ञासा होती है कि विषयी तथा विषय (Subject & Object) रूपी पदार्थ क्या दो स्वतन्त्र पदार्थ हैं अथवा एक ही पदार्थ के दो रूप हैं? यदि ये एक ही पदार्थ के दो रूप हैं तब निरूपण करना होगा कि वह एक ही पदार्थ का दो भिन्न रूप है, अथवा चित् (Matter=जड़ or spirit mind=चेतन) है? विद्वान् स्पेन्सर शक्ति तथा सातत्य को सर्वकार्य का कारण कहते हैं। अतः हमारा प्रश्न है कि विद्वान् स्पेन्सर का सर्वकार्य कारण शक्ति पदार्थ जड़ है अथवा चित् है अथवा चिदचिदात्मक है। यदि उसे जड़ कहते हैं तब जड़ का अभिव्यक्तितत्व अन्धकारावृत्त हो जायेगा। इस कारण स्वीकार करना होगा कि वह चिदचिदात्मक है। जिस शक्तिसातत्य को विद्वान् स्पेन्सर सर्वकार्य का कारणलक्षण कर रहे हैं, उसका वर्णन करते समय वे कहते हैं कि जिसके द्वारा वस्तुसमूह को हम (जो वास करे, अवस्थान करे वह है वस्तु—Anything

---

1. "Knowledge implies something known and something which knows; whence it follows that a theory of knowledge is a theory of relation between the two.... And if so, a true theory of knowledge involves a true theory of that which known; since error in either factor must involve error in the product."

—The Principle of Psychology by Spencer, Vol. II, p. 307

which exists) वस्तु अथवा सत् समझते-कहते हैं तथा जिसके द्वारा उसे हम क्रियाशील अथवा परिवर्त्तनात्मक रूप से निश्चित करते हैं, किसी कार्यपदार्थ का चिन्तन करते समय परस्पर भिन्न धर्माक्रान्त इन द्विविधशक्ति का अस्तित्व हमें बुद्धिगोचर हो जाता है। इस द्विविध शक्ति में प्रथमोक्त शक्ति परिवर्तन अथवा विकार का हेतु नहीं है। यह स्वयं अक्रिय तथा अप्रवर्तक है। द्वितीय शक्ति ही परिवर्तन तथा विकार हेतु है। विकार हेतुक शक्ति को Energy कहा गया है। इसकी भी दो अवस्था है—क्रियमाण (Actual) तथा स्थितिशील (Potential)। अविकारहेतु शक्ति तथा विकारहेतु शक्ति को यथाक्रमेण (Intrinsic—अविकारहेतु शक्ति) आन्तर तथा विकारहेतु शक्ति को बाह्य (Extrinsic) कहा जाता है।

विद्वान् स्पेन्सर ने इन द्विविध शक्तियों को नित्य बतलाया है। विद्वान् स्पेन्सर ने प्रत्यक्ष के अविषय, सर्वकार्य कारण आदि अन्त रहित सत्ता को ही नित्य कहा है।[1]

जो अविकार का हेतु है, जो स्वतन्त्र है तथा जो विकार का हेतु है, परतन्त्र है, क्या इन दोनों विरुद्ध पदार्थ का एकीकरण सम्भव होगा? सांख्यदर्शन प्रकृति के अतिरिक्त पुरुष के अस्तित्व स्थापनार्थ हेतु प्रदर्शन करते हुए कहता है कि जो संहत—इतरेतराश्रयी एकाधिक पदार्थ का समूह (Assemblage) देखने में आता है, वह पदार्थ है, परप्रयोजन साधक है। प्रकृति अन्योन्याश्रयी त्रिगुणमयी है। अतएव प्रकृति परार्था है। प्रकृति तथा उसके विकार जब संहत हैं, तब सब परार्थ है। बिना उद्देश्य, बिना प्रयोजन कर्म नहीं होता। इसलिए प्रकृत्यादि संहत पदार्थ के अतिरिक्त कोई असंहत पदार्थ है तथा जो अपरिणामी है, वह कभी भी भोक्ता नहीं हो सकता। प्रकृति अथवा उसके विकार कदापि स्वयं को स्वयं नहीं जान सकते। प्रकृति से व्यतिरिक्त पुरुष न होने पर लोगों में कैवल्य अथवा मुक्ति की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती।[2] विद्वान् स्पेन्सर के शक्ति पदार्थ को चिदचिदात्मक स्वीकार किये बिना इष्टसिद्धि नहीं हो सकेगी।

---

1. "Neverthless, the forms of our experience oblige us to distinguish between two mades of force, the one not a worker of change and the other a worker of change, actual or potential. ....But now what is the force of which we predicate persistence? It is not the force we are immediately conscious of in our own muscular efforts; for this does not persist. ... Hence the force of which we assert persistence is that absolute force of which we are indefinitely conscious as the necessary co-rrelate of the force we know. By persistence of force, we really mean the persistence of some cause which transcends our knowledge and conception. In asserting it we assert an unconditioned reality, without beginning or end."

—First Principle by H. Spencer, p. 191

2. "संहतपदार्थत्वात्"—सांख्यदर्शन 1/140, "भोक्तृभावात्"—वही 1/143
"कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च"—वही 1/144

प्राण-मनः-बुद्धि-इन्द्रिय-भूत आदि पदार्थ चैतन्याधिष्ठित त्रिगुणात्मिका प्रकृति की पृथक्-पृथक् परिच्छिन्न अवस्था है। बृहदारण्यक उपनिषत् में कहा है कि जो पृथिव्यादि भूतसमूह में अवस्थान करते हैं, जो इनके अन्तर हैं, जिन्हें भूतसमूह नहीं जानते, भूतसमूह जिनके शरीर हैं, जो इनके अन्तर्यामी हैं, जो इन सबमें रहकर यथायोग्य परिणाम परिणामित करते हैं, इसी प्रकार जो प्राण-वाक्-प्राणादि कर्मेन्द्रिय-चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रिय-मन तथा पंच प्राण में अवस्थान करते हैं, परन्तु जिनको ये सब नहीं जानते, इनके जो अधिष्ठान अथवा शरीर हैं, जो इनके अन्तर्यामी हैं, वे ही सत्य हैं, पूर्ण तथा अमृत हैं।[1]

भौतिक राज्य तो तमोगुण प्रधान है। प्राणराज्य को रजोगुण प्रधान तथा मनोराज्य को सत्वगुण प्रधान माना गया है। अन्नमयादि कोष की विवेचना जो इस ग्रन्थ में की गयी है, उसका स्मरण करना होगा।

मैत्र्युपनिषद् में कहते हैं कि प्राण क्रियाशक्ति अथवा रजोगुण प्रधान प्रकृति प्रतिबिम्बित चिच्छक्ति है। यह प्राण स्वयं को दो प्रकार से धारण करता है। देह में इसने अपने को पंचप्राणरूपेण विभक्त कर रखा है। यह इसका एकविध रूप है। ब्रह्माण्डकरण्ड में इसने जगदवभासक आदित्य के रूप में अवस्थान किया है। यह इसका अन्यरूप है।[2] दार्शनिक स्पेन्सर इस प्राण को सूर्य प्रसूत कहते हैं। किन्तु श्रुति ने सूर्य शब्द से जिस पदार्थ को लक्ष्य किया है, इन लोगों के सूर्य का तात्पर्य श्रुतिवर्णित सूर्य से पृथक् अवभासित होता है।

भौतिकराज्य आणविक तथा पारमाणविक आकर्षण-विकर्षण क्या, भौतिक तथा रासायनिक आकर्षण-विकर्षण शक्ति से भिन्न है? जीवनी शक्ति भौतिक तथा रासायनिक आकर्षण-विकर्षण से भिन्न पदार्थ है, इसमें सन्देह लेश कदापि नहीं है। जीवनी शक्ति इन आकर्षण-विकर्षणात्मक में प्रारूपतः भिन्न है। परन्तु जड़विज्ञानवित् तथा प्राणितत्ववित् आज तक इसका प्रतिपादन नहीं कर सके। हालिवर्टन कहते हैं कि शरीरविज्ञानवित् अब तक सर्वप्रकार प्राणन् व्यापारतत्व की रसायन तथा भूततन्त्र से व्याख्या नहीं कर सके हैं। फिर भी यह कहा जा सकता है कि जितनी ही ज्ञानवृद्धि

1. ''यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि शरीरं यं सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येषत आत्मान्तर्याम्यमृतः? शरीरं यः प्राणमन्तरो यमयत्येषत् आत्मान्तर्याम्यमृतः ....यश्च चक्षुषि तिष्ठं चक्षुषोऽन्तरो यः चक्षुर्ण वेद यस्य चक्षुः शरीरं चश्चक्षुरन्तरो यमयत्येषत आत्मान्तर्याम्यमृतः। यो मनसि तिष्ठं मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद यस्य मनः शरीरं यो मनोऽन्तरो यमयत्येषत आत्मान्तर्याम्यमृतः। ....यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येषत आत्मान्तर्याम्यमृतः''

—बृहदारण्यक उपनिषत्

2. ''द्विधा वाँ एष आत्मानं विभर्त्तव्यं यः प्राणी यश्चासौआदित्यः।
अथ द्वौ वा एता अस्य पन्थाना अन्तर्बहिश्चाहोरात्रैणैति व्यावर्त्तते।'' —मैत्र्युपनिषद्

होती जायेगी, (भले ही यह जड़वादी अज्ञान की वृद्धि हो) प्राणशक्ति के नाम से स्वतन्त्र शक्ति के अभ्युपगम का प्रयोजन नहीं रहेगा, यह क्रमशः प्रतिपन्न होगा।[1]

प्रतिभा की महिमा अनिर्वाच्य है। अध्यापक Landoi प्रथमतः यह अबाधित रूप से कहते हैं कि सजीव पदार्थ में प्राणन व्यापार निष्पादिका जीवनी शक्ति नामक किसी स्वतन्त्रशक्ति नामक स्वतन्त्रशक्ति का अस्तित्व नहीं है। उसी के अगले क्षण उनके मुख से हमारा वाक्य निकला "आहारादि प्राणन व्यापार अथवा Metabolism सजीव पदार्थनिष्ठ विशिष्ट शक्ति द्वारा साधित होता है यह स्वीकार करना ही होगा" यह सुनकर कहना पड़ता है कि प्रतिभा की महिमा अनिर्वचनीय है।

जीवदेह में भौतिक तथा रासायनिक आकर्षण तथा विप्रकर्षण की क्रिया अवश्य है किन्तु वह निर्जीव देह में जैसे होती है, वैसे सजीव देह में नहीं होती। सजीव पदार्थ बहिर्देश से आहारादि संग्रह करता है, आहृत्य द्रव्यों को यथाप्रयोजन रसादि में परिणत करता है, देह के रक्षण तथा पोषणार्थ जिन-जिन अंगों में जिन-जिन द्रव्य की जितनी मात्रा का वितरण आवश्यक है, उस-उस अंग में उस द्रव्य की उतनी मात्रा का वितरण करता है। यह सब व्यापार शुद्ध रासायनिक व्यापार नहीं है। जीवराज्य में रासायनिक शक्ति किसी उच्च शक्ति के वश में रहकर उसके आदेश के अनुसार कार्य करती है। यह उच्च शक्ति है जीवनी शक्ति। जर्मन विद्वान् Virchow यह प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि जीवनी शक्ति भौतिक तथा रासायनिक शक्ति से स्वतन्त्र है। वे प्रतिपादित करते हैं कि प्राण की अभिव्यक्ति निर्निमित्त है। आकस्मिक नहीं है। सन्तति अथवा वंश-परम्परा से इसकी अभिव्यक्ति होती है। सजीव से सजीव की उत्पत्ति होती है। ऐसा कोई सजीव नहीं दीखता जो इस नियम का अतिक्रमण करके काकतालीय न्यायानुसार अभिव्यक्त हो गया हो।

जो शक्ति भौतिक पदार्थ में निबद्ध है, वह तथा एक पुरुष से दूसरे पुरुष में (वंश-परम्परा से) संचरणशील शक्ति पृथक् है। यह आज तक अविष्कृत नहीं हो सका कि यह शक्ति अपने स्वतन्त्र अस्तित्व के साथ कहाँ से उद्भूत हुई है, तथापि यह आविष्कृत न होने पर भी इसके स्वतन्त्र अस्तित्व को अंगीकार नहीं किया गया। किसी पदार्थ के आविर्भाव के सम्बन्ध में अज्ञानता रहने से क्या उसको अस्तित्वहीन माना जाये? सजीव देह में परस्पर विरोधिनी भौतिक तथा जीवनी—दोनों शक्ति विद्यमान है।[2] "प्राणशक्ति का कार्य स्नायुरज्जु की प्रत्यावृत्त क्रिया के अतिरिक्त कुछ नहीं

1. "The question arises, however, is there anything else? Are there any other laws than those of physics and chemistry to be reckoned with? Is there, for instance, such a thing as vital force? It may be frankly admitted that physiologist at present are not able to explain all vital phenomena by the laws of the physical world."
—Kirke's Physiology by Halliburton, Page 2 and 3
2. "The radicalism which seeks the mechanism of life only in acting against each other of such molecular power, which are immanent in the constituing particles (Molecules) of organic elements (Cells) is not emperical and therefore, illogical."

है''—जो इस मत को मानते हैं, वे यदि जीवनी शक्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार न करें, तब उनका मत स्थायी नहीं होगा। प्रत्यावृत्त क्रिया (Reflex Action) का संस्कार ही मूल है। स्नायुरज्जु की प्रत्यावृत्त क्रिया संस्कारमूलक है। इसकी निष्पत्ति में मन का साक्षात् प्रभुत्व नहीं है। इसे प्राणशक्ति नियामित भौतिक तथा रासायनिक शक्ति का कार्य कहना होगा। भौतिक राज्य, उद्भिज्राज्य, संकीर्ण चेतनराज्य, विशिष्ट चेतनराज्य, सर्वत्र ही संस्कार शक्ति का लीलाभिनय चल रहा है। कर्म होते ही उसका संस्कार रह जाता है। अतएव जिस राज्य में कर्म होगा, वहाँ उसका संस्कार भी अस्तित्व में रहेगा। महर्षि कणाद ने संस्कार को गुणपदार्थ कहा है। संस्कार तीन भाग में विभक्त है—वेग, स्थिति स्थानक तथा भावना। पृथ्वी-अप्-तेज:-वायु तथा मन रूप पंचद्रव्य के नोदन अभिघात आदि (Impulse-Impact) विशेषोपेक्षकर्म से वेगाख्य संस्कार उत्पन्न होता है। भावनाख्य संस्कार आत्मगुण है। यह दृष्ट-श्रुत तथा अनुभूत अर्थसमूह की स्मृति तथा प्रत्यभिज्ञान (Recognition) का हेतु है।

पटु प्रत्यय, अभ्यास प्रत्यय तथा आदर प्रत्यय में संस्कार का आतिशय्य है। इससे संस्कार की दृढ़ता होती है। कोई आश्चर्य पदार्थ नयनपथ में आते ही लोग उस पदार्थ को मनोनिवेश से देखने लगते हैं। इसलिए उनके मन में उस पदार्थ का संस्कार दृढ़रूप से अंकित हो जाता है। प्रशस्तपाद इसे पटुप्रत्ययज संस्कार कहते हैं। विद्या-शिल्प-व्यायाम इत्यादि पुन:-पुन: अभ्यस्यमान होने से तथा कण्ठस्थ शास्त्र सूत्रों की आवृत्ति करने से अभ्यास प्रत्यय संस्कार ही उसका हेतु है। भावनाख्य संस्कार में आत्मा तथा मन: का संयोग प्रधान तथा प्रथम कारण है। स्थितिस्थापक नामक संस्कार की कथा पहले कही गयी है।[1]

वैशेषिकदर्शन का यत्नपूर्वक अध्ययन करने से कर्मरूप स्पष्टरूप से परिदृष्ट होता है। जड़ विज्ञान तथा अध्यात्म विज्ञान का अपूर्व सम्मिलन देखकर मन परितृप्त

"Life proceeds not by fits and starts, but pursues its onward course through successive generations. There exists no other life than that by succession and there must be, besides the power which is constantly found up with matter, another force, which is transferred from one member to another (this power does not allow of being put together in a mechanical manner)"

—Virchow–quoted by Dr. W. Stens in his 'Therapeutics of the Day', p. 108-109

1. ''संस्कारस्त्रिविधो वेगभावना स्थितिस्थापकश्च। तत्र वेगो मूर्त्तिमत्सु पञ्चसु द्रव्येषु निमित्त-विशेषापेक्षात् कर्मणोजायतो...''

''भावनासंज्ञाकस्त्वात्मगुणो दृष्टश्रुतानुभूतेष्वर्थेस्मृतिप्रत्यभिज्ञान हेतुर्भवति।... पट्वाभ्यासादर-प्रत्ययज पटुप्रत्ययापेक्षात् आत्ममनसो: संयोगादाश्चर्यऽर्थे पटु संस्कारातिशयो जायते। विद्याशिल्पव्यायामादिष्वभ्यास्यमानेषु तस्मिन्नेवार्थे पूर्वपूर्व संस्कारम् अपेक्षमाणादुत्तरोत्तरस्मात् प्रत्ययादात्मनसां: संयोगात् संस्कारातिशयो जायते।'' —प्रशस्तपाद भाष्य

होता है। महर्षि कणाद कहते हैं कि हस्तोत्तोलन कर्म की व्याख्या से मन के कर्म की व्याख्या की गयी है। महर्षि कणाद ने कर्म को प्रयत्ननिष्पाद्य (Determinable by Volition) तथा नोदननिष्पाद्य (Produced by Impulse, Impact) इन दो भागों में विभक्त किया है। जब हम अपना हाथ उठाते हैं, तब हाथ से प्रयत्ननिष्पाद्य कर्म होता है। न्यायवैशेषिक मत से समवायी (Coinherent), असमवायी (Non-Coinherent) तथा निमित्त (Efficient) में से चाहे जो कर्म हो, वह इसी त्रिविध कारण द्वारा निष्पादित होता है। हाथ को ऊपर उठाना, एक पैशिक कर्म है। हाथ ऊपर उठाने में 'हाथ' समवायी कारण है। प्रयत्नवद् आत्मसंयोग इसमें असमवायि कारण है तथा प्रयत्न (Volition) निमित्तकारण है। आत्मा से इच्छा की उत्पत्ति होती है। इससे कृति अथवा प्रयत्न का उदय होता है। इनसे चेष्टा की उत्पत्ति कही गयी है। चेष्टा से बाह्यकर्म उत्पन्न होते हैं। मूषल फेंकने के कर्म में संयोग तथा गुरुत्व से (Gravitation) मूषल में (Pestle) कर्म होता है। उत्क्षेपण कर्म युक्त हस्तसंयोग से मूषल में वेगाख्य संस्कार आता है। इसी कारण मूषल का उत्क्षेपकर्म साधित होता है। हाथ द्वारा मूषल लेकर उसका उत्तोलन करूँगा, यह इच्छा पहले उत्पन्न होती है। तदनन्तर प्रयत्न होता है। तब प्रयत्नापेक्षमाण आत्मा तथा हस्त संयोग होने से, जब हाथ में उत्क्षेपणकर्म उत्पन्न होता है, तब तत्काल वह प्रयत्नापेक्षमाण हाथ मूषलसंयोग के निमित्त मूषल कर्म (अर्थात् उसे फेंकने, आक्षेपित करने का कर्म) सम्पन्न होता है। कोई व्यक्ति एक मूषल को उठाकर उसे उलूखल (Mortar) में फेकता है, यही मूषल उलूखल में आघात करके पुनः उठा लिया जाता है और पुनः आघात होता है। मूषल के इस उत्पेक्षण कार्य में हस्तसंयोग अथवा प्रयत्न कारण नहीं है। ऊखल तथा मूषल का अभिघात (Impact) ही कारण है।[1]

सोये व्यक्ति में बिना प्रयत्न हस्तादि को हिलाने की प्रक्रिया निष्पन्न होती है। प्रसुप्त व्यक्ति अंग छूए जाने पर इच्छाजनित प्रयत्न के अभाव में ही अपना अंग परिचालनादि कर्म करता है, तब प्रयत्नविशेष ही सर्वत्र कर्म का हेतु नहीं है।[2] महर्षि कणाद कहते हैं कि हस्तोत्तोलन कर्म की व्याख्या से मन का कर्म व्याख्यात होता है। मूषलोत्क्षेपणादि कर्म का जैसे प्रयत्नवदात्मसंयोग असमवायि कारण है, उसी प्रकार अभिमत विषयग्राही इन्द्रिय सन्निकर्षार्थ जो मन का कर्म है, वह कर्म भी प्रयत्नवदात्मसंयोग का असमवायि कारण है। इन्द्रिय या मन यद्यपि साक्षात्

1. "आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्तेकर्म" —वैशेषिक दर्शन
"तथा हस्तसंयोगाच्च मूषले कर्म" —वही
"अभिधातजे मूषलादौ कर्मणि व्यतिरेकाद् कारणं हस्तसंयोग:" —वही
"तथात्मसंयोगा हस्तकर्मणि।"
2. "यत्नाभावे प्रसुप्तस्य चलनम्" —वही
"हस्तकर्मणा मनसः कर्मव्याख्यातम्" —वही

प्रयत्नविषय नहीं है, तथापि मनोवहा नाड़ी (Sensary Nerves) के गोचर प्रयत्न द्वारा मन में कर्म की उत्पत्ति हो जाती है, नाड़ी समूह का त्वक् आदि इन्द्रियों का ग्राह्यत्व मानना ही होगा। नाड़ी समूह को इन्द्रियग्राह्य न मानने से प्राणवहा नाड़ी के गोचर प्रयत्न द्वारा भोजन पानादिक क्रिया सम्भव न होती।[1] प्रयत्न त्रिविध है, यह पहले विवेचित हो चुका है।

कतिपय कर्मों को हम स्पष्टतः प्रयत्ननिष्पाद्य कहते हैं। कतिपय कर्म नोदनादिनिष्पाद्यरूपेण स्पष्टतः विनिश्चित होते हैं और इस प्रकार कतिपय कार्य हमारे प्रत्यक्ष के विषयीभूत भी हो जाते हैं। जिसे प्रयत्ननिष्पाद्य अथवा नोदननिष्पाद्य किसी भी श्रेणी के अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता। महर्षि कणाद ऐसे कर्मों को अदृष्टकारित कहते हैं। जो दृष्ट नहीं होता, स्थूल प्रत्यक्ष के विषयीभूत नहीं होता, वह अदृष्ट है। अदृष्टकारित शब्द का अर्थ है सूक्ष्म अथवा अनिर्णीत स्वरूपकारण विशेष द्वारा निष्पादित[2]।

जो जड़ैकत्ववादी हैं, उनका मत है कि जब यह देखा जाता है कि कतिपय कर्म बिना प्रयत्न, चेतन की मुखापेक्षा किये बिना शुद्ध जड़शक्ति से निष्पन्न होता है, तब कर्ममात्र ही जड़निष्पाद्य है, यह सिद्धान्त युक्तिसंगत है। दूसरा पक्ष कहता है कि जब कतिपय कर्म बिना प्रयत्न, चेतन की मुखापेक्षा के बिना शुद्ध जड़ शक्ति से साधित नहीं होता, तब यह तय है कि कर्ममात्र चेतन प्रवर्त्तनापेक्ष है। किसी के मत से कतिपय कर्म चेतन प्रवर्तन निरपेक्ष जड़शक्ति द्वारा निष्पादित होते हैं और कतिपय कर्म निष्पादन में चेतन का प्रणोदन आवश्यक होता है। श्रुति का मत है कि कोई भी कर्म क्यों न हो, उसके मूल में चिच्छक्ति की छाया है। चैतन्याधिष्ठित प्रकृति ही सर्वकर्म का मूल कारण है।

जो सब कर्म बुद्धिपूर्वक नहीं हैं, जिनको स्वयंसिद्ध (Automatic), प्रत्यावृत्त (Reflex), साहजिक अथवा यादृच्छिक (Spontaneous) इत्यादि नाम से लक्ष्य किया जाता है, उनका स्वरूप चिन्तन करने से यह प्रतिपन्न होगा कि संस्कार ही तज्जातीय कर्म का मूल है, मूलकारण है। हृद्यन्त्र, फेफड़ा, यकृत, वृक्क इत्यादि शारीरयन्त्र स्पन्दन को स्वयंसिद्ध (Automatic) कर्म कहते हैं। बिम्ब—आपतिक किरण (Incident Light) तथा प्रत्यावृत्त अथवा प्रतिफलित किरण, प्रतिबिम्ब (Reflected Light) के स्वरूप से लोग अवगत हैं। जिस भास्कर ज्योतिर्मय पदार्थ

---

1. ''मनोवहानाडीगोचरेण प्रयत्नेन मनसि कार्योत्पत्तिद्रष्टव्या नाद्यास्तु त्वगिन्द्रियग्राह्यत्व मङ्गीकर्त्तव्यम् अन्यथा ग्राह्यवहानाडीगोचरेण प्रयत्नेन अशितपीताद्यभ्य वहरणमपि न सम्भवेत्।''
—उपस्कार

2. ''तद्विशेषेणादृष्टकारितम्'' ''वृक्षाभिसर्पण मित्यदृष्टकारितम्''—वैशेषिक दर्शन
भूकम्प-वृक्षमूल में निषिक्त जल का तदभिसर्पण, परमाणु तथा मन का आद्यकर्म, अदृष्टकारित कर्म का दृष्टान्त है।

से ये किरणें प्रवाहित हैं, उसे आपातिक किरण और जो किरण आपाताधारकर्तृक बाधित होकर प्रत्यावृत्त हैं, प्रतिफलित हैं उसे प्रत्यावृत्त, प्रतिफलित अथवा प्रातिक्षेपिक किरण कहा गया है। अस्वच्छ वस्तुओं को हम प्रतिफलित किरण द्वारा नयनेन्द्रिय के विषयीभूत करते हैं। प्रत्यावृत्त, प्रतिफलित अथवा प्रातिक्षेपिक स्नायविक क्रिया (Reflex Action) को यथोक्त नाम से अभिहित करने का प्रयोजन है, आलोक प्रतिक्षेपण व्यापार से सादृश्य के कारण। तनिक विचार करने पर उपलब्धि होती है कि स्नायविक क्रिया के साथ आलोक प्रतिफलन व्यापार का अनेकतः वैसा दृश्य है। अभ्यन्तर प्रवहाशक्ति (Incoming Force) को व्यामिश्र ग्रन्थिमय कोष संस्थान के मध्य जाना होता है। ये संवेदन का उत्पादन करती हैं। प्रतिफलित आलोक का वेग क्षीण हो जाता है। उद्भिज् राज्य का संवाद प्राप्त हुआ। अब संकीर्ण तथा विशिष्ट चैतन्य राज्य का संवाद लिया जायेगा।

ऐतरेय आरण्यक का कथन है कि उद्भिद् में प्राण है, किन्तु चित्त नहीं है। अतएव संकीर्ण तथा विशिष्ट चैतन्यराज्य का समाचार प्राप्त करने के लिए, चित्त कौन पदार्थ है, चित्त की क्रिया क्या है, यह जानना है।

चित्त अथवा मनः सत्व गुण प्रधान प्रकृति का परिणाम है। चित्त सत्वगुण प्रधान है, अतः विषय-विषयी के साथ सम्बन्ध रहता है। भगवान् वेदव्यास कहते हैं कि ग्रन्थि द्वारा सर्वावयव व्याप्त मत्स्य जाल के समान अनादिकाल के क्लेश-कर्म-विपाक संस्कार रूप ग्रन्थिसमूह द्वारा परिव्याप्त होकर चित्त आकार धारण करता है।[1]

जो क्रिया का निष्पादन करता है, जो क्रमबद्ध अवस्था समूह में जाता है, तथापि वह जो-जो करता है, उस सबको जान लेता है, यह पाश्चात्य मनोविज्ञान वर्णित चित्त का लक्षण है। जिस धर्म के कारण मन (Mind) जो करता है, उसे वह अपनी अवस्था जानें, उसे संवित् कहते हैं, संवित् (Consciousness)। विद्वान् ह्यूम (Hume) अनुभव तथा वासना अथवा संस्कार की राशि को मनः (Mind) कहते हैं। विद्वान् रिड (Reid) कहते हैं कि जो पदार्थ की चिन्ता करे, स्मरण करे, तर्क करे, इच्छा करे, मनः शब्द से हम उसी पदार्थ को लक्षित करते हैं। विद्वान् प्रोफेसर बेन (Bain) कहते हैं कि जो सुख-दुःख बोधवान् है, जो इच्छा प्रयत्न युक्त है, जो बुद्धियुक्त है, जिसके द्वारा हमारा सर्वप्रकार का ज्ञान सम्मूर्च्छित होता है, वह मनः (Mind) है। अध्यापक साली (J.Sully) कहते हैं कि जो चिन्ता करे अथवा जाने, जो सुख-दुःख का अनुभव करे, जो प्रवृत्ति तथा इच्छाशक्ति विशिष्ट है, वह मनः है। जो भौतिक पदार्थ नहीं है, जिसमें स्थान व्यापकत्व, आकाश वृत्तिकत्व, गुरुत्व प्रभृति भौतिक द्रव्यधर्म विद्यमान नहीं है, मनः शब्द से वह पदार्थ लक्षित होता है। विद्वान्

1. "क्लेशकर्म विपाकानुभवनिमित्ताभिस्तु वासनाभिरनादिकालसम्मूर्च्छितचित्रं चित्रीकृतमिव सर्वतोमत्स्यजालं ग्रन्थिभिरिवाततमित्येता अनेकपूर्विका वासनाः" —योगसूत्रभाष्य

स्पेन्सर अनुभव, सुख-दुःख बोधसमूह (Feeling) तथा उसके सम्बन्ध (Relations) को मन का उपादान अथवा घटकावयव कहते हैं।[1]

पाश्चात्य मनोविज्ञान का अध्ययन करने से माइन्ड (Mind) नामक पदार्थ का जो लक्षण प्राप्त होता है, उसमें शास्त्रवर्णित चित्त अथवा मन एवं पाश्चात्य मनोविज्ञान वर्णित Mind सर्वांश में एक ही पदार्थ नहीं है। आपातदृष्टि से यही बोध होता है। पाश्चात्य मनोविज्ञान का Mind अनेक समय शास्त्रविवृत जीवात्मा के समान लक्षणक प्रतीयमान होता है। जीवात्मा तथा चित्त के इतरव्यावर्त्तक लक्षण का अनुभव कर सकना दुःसाध्य व्यापार है। योगी हुए बिना इन दोनों के पार्थक्य की उपलब्धि कर सकना दुष्कर है। शुद्ध अनुमान प्रमाण द्वारा जीवात्मा तथा चित्त का पार्थक्य अवधारित नहीं होता। एकमात्र समाधि ही दोनों के पार्थक्यबोध का उपाय है। बौद्धगण चित्त को ही आत्मा मानते हैं। न्यायदर्शन मन को अचेतन कहता है। मन से अतिरिक्त आत्मा नामक पदार्थ का न्यायदर्शन ने प्रतिपादन किया है। किंचित् विचार करने पर अनुभव होता है कि चिच्छायाविशिष्ट चित्त ही न्यायदर्शनोक्त जीवात्मा है। अध्यापक ग्रीन (T.H. Green) Mind का द्विविध वर्णन करते हैं। इनका उपदेश सारगर्भित प्रतीत होता है और शास्त्र के साथ कुछ अंश तक सादृश्य का भी बोध होता है।[2] जो भी हो,

---

1. "To meet all imaginable possibilities, let us set out with the doctrine of Hume, that impressions and ideas are the only things known to exist, and that mind is merely a name for the some of them." —Principles of Psychology by Spencer, p. 146

"In the world mind means anything it means that we feel." —Logic by J.S.Mill, Vol. I, p. 421

विद्वान् रिड कहते हैं—"By the mind of a man we understand that in him which thinks, remembers, reason, wills."—Reid

अध्यापक बेन (Prof. Bain) कहते हैं—But as object experience is also in a sence mental, the only account of mind strictly, admissible in scientific psychology consists in specifying three properties or functions feeling, will or volition and thought or intellect–through which all our experience, as well objective as subjective, is build up. —Mental & Moral Science by Prof. Bain, p. 2

अध्यापक साली कहते हैं—"Finally, we may set mind in anti-thesis to what is not mind. Mind is non-material i.e. wanting in the properties of material things, as weight and further, has no existence in space as material. Bodies have. ...Mind is thus marked off as the region of the 'unextended.' —Out-lines of Psychology by J. Sally, p. 2

विद्वान् स्पेन्सर कहते हैं—"Mind being composed of feelings and the relations between feelings..." —Principles of Psychology, Vol. I, p. 193

1. "We have not two minds, but one mind; but we can know that one mind in its reality only by taking account. On the one hand, of the process in time by which effects of sentient experience are accamulated in the organism, yealding new modes of reaction upon stimulus and fresh association of feeling; on the other of the system of thought and knowledge which realises or reproduces

बुद्धि-मन:-इन्द्रिय-प्राण-भूत तथा भौतिक पदार्थ समूह त्रिगुणमयी प्रकृति के भिन्न-भिन्न कार्य हैं, यही हमारी धारणा है। हम इस मत को शिरोधार्य करते हैं।

मन को आत्मा कहने के भ्रम का जो कारण है, शास्त्र ने उसे स्पष्टाक्षर में कहा है। वेद ने चित्त शब्द को प्रज्ञा के लिए व्यवहृत किया है। निरुक्त ने चेत:—चित्त इत्यादि को प्रज्ञान नाममाला के अन्तर्भूत किया है। सज्ञानार्थक चित् धातु के उत्तर में 'त्त' प्रत्यय करने से चित्तपद एवं अवबोधार्थक मन धातु के उत्तर में 'असून्' प्रत्यय करने से मन:पद सिद्ध होता है। जो ज्ञान का कारण है, वह है चित्त अथवा मन:। भगवान् यास्क 'मेद' शब्द की निरुक्ति करते समय कहते हैं कि मन: जिसमें अवस्थान करे, मन का जो वासस्थान है, वह है मेद। स्नेहार्थक मिद् धातु से मेद पद सिद्ध होता है। गालव कहते हैं श्वेत मांस से मेद की उत्पत्ति होती है। पाश्चात्य नरशरीरविज्ञानी जिसे स्नायु का उपादान कहते हैं, हमारा विश्वास है कि भगवान् यास्क तथा गालव ने मेद शब्द द्वारा इस कशेरुक मज्जा को ही लक्ष्य किया है। मस्तिष्क तथा स्नायुरज्जु समूह में मन का विशेष अधिष्ठान है, इससे यह प्रमाणित हो जाता है।[1] बिना प्रयोजन किसी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। वृक्षादि के शरीर में मस्तिष्क, स्नायुयन्त्र आदि के प्रयोजनाभाव के कारण इनमें उक्त यन्त्र नहीं है। जीवराज्य में ही मन: की अभिव्यक्ति होती है। वृक्ष आहार करता है, जल का पान करता है, वायु भी ग्रहण करता है, किन्तु उसे इनकी अनुभूति नहीं है। ये जिस क्षुधा-पिपासा का अनुभव करते हैं, उसे बाहर नहीं बतला सकते। अनुभव शक्ति जीवन में ही है। संस्कार अनुभवशक्ति का केन्द्र है। अन्य जीवों में अनुभवशक्ति है, किन्तु विवेकशक्ति नहीं है। इसी कारण ऐतरेय आरण्यक में कहा है कि पश्वादि का ज्ञान केवल भूख-प्यास आत्मक है। ये जिस प्रकार यावत् जीवन यह ज्ञान लेकर वास करते हैं, यावज्जीवन ही उसे लेकर वास करना होगा। सहजज्ञान में वृद्धि करने की शक्ति, उसका अतिक्रमण करने की शक्ति इनमें नहीं है। कुक्कुर, वानर, शृगाल इत्यादि जीवगण सहजज्ञान की प्रेरणा से जो-जो कर्म करते हैं, चिरकाल तक करते हैं। किस उद्देश्य से करते हैं, यह नहीं विचार करते, क्योंकि चिन्तन की शक्ति उनमें नहीं है। विवेकशक्ति ही मानव को अन्य जीवों से अलग करती है।

विवेकशक्ति का केन्द्र क्या है? निरोध अथवा संयमशक्ति ही इसका केन्द्र है। सत्वगुण का आधिक्य ही संयमशक्ति अथवा निरोध का प्रसविता है। विवेकशक्ति ही

---

itself in the individual through that process, a system into the inner constitution of which no results of time inter."

"If we examine the nation of intellectual progress common to all educated men, we find that it virtually involves this two fold conception of the mind."

—Prolegomena to Ethics by H. Green, p. 83

1. "शितिमांससतीभेदस्तु इति गालव: शिति श्यतेर्मांसं माननं वा मानसंवा मनोऽस्मिन् सीदतीति वा मेदो मेद्यते:"—निरुक्त

मनुष्य को मनुष्य बनाती है। परन्तु मनुष्यमात्र में यह शक्ति समभाव से विद्यमान नहीं रहती। जो इन्द्रिय सुखभोग को ही जीवन का उद्देश्य मानते हैं, वे इहलोक-परलोक का तत्वानुसन्धान करने से विमुख रहते हैं। जिनमें भविष्य-चिन्ता नहीं है, जो परमात्मा का तत्वचिन्तन नहीं करते, जो मुक्ति के प्रार्थी नहीं हैं, श्रुति के अनुसार ऐसे व्यक्ति मनुष्य-देह प्राप्त करके भी आसन्न अथवा संकीर्ण चेतन हैं।

मानव-जीवन का उद्देश्य क्या है? आत्मज्ञान। आत्मज्ञान तथा आनन्द भिन्न पदार्थ नहीं है। आत्मज्ञान तथा प्रेम अभिन्न सामग्री है। जो सर्वभूत में अपना और अपने में सर्वभूत का निरीक्षण करते हैं, वे ही आत्मविद् हैं, वे ही विश्वजनीन प्रेममय हैं। आत्मज्ञान की परिच्छिन्नता ही मिथ्याज्ञान का मूल है। मिथ्याज्ञान ही रागद्वेष का क़ारण है। जिनका आत्मज्ञान सम्यक्रूप से विकास प्राप्त है, उनमें अन्य कामना नहीं रहती। कामना न रहने पर कर्म नहीं होता। कर्म न रहने पर मुक्तिलाभ होता है। चिरसाम्यावस्था की प्राप्ति होती है। मानव कृतकृत्य हो जाता है। ज्वाला यन्त्रणामय संसारमरुभूमि के पार स्थित सानन्दमय भवन में प्रवेश पाकर चिरशान्ति सुधापान करते हैं। तब मृत्यु की भृकुटि से कम्पायित नहीं होना होगा। तब क्षुत् पिपासादि स्वाभाविक व्याधि से क्लेश नहीं पाना होगा। तब वात-पित्तादि वैषम्य जनित शारीर व्याधि का आक्रमण और सहन नहीं करना होगा। तब मान-अपमान, सुख-दुःख, शीत-ग्रीष्म-रूपी सभी द्वन्द्व पर विजय प्राप्त हो जाती है। आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक दुःख का आत्यन्तिक निवृत्तिरूप परम पुरुषार्थ साधित हो जाता है। हमारी प्रकृति के चार पर्व हैं—भौतिकराज्य, उद्भिद्राज्य, संकीर्णचेतनराज्य तथा विशिष्टचेतन राज्य। वेदादिशास्त्र पाठ करने से इनके अतिरिक्त भी अन्य पर्व अथवा सोपान का संवाद मिलता है। देवादि की देह मनुष्य से भी उत्तम उपाधि है। वह मनुष्य-देह की तुलना में आत्मा का अधिक विकास क्षेत्र है। साधारण मनुष्य की तुलना में देवगण उच्चतर सोपान में स्थित हैं। मनुष्य देहधारी से उनका सामर्थ्य तथा ज्ञान अधिकतर है। जो वेदज्ञ हैं, अकामहत हैं, जो अपापविद्ध तथा वैराग्यवान् हैं, उनका आनन्द (श्रुति के अनुसार) ब्रह्मलोक के आनन्द से भी सौगुणित अधिक है। मनुष्यों में जो समग्र अवयव वाले अर्थात् विकलांग नहीं हैं, जो उपभोग उपकरणों से युक्त हैं, जो समान जातीय लोगों के अधिपति हैं, स्वतन्त्र हैं, वे ही मनुष्य लोक में परमानन्द प्राप्त करते हैं। मनुष्य लोक में ऐसे व्यक्ति से अधिक अन्य कोई सुखी नहीं है। उक्त गुणसम्पन्न मनुष्य परमानन्द की जिस मात्रा का उपभोग करते हैं, जितलोक पितृगण का आनन्द उससे शतगुणित है। पितृगण जिस परिमाण में आनन्दोपभोग करते हैं, गन्धर्वलोक का आनन्द उससे सौ गुणा अधिक है। गन्धर्वलोक में जिस परिमाण में आनन्द उपभोग मिलता है, कर्म देवताओं का आनन्द उससे शतगुण अधिक है। कर्मदेवतागण जो आनन्द प्राप्त करते हैं, आजान देवताओं का आनन्द उनसे शतगुण अधिक है। जो श्रोत्रिय—वेदविद् हैं जो अपायविद्ध हैं, जो अकामहत, विगततृष्ण हैं,

कामनाशून्य हैं उनका आनन्द आजानदेवों के आनन्द से शतगुण अधिक है। अधिक क्या कहें, वेदवित् अकामहत् अपापविद्ध वैराग्यवान् व्यक्ति का आनन्द ब्रह्मलोक से भी शतगुण अधिक है। जिस परमानन्द की मात्रा का आश्रय लेकर ब्रह्मादि से लेकर मनुष्य पर्यन्त जीवसमूह अवस्थान कर रहे हैं, ब्रह्मलोकादि का आनन्द उस परमानन्द सागर का एक बूँद मात्र है। प्रकृत परमानन्द अपरिच्छिन्न, भूमा है। यह संख्येय किंवा परिमेय नहीं है। मनुष्य-लोक से लेकर ब्रह्मलोक तक जिस आनन्द का उपभोग होता है, वह परिच्छिन्न, परिमेय है। उसके ऊर्ध्व में जो है, वह गणित की सीमा से बाहर है। जो श्रोत्रीय, वेदविद्, अवृजिन (अपापविद्ध) हैं, जो अकामहत् हैं, केवल वे ही ब्रह्मानन्दमय हैं। विश्व-ब्रह्माण्ड में ऐसे महापुरुष ही परमसुखी हैं। ज्ञानतः हो, अज्ञानतः हो, इस परमानन्द के अनुसन्धान के लिए ब्रह्मा से लेकर कीट पर्यन्त सदा सचेष्ट हैं, नियत गतिशील हैं।

यह निःसन्दिग्ध है कि आनन्द अथवा सुख ही जीव का ईप्सित है। आनन्द तथा सुख ही हमारा ईप्सित है, किन्तु दुःख का विषय यह है कि जो हमारा ईप्सिततम है, हम उसके स्वरूप से पूर्णतः अवगत नहीं हैं। विषयेन्द्रिय सन्निकर्ष जनित परिवर्तन को ही हम सुख कहते हैं, वैषयिक सुख ही हमारे लिए सुख है। वैषयिक सुख ही विषयासक्त का परिचित पदार्थ है। यह तो बतलाना ही होगा कि मुसाफिरखाना में पथिकों के बीच जैसे कुछ काल के लिए परस्पर परिचय हो जाता है, वैसा ही सम्बन्ध वैषयिक सुख तथा विषयासक्त के बीच है। एक पथिक हो सकता है, पहले दूसरे पथिक से कहीं मिला हो, वह पुनः उस पथिक को पहचान तो जाता है, परन्तु उसका नाम-धाम नहीं जानता। ऐसा ही विषय सुख के साथ होता है। पूर्व अनुभव किया था, बस अब पुनः अनुभव करना है। इतना ही सम्बन्ध उससे रहता है। उसका स्वरूप क्या है, उसकी उत्पत्ति-स्थिति-आयति के विषय में अधिकांश विषयासक्त (वैषयिक) अनभिज्ञ रहते हैं।

अभीष्ट प्राप्ति से सुख होता है, किन्तु इससे सुख क्यों होता है, इसका चिन्तन करने से विदित होगा कि सुखान्वेषण में निरतचित्त सुखानुसन्धान करते-करते जिसे सुखप्रदरूप मानता है, उस विषय को आत्मानुकूल अथवा आत्मीय मानकर अवधारित करता है, उसे लेकर अपने गृहाभ्यन्तर में प्रवेश करता है, सुखान्वेषणार्थ बहिर्मुख चित्त अन्तर्मुख होता है, निर्जन निरुपद्रव स्थान में उसका भोग करने के लिए अन्तर में प्रवेश करता है। अन्तर्मुख होने से अपना मुख जैसे दर्पण में देखने से मुखप्रतिबिम्ब झलकने लगता है, उसी प्रकार सुखमय आत्मा का प्रतिबिम्ब अन्तर में झलकने लगता है। इसी से अभीष्ट विषय प्राप्तिजन्य सुखानुभव होने लगता है। अल्पबुद्धि मनुष्य का विश्वास है कि यह विषय सुख ही आत्मा है। सुखोपलब्धि हो गयी, बहिर्मुख प्रवृत्ति अन्तर्मुख हो गयी, चित्तवृत्ति क्षणकालार्थ निरुद्ध भी हो गयी, इसीलिए कुछ क्षण के लिए यह परिवर्तन हो सका। आत्मा का स्वरूपावस्थान ही प्रकृत सुख है। आत्मा की

स्वरूपावस्था किसे कहते हैं? अपरिच्छिन्न अथवा सन्ततावस्था-अबाधितावस्था ही आत्मा की स्वरूपावस्था है।

अध्यापक बेन (Prof. Bain) कहते हैं कि प्रत्येक आनन्दभोग का विराम अथवा विच्छेद आवश्यक है। एकजातीय आनन्द बहुत काल तक भोग करने से उसके प्रति मन नहीं लगता, वह विरस हो जाता है।[1] वैषयिक सुख प्रकृत सुख नहीं है। इन्द्रियाँ हमें नित्य सुख से सुखी नहीं कर सकतीं। अध्यापक बेन के इस वचन से वही प्रतिपन्न होता है। सुस्वादु आहार हमें सुख अवश्य देता है किन्तु क्षुधा की निवृत्ति हो जाने पर, आहार के अभावजनित आत्मा की बाधा दूर हो जाने पर, सुस्वादु आहार भी अप्रिय लगने लगता है। विषवत् त्याज्य हो जाता है। विषय सुख यदि आत्मा का ईप्सिततम होता, तब इन्द्रियाँ निरन्तर एक विषय को छोड़कर अन्य विषय की आकांक्षा न करतीं। जो विषय अभी मनोरम है, वह अगले क्षण अमनोज्ञ रूप से विवेचित न होता। हमारी शारीर तथा मानस प्रकृति की अबाधितावस्था में जो सुख है, वह विदित हुआ। अब यह जानना है अन्य के सुख से मानव जो सुखी होता है, दूसरे को सुखी देखने की मनुष्य की जो इच्छा है, स्वसुखनिरभिलाष होकर भी मानव अन्य को सुखी करने की चेष्टा करता है, पराये के दुःख को देखकर मानव-हृदय दुःखी होता है, उसका कारण क्या है?

संवेदन अथवा सहानुभूति ही मानव को परसुख से सुखी तथा परदुःख से दुःखी करती है। संवेदन अथवा सहानुभूति का कारण क्या है? किस कारण से मानव-हृदय में संवेदन अथवा सहानुभूति वृत्ति का विकास होता है? आत्मज्ञान का प्रसारण ही संवेदना आदि सद्वृत्ति के विकास का कारण है। जिस कारण से हम अपनी आत्मा की अबाधित अवस्था की प्रार्थना करते हैं, जिस कारण से हम अपनी बाधितावस्था के अपसारण के लिए सचेष्ट होते हैं, उसी कारण से हम अन्य की बाधितावस्था को हटाकर उसकी अबाधितावस्था की प्रार्थना करते हैं। जिनका आत्मज्ञान जितनी मात्रा में प्रसारित हो जाता है, वे उसी मात्रा में प्रेमिक हो जाते हैं। उनका हृदय उसी मात्रा में संवेदनादि सद्वृत्ति का विकास-क्षेत्र हो जाता है। जर्मनी के ख्यातनामा वैज्ञानिक पण्डित बुकनर (Dr. L. Buchner) कहते हैं कि धर्मनीति का बीज (Moral Principle) परस्परतः सम्बन्धाश्रित है। "अन्य तुम्हारे साथ जैसा व्यवहार करें, तुम भी अन्य के प्रति वैसा व्यवहार करो। तुम अन्य से जैसा व्यवहार नहीं पाना चाहते, वैसा व्यवहार तुम भी अन्य के प्रति न करो।" यदि हम केवल इसी प्राचीन नीति के

---

1. "Every pleasure must be remitted in order to maintain its efficacy. Only for a certain limited time can the thrill of any delight be maintained; the stimulus then requires to be withdrawn for a period corresponding to the intensity of the effect."

—Mental & Moral Science by Bain, Appendix, p. 78

उपदेश का अनुवर्त्ती होकर चलें, तब हमारा जीवन सुनीति परिचालित होगा, धर्मनीति के सम्बन्ध में इसके अतिरिक्त अन्य उपदेश का प्रयोजन ही नहीं है।[1]

विद्वान् बुकनर का यह वचन सारगर्भित है, किन्तु प्रश्न उठता है कि मानव किस प्रकार से इस उपदेश का पालन करने योग्य होगा, क्या इसका कोई उपाय उन्होंने निश्चित किया है? केवल उपदेश से क्या इष्टापत्ति हो जायेगी? मिथ्या न बोलो, चोरी न करो, किसी के साथ अनिष्ट आचरण न करो, सत्यवादी बनो, चरित्रवान हो जाओ, यह सब उपदेश चिरकाल से सुनाई दे रहा है, किन्तु क्या सब इस उपदेश का अनुवर्त्तन करते हैं? क्या उनमें इस उपदेश-पालन की योग्यता है? उपदेश तो दूर की बात है, कठोर राज्य शासन क्या पापप्रवण हृदय के पापानुष्ठान की प्रवृत्ति को नियन्त्रित कर सका है? क्या चोर को नहीं ज्ञात है कि चोरी करने का दण्ड राजा से मिलेगा? लोग पुनः-पुनः दण्डित हो रहे हैं, परन्तु पापानुष्ठान की प्रवृत्ति से निवृत्ति नहीं मिलती! प्रियतम प्राण की ममता त्यागकर नर-हत्यारे भीषण नरहत्या व्यापार साधन क्यों करते हैं? हमारा विश्वास है कि संयम अथवा निरोधशक्ति का विकास न होने तक मनुष्य किसी भी उपदेश का अनुवर्त्तन कर सकने में पारग नहीं हो सकता। संयम अथवा निरोधशक्ति सत्वगुण की अधिकता से विकसित होती है। यही धर्म का मूल है। मनुस्मृति[2] आदि धर्मशास्त्र के अध्ययन से ज्ञात होता है कि धृति-क्षमा, दम, अस्तेय, शुचि, इन्द्रियनिग्रह, धी, विधा, सत्य, अक्रोध आदि मानव धर्म के लक्षण हैं। (अस्तेय=अविधिपूर्वक परवस्तु परद्रव्य लेना, इस प्रवृत्ति का निरोध। धी=पदार्थतत्त्व विनिश्चय शक्ति। विद्या=जिससे परमात्मा को जाना जाये।) इस धर्मलक्षण में भी संयम अथवा निरोधशक्ति ही मूल है, वही इन धर्मलक्षणों का कारण है। ये धर्मलक्षण मनुष्य में ही हैं। अन्य जीवों में नहीं हैं। यही मनुष्य का मनुष्यत्व है। इनके अभाव में मनुष्यत्व की हानि होती है। वैराग्य-भक्ति-श्रद्धा-प्रेम-सन्तोष-सहानुभूति इत्यादि सभी निरोधमूलक हैं। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं योग से आत्मदर्शन ही परमधर्म है। वही जीव का परम लक्ष्य है।[3] यह निःसन्दिग्ध तथ्य है।

---

1. "The only correct and tenable moral principle depends upon the relation of reciprocity. There is, therefore no better guide to moral conduct than the old and well known probarb—"What you would not have done to you, that to other never do". If we complete this probarb with the addition "Do to others as you would they should do to you" and we have the entire code of virute and morals in hand and indeed in a better and simpler form than could be furnished us by the thickest manuals of ethic, or the quintessence of all the religious systems in the world"

—Man in the Past, Present and Future by Dr. Bitchner, p. 211

2. "चतुर्भिरपिचै वै तैर्नित्यमाश्रभिर्भिर्द्विजैः। दशलक्षणकोधर्मः सेवितव्यं प्रयत्नतः॥
धृतिःक्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥"

—मनुसंहिता

3. "अयन्तु परमोधर्मो यंत् योगेनात्मदर्शनम्॥" —याज्ञवल्क्य संहिता

संकीर्ण चेतनराज्य प्रधानतः व्युत्थान शक्ति के शासन में है। विशिष्ट चेतनराज्य अधिकांशतः निरोध अथवा संयमशक्ति द्वारा परिचालित होता है। संकीर्ण चेतनराज्य संस्कार शक्ति की प्रेरणा से अवशभावेन कार्य करता है। विशिष्ट चेतन राज्य संयम तथा निरोधशक्ति की प्रेरणा से विवेक के वश में रहता है। यह स्मरण रखना होगा कि मनुष्य शरीरधारी सभी मनुष्य पूर्ण मनुष्य नहीं हैं। सब में मानवीय धर्म का एक जैसा विकास नहीं रहता। मृत्तिका कहीं पर प्रकृति परिणाम से पाषाण हो रही है, कहीं वह मुलायम है। क्रमशः धीरे-धीरे पाषाण बन रही है। परिणाम मात्र ही क्रमपरिणामी है। मनुष्य में भी विकास क्रमशः होता है। उसमें मानवीय परिणाम युगपत् नहीं हो जाता। अतः प्रत्येक मनुष्य पूर्ण मनुष्य नहीं है। जितनी मात्रा में संयम शक्ति तथा निरोध शक्ति का विकास होगा, उसी मात्रा में उसे मनुष्यत्व प्राप्त होगा।

पतंजलिदेव कहते हैं कि धारणा-ध्यान-समाधि, इन तीन की परिभाषा है संयम। संयम से इनको ही समझना चाहिए।[1] कहीं किसी आन्तर अथवा बाह्यविषय में से एक पर चित्त को बनाये रखना धारणा है। धारणा का परिणाम है ध्यान। जिस विषय में चित्त धृत स्थिरीकृत हो जाये—उस विषय के प्रत्यय में तथा चित्तवृत्ति में एकतानता हो, ध्येय के आलम्बन से भिन्न अन्य विषय में चित्तवृत्ति न जाये, ध्येयाकार में ही चित्तवृत्ति का एकतान प्रवाह हो, वही ध्यान है। ध्यान का परिणाम है समाधि। ध्यान ही ध्येयाकार में भासमान होकर जब प्रत्ययात्मकृत वृत्तिस्वरूप ज्ञान का परित्याग करके अवभासित हो, तब उसे समाधि कहा जाता है। जवाकुसुम पुष्प के पास रखा विशुद्ध स्फटिक जैसे अब शुभ्रवत् प्रतीत न होकर जवाकुसुम के वर्ण वाला प्रतीत होता है, उसी प्रकार से विषयाकार में लीन चित्तवृत्ति पृथक् रूप से अनुभूत नहीं होती।

अभ्यासपूर्वक संयम पर विजय प्राप्त करने पर जब इच्छामात्र से संयम करने का सामर्थ्य हो जाता है, तब समाधिजनित प्रज्ञा की ज्ञानशक्ति का विकास होता है। इतस्ततः विक्षिप्त शक्ति को निरोध द्वारा एकाग्र कर सकने से उसमें बलवृद्धि होती है, इसे सभी मानते हैं। हमने भाप का इंजन देखा है। यह क्षिप्रगति से अल्पकाल में बहुत दूर तक जाता है, यह हम जानते हैं। वाष्पबल से ही वाष्परथ चलता है। वाष्पजल की सूक्ष्मावस्था है। जल उत्तप्त होकर वाष्पाकार धारण करने लगता है। यदि हम एक कड़ाही को चूल्हे के ऊपर स्थापित करें, तब सब जल धीरे-धीरे वाष्प बनकर उड़ जायेगा। किन्तु इस वाष्प से कोई भी कर्म साधित कहाँ हो सका? इतस्ततः प्रसारणशील, उड्डीयमान, वाष्प का यन्त्र विशेष द्वारा निरोध कर सकने पर उससे

1. ''त्रयमेकत्र संयमः'' —पातंजलदर्शन, विभूतिपाद, सूत्र 4
''देशबन्धश्चित्तस्य धारणा'' —वही, सूत्र 1
''तत्र प्रत्ययैकतानताध्यानम्'' —वही, सूत्र 2
''तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि'' —वही, सूत्र 3
''तज्जयात् प्रज्ञालोकः'' —वही, सूत्र 5

विविध कार्य सम्पादित होते हैं। शुक्राचार्य 'नीतिसार' ग्रन्थ में कहते हैं कि जल, वायु तथा अग्नि के संयोग तथा निरोध द्वारा जो कर्म निष्पादित हो सकता है, वह सब कलाशास्त्र में वर्णित है।[1]

वायु आदि जड़शक्तियों का निरोध करने से जिस प्रकार से उनकी बलवृद्धि होती है, उसी प्रकार से चित्तशक्ति का निरोध कर सकने से उसकी अत्यन्त बलवृद्धि होती है। मनस्तत्वविद् योगीगण विक्षिप्त चित्तशक्ति का निरोध करके विविध अद्भुत कार्य-सम्पादन करते हैं। अतएव भगवान् पतंजलिदेव ने जो विविध उपदेश दिया है, वह न तो अति प्राकृतिक है, न कल्पना का विजृम्भण ही है। मनुष्यत्व की पूर्णता योगाभ्यास के बिना नहीं हो सकती। संयम अथवा निरोधशक्ति ही मनुष्य को मनुष्य बनाती है, वही मनुष्य का मनुष्यत्व भी है। इसलिए इसकी वृद्धि मनुष्यत्व की वृद्धि है और इसके ह्रास से मनुष्यत्व का ह्रास होता है। संयम का संवर्द्धन ही योगाभ्यास का उद्देश्य है। इसका संवर्धन ही योगसाधन है। उपासना में भी संयमशक्ति की तथा उसके संवर्धन की प्रक्रिया ही है। जो मानव उपासना का प्रयोजन नहीं जानता, जिसकी दृष्टि में उपासना असभ्योचित धर्म है, वह निश्चित ही मनुष्यत्व पर्व से स्खलित है। 'उपासना तत्व' नामक ग्रन्थ में हमारी ओर से यह प्रतिपादन करने का प्रयत्न होगा कि उपासना ही मनुष्य का धर्म है और उपासना ही मनुष्यत्व भी है। संकीर्ण चेतनराज्य तथा विशिष्ट चेतनराज्य का यथाप्रयोजन समाचार ग्रहण किया गया। अब उन्नति-अवनति का स्वरूप-दर्शन करना है।

उन्नति शब्द का व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ है ऊर्ध्व में नेति=ऊर्ध्वगमन। अवनति उन्नति से विपरीत है। अधोगमन ही अवनति है। भौतिकराज्य, उद्भिद्राज्य, संकीर्ण चेतनराज्य तथा विशिष्ट चेतनराज्य, प्रकृति की चतुर्विध पर्वरूपी चतुर्विध सोपान पंक्ति का हमने वर्णन कर दिया है। भौतिक राज्य प्रकृति का निम्नतम पर्व है। विशिष्ट चेतनराज्य उच्चतम पर्व है। ये चारों पर्व सत्व-रज: तम: के न्यूनाधिक्य से जन्म लेते हैं। भौतिकराज्य पर्व से आगे वाले तीन पर्व क्रमश: क्रमोन्नत हैं। इसी प्रकार प्रत्येक के साथ है। अर्थात् उद्भिद्राज्य से आगे वाले दो पर्व क्रमश: क्रमोन्नत हैं, इत्यादि। उन्नति तथा अवनति का कारण क्या है? किस कारण से ऊर्ध्वगति होती है और किस कारण से अधोगति होती है? सत्वगुण की अधिकता से ऊर्ध्वगति तथा तमोगुणाधिक्य के कारण अधोगति अथवा धर्म उन्नति का तथा अधर्म अवनति का कारण है।

सांख्यदर्शन ने भौतिक सर्ग को दैव, तैर्यग् योनी, मनुष्य इन भागत्रय में विभक्त किया है। दैव सर्ग में ब्राह्म्य, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र्य, गान्धर्व, यंक्ष, राक्षस तथा पैशाच, यह अष्टविध व्यवस्था है। तिर्यक्योनि में (तैर्यग्) पशु-पक्षी-मृग-सरीसृप तथा स्थावर, यह पंचविध व्यवस्था है। मानुष सर्ग एकविध है। चैतन्य के उत्कर्ष-निकर्ष के तारतम्यानुसार भौतिक सर्ग में भी ऊर्ध्व-मध्य-अध, यह त्रिविध विभाग हैं। सांख्य-

1. "जलवायुग्नि संयोगनिरोधैश्च क्रियाकला" —शुक्रनीतिसार, चतुर्थ अध्याय, तृतीय प्रकरण

दर्शन का मत है कि द्युलोक से सत्यलोक पर्यन्त सत्वविशाल-सत्वबहुल है। पश्वादि-स्थावरान्त तमोविशाल है तथा मनुष्य रजोविशाल-रजोबहुल है। धर्म द्वारा ऊर्ध्व द्युलोक प्रभृति लोक में गमन होता है। अधर्म हेतु अधोगति-भूतलादि प्राप्त होता है। ज्ञान से अपवर्ग अथवा मुक्ति मिलती है। तत्वज्ञान का अभाव बन्धन का कारण है।[1]

महर्षि कणाद कहते हैं—जिससे अभ्युदय, उन्नति तथा निःश्रेयस (Highest Good) सिद्ध हो, वह धर्म है। कृष्णयजुर्वेद तथा ताण्ड्य ब्राह्मण कहते हैं, जिस कर्म में प्रेति, प्रकृष्ट गति हो, जिस कर्म में अभ्युदय तथा निःश्रेयस का हेतु है, जो बन्धन का कारण नहीं है, जिस कर्म द्वारा मानव उन्नति की ओर अभिमुखीन होता है और परमपद में प्रतिष्ठित होता है, वह धर्म है।[2] आत्मदर्शन ही परम धर्म है, यह पहले कहा गया है। अतएव शाश्वत ब्रह्मधाम ही उन्नति का चरम स्थान है तथा तमोगुण बहुला पृथ्वी ही अवनति का शेष पर्व है।

उन्नति अथवा अभ्युदय के स्वरूप निर्णय में प्रवृत्त होने पर पण्डित आगस्ट कॉमटे (Auguste Comte) कहते हैं कि प्राकृतिक नियम का क्रमविकास ही उन्नति है। निखिल सम्भाव्य उन्नति ही प्राकृतिक नियमगर्भ में बीजभावेन अवस्थित रहती है। अतएव प्राकृतिक नियम की प्रव्यक्तावस्था को ही उन्नति कहा गया है।[3]

विद्वान् हर्बर्ट स्पेन्सर कहते हैं कि जैसा परिणाम साक्षात् परम्परा से जिस भाव में ही हो, मानव के सुखसन्दर्शन प्रवण परिणाम समूह ही अभ्युदयात्मक रूपेण विवेचित होते हैं। अविशेष (सामान्य) से विशेषभाव की प्राप्ति जातिभेद है अथवा जागतिक प्रवृत्ति का विसदृश परिणाम ही सभी उन्नति का कारण है।[4] पण्डित स्पेन्सर द्वारा व्याख्यात क्रमविकासवाद की समालोचना करने का यह उचित स्थल नहीं है। का आद्यरूप है। सांख्य तथा पातंजलदर्शन का पाठ करने से स्पष्टतः प्रतिपन्न होता है कि

---

1. ''अष्टविकल्पोदैवस्तैर्यग् योनश्च पञ्चधा भवति। मनुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिक सर्गः ॥''
''ऊर्ध्वं सत्वविशालस्तमोविशालश्चमूलतः सर्गः। मध्येरजोविशालौ ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः। धर्मेण गमन मूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण। ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः''—सांख्यकारिका
2. ''यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः''—वैशेषिक दर्शन
''आह देवा वै त्रयीदेवेभ्य एव यज्ञं प्राह। प्रेतिरसि धर्मायत्वा धर्मजित्येत्याह मनुष्य वै धर्मा..... ॥'' —कृष्णयजुर्वेद संहिता
3. "Order is the condition of all progress; progress is always the object of order or, to penetrate the question still more deeply. Progress may be regarded simply as the development of order : For the order of nature necessarily contains within itself the germ of all possible progress. Progress then is in its essence identical with order, and may be looked upon as order made manifest."
—System of Positive Polity by Auguste Comte, Vol. I, p. 83
4. "Only those changes are held to constitute progress which directly or indirectly tend to heighten human happiness. And they are thought to constitute progress simply because they tend to heighten human happiness." —Essays by H.Spencer, Vol. I, p. 2

पाश्चात्य क्रमविकासवाद विकलांग तथा अपूर्ण है। विद्वान् स्पेन्सर कहते हैं कि साम्यावस्था की प्राप्ति ही निखिल प्रवृत्ति का चरम लक्ष्य है। किन्तु हमारा विश्वास है कि उन्होंने साम्यावस्था के शास्त्र वर्णित रूप का अवलोकन नहीं किया। इनके मत से मानव जीवन की पूर्णावस्था से जनित एकीभाव ही साम्यभाव है। विद्वान् स्पेन्सर कहते हैं कि जब तक सर्वांगीण पूर्णता प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक पूर्ण सुख नहीं मिल सकता। तब तक परिणामक्रम भी समाप्त नहीं होता।[1]

विद्वान् स्पेन्सर का यह कथन प्रथमदृष्ट्या शास्त्रीय उपदेश के अनुकूल लगता है, किन्तु विचार करने से ज्ञात होता है कि शास्त्रीय उपदेश से इसमें पार्थक्य है। भगवान् पतंजलिदेव कहते हैं कि धर्ममेघ का उदय होने पर गुणत्रय कृतार्थ हो जाते हैं। कृतकृत्य हो जाते हैं। गुणत्रय के कृतकृत्य होते ही परिणाम क्रम की समाप्ति हो जाती है। धर्ममेघ किसे कहा जाता है ? चित्तनदी की द्विविध गति है। वह उभयवाहिनी है। एक की गति कल्याणवहा है। अन्य की है—पापवहा। जो गति कल्याणवहा, कैवल्यं प्राग्भारा, विवेक विषय प्रवणा है, अर्थात् जो गति केन्द्राभिमुख है, वह ईप्सितप्रदायिनी कल्याणदायिनी है। जो पापवहा है—विषयप्राग्भारा है, वह संसाराभिमुखीन है। पापवहा को बहिर्मुखा तथा कल्याणवहा को अन्तर्मुखा भी कहते हैं। निरोध शक्ति का आधिक्य तथा चित्त की अन्तर्मुखी गति ही कैवल्य प्राग्भारा है। और व्युत्थान शक्ति का प्राबल्य होने से बहुपापवहा विषय प्राग्भारा अथवा संसार प्राग्भारा है। चित्त का राजस परिणाम है व्युत्थान। शुद्धसत्व परिणाम है निरोध। व्युत्थान तथा निरोध, इन द्विविध संस्कार का अभिभव होते-होते निरोध संस्कार जब परिपुष्ट होता है, तब चित्त का निरोध परिणाम हो गया, यह कहते हैं। यह संस्कार जितना ही दृढ़ होगा, उतना ही व्यक्ति विवेकापन्न होगा, कैवल्यप्रवण होगा। जो चित्त सर्वदा बाह्यविषय में आसक्त था, शब्द स्पर्शादि बाह्यविषय भोगनिरत था, निरोध की प्रबलता से वह चित्त अब बाह्यविषयों में अनुरक्त नहीं होता। अनित्यविषय सुखभोग से उसको वैराग्य हो जाता है। जिस महात्मा के चित्त से बहिर्मुखी वृत्ति सर्वदा निरुद्ध हो गयी है, जिस महात्मा का चित्त विवेकनिम्न अथवा कैवल्यप्राग्भार हो गया है, उसके प्रसंख्यान में सर्वविज्ञान सामर्थ्य का आविर्भाव हो जाता है।

योगी यदि इस प्रसंख्यान नामक विभूति से लुब्ध नहीं होता, यदि इससे भी उसे वैराग्य हो जाता है, ऐसी स्थिति में वैराग्य की पराकाष्ठा हो जाती है। तब उसमें केवल विज्ञान ही उत्पन्न होता है। संस्कार बीज अविद्यादि विनष्ट हो जाने से अब और अन्य प्रत्यय उत्पन्न नहीं होते। इसी समय योगी में धर्ममेघ समाधि उदित होती है। अशुक्ल तथा अकृष्णरूप प्रकृष्ट धर्म का वर्षण करने के कारण उसे धर्ममेघ कहा गया है। जो

---

1. "Hence this primordial truth in our immediate warrant for the conclusion, that the changes which evolution presents, cannot and until equlibrium is reached; and that equlibrium must at last be reached."
—First Principle by H.Spencer, p. 516

भाग्यशाली धर्ममेघ की त्रितापप्रशमनी सुशीतल छाया का अवलम्बन करते हैं, वे कृतकृत्य हैं। वे ही पूर्णकाम हैं। वे ही पूर्णताप्राप्त हैं। वे ही उन्नति की चरमसीमा पर उपनीत हैं। भगवान् पतंजलिदेव किसे चरमोन्नति कहते हैं, इस अवस्था में कैसे उपनीत होने से परिणामक्रम की समाप्ति होती है, इसका पाठक चिन्तन करें।[1]

पतंजलिदेव जिसे चरमोन्नति कहते हैं, वह व्यक्तिमात्र की दृष्टि से चरमोन्नति रूप नहीं समझी जायेगी। वैसी उन्नति सबको कमनीय नहीं लगेगी। कोई-कोई तो इसे अवनति की भीषण मूर्ति रूप में देखेंगे। भगवान् वेदव्यास कहते हैं कि वर्षाकाल में तृण का अंकुर निकलते देखकर यह अनुमान हो जाता है कि मृत्तिका में तृण के बीज विद्यमान थे। इसी प्रकार मोक्षमार्ग-अध्यात्मशास्त्र का श्रवण करने से जिसमें रोमांच तथा अश्रुपतन दृष्ट हो, उसमें अपवर्गभागीय मोक्षजनक विशेष दर्शन का, आत्मज्ञान का बीज फलोन्मुखी हो रहा है, यह अनुमान किया जा सकता है। ऐसे व्यक्ति को आत्मभावभावना, आत्मा की स्वरूपजिज्ञासा स्वभावतः होती है। जिसमें ऐसे बीज विद्यमान नहीं हैं, वे दोषवशात् (पापकारी नास्तिक्य बुद्धि) आत्मतत्व की जिज्ञासा त्याग कर आत्मा के नास्तित्व विषय के अनुरागी हो जाते हैं। वे मानने लगते हैं कि देह के अतिरिक्त आत्मा नामक स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। उनमें तत्वनिर्णय के प्रति अरुचि हो जाती है। आत्मभावभावन का स्वरूप क्या है? मैं कौन था? किस रूप में था? अब मेरा स्वरूप क्या है? किस भाव से जीवित हूँ? भविष्य में क्या होगा? कहाँ जाना होगा? कैसे रहूँगा? इत्यादि अनुसन्धान को आत्मभावभावना कहा गया है। पूर्व-पूर्व जन्म के सुकृत से आत्मजिज्ञासा का उदय होता है।[2]

लोग सामान्यतः जिसे उन्नति मानते हैं, विचार करने से प्रतीति होती है कि वह आत्मा की अबाधितावस्था से भिन्न अन्य कुछ भी नहीं है। स्वास्थ्य, धन, आत्मीयजन का सुख, सामाजिक कल्याण, विज्ञान तथा शिल्प की उन्नति, एक प्रकार से वर्तमान जीवन के अबाधित तथा अनुकूल अवस्था प्रापक उपकरण समूह ही उन्नति के प्रतीक माने जाते हैं। स्वास्थ्य आदि का समागम भी संयम शक्ति की कृपा से मिलता है। संयमशक्ति प्रसूत धी-विद्या-सत्य-अक्रोधादि मानवधर्म समूह का अभाव मानव के वर्तमान जीवन को भी उद्दाम पशुजीवन बना देता है, यह मानना होगा।

---

1. ''तदा विवेकनिम्नं कैवल्य प्राग्भावं चित्तम्''
''प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्याते धर्ममेघः समाधि''
''ततः कृतार्थनां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्'' —पातंजलदर्शन, कैवल्यपाद
2. ''विशेषदर्शिन आत्मभावभावना विनिवृत्ति'' —पातंजलदर्शन, कैवल्यपाद
''यथा प्रावृषि तृणाङ्कुरस्योद्भेदेन तद्बीजसत्तानुमीयते तथा मोक्षमार्गश्रवणेन धस्य रोमहर्षाश्रुपातौ दृश्यते तत्रापास्ति विशेष दर्शनबीजमपवर्गभागीयं कर्माभिनिर्वर्त्तितमित्यनुमीयते। तस्यात्मभाव-भावना स्वाभाविकी प्रवर्त्तते। तत्रात्मभावभावना—कोहऽमासं कथमहमासं किंस्विद् इदं कथं स्विच्छिदं के भविष्यामः कथं वा भविष्याम इति'' —योगसूत्रभाष्य

पतंजलिदेव का चरमोन्नति सम्बन्धित उपदेश है कि जहाँ जाने के पश्चात् जिस अवस्था को पा लेने के पश्चात् मानव में और कहीं जाने की प्रवृत्ति नहीं रहती, अन्य कोई अवस्था पाने की अभिलाषा नहीं जागती, वही उन्नति है। वे उस स्थान का पथ-प्रदर्शन करते हुए, उस पर चलने का उपाय भी बताते हैं। रामेश्वरम् का यात्री हरिद्वार के पथ का विवरण सुनकर भीत अथवा विरक्त क्यों हो? हरिद्वार का यात्री अनुरोध करके हरिद्वार का विवरण जानेगा। रामेश्वरम् के यात्री को हरिद्वार का वर्णन सुनने में प्रवृत्ति क्यों होगी, यदि सुन भी लेता है तब उस वर्णन से विरक्त अथवा भीत होने का क्या प्रयोजन? जो हरिद्वार का पथवर्णन कर रहे हैं, वह अवश्य ही हरिद्वार के यात्रीगण के उपकारार्थ ऐसा कर रहे हैं। वे रामेश्वरम् के यात्री को भुलावा देकर हरिद्वार ले जाने की नियत से ऐसा नहीं कर रहे हैं। पतंजलिदेव तीर्थयात्रा वाले नहीं हैं कि वे रामेश्वरम् के यात्री को भुलावा देकर हरिद्वार ले जायें! विक्षिप्त चित्त, इन्द्रियसुख भोगासक्त हृदय में व्युत्थान शक्ति की प्रबलता के कारण जो अवश व्यक्ति हैं, उनमें निरोध परिणाम नहीं हो पाता। उनमें इन्द्रियसुख के अतिरिक्त किसी सुख का लोभ ही जन्म नहीं लेता। अपवर्ग तथा मुक्ति की आकांक्षा उनको नहीं होती। पतंजलि देव इस तथ्य को जानते थे। उन्होंने सभी व्यक्तियों को मुक्तिमार्ग पर ले जाने का प्रयत्न नहीं किया। निवृत्ति ही प्रवृत्ति का प्रान्तबिन्दु है, शेष सीमा है। सभी प्रवृत्तियों को एक दिन निवृत्ति बिन्दु में उपनीत होना ही होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। प्रवृत्ति मार्ग में विचरणशील वैज्ञानिक इस बात को अंगीकार नहीं कर सके हैं। क्या परिणाम का अन्त है? क्या जगत् चिरकाल तक इसी प्रकार अविशेष से विशेषभाव की प्राप्ति करता रहेगा? क्या वह चिरकाल तक अनन्त परिणामस्रोत में उतराता रहेगा?

विद्वान् स्पेन्सर कहते हैं, ना ऐसा नहीं होगा। परिणाम का अन्त है। साम्यावस्था की प्राप्ति ही परिणाम की अन्त्य सीमा है। साम्यावस्था होते ही परिणाम का निरोध हो जायेगा।[1] विद्वान् स्पेन्सर के अनुसार साम्यावस्था ही निखिल प्रवृत्ति का चरम लक्ष्य है। निवृत्ति ही प्रवृत्ति की अन्त्यावस्था है। उन्होंने इस सिद्धान्त की उपपत्ति के लिए गतिशील लोष्ट्र को, वीणा की झंकार को, सौरजगत् को, शारीरयन्त्र समूह की क्रिया अथवा परिणामक्रम को दृष्टान्तरूपेण ग्रहण किया है। महर्षि कणाद नोदनादिजनित वेगयुक्त इषु (तीर) से द्रव्यसमूह की प्रवृत्ति तथा निवृत्ति को परिभाषित करते हैं। वे कहते हैं कि वेगविशिष्ट तीर (Arrow) जिस कारण से स्थिर होता है, जीवात्मा का जन्मादिभाव विकार उसी कारण से निरुद्ध हो जाता है। चलिष्णु तीर के भूमि पर पतन तथा स्थिरत्व प्राप्ति का हेतु क्या है? महर्षि कणाद कहते हैं कि वेगाख्य संस्कार का

1. "And now towards what do these changes tend? Will they go on forever? Or will there be an end to them?" "In all cases then there is a progress towards equilibrium."

—First Principle by Spencer, p. 433-34

अभाव तथा गुरुत्वरूपी मध्याकर्षण क्रिया। यही चलिष्णु तीर के पतन का हेतु है।[1] जीवात्मा भी इसी प्रकार अदृष्ट का अभाव हो जाने पर, भोगवासना का क्षय होने पर, कामना की निवृत्ति होने पर भवनिरोध द्वारा अपवर्ग तथा मुक्ति प्राप्त करता है।[2] संस्कार तथा वासना का अभाव तथा परमपिता का आकर्षण जीवात्मा की परिणामक्रम समाप्ति का कारण है।

संसार में परिलक्षित होता है कि कोई व्यक्ति एक वस्तु अथवा एक व्यक्ति को पाकर कुछ समय स्थिरभाव से कृतार्थ तथा पूर्णकाम के समान अवस्थान करके पुनः चंचल हो जाता है और कर्म में प्रवृत्त होता है। पुनः नये प्राप्तव्य के अन्वेषण में बहिर्गत होता है। यह दृष्टान्त हमारे दृष्टिपथ में प्रतिक्षण आता रहता है। अन्तर में, बाहर, जीव में, उद्भिद् में, आत्मपर में हम सर्वदा इस सत्य की उपलब्धि करते हैं। अतएव सिद्धान्त है कि कुछ काल के लिए कृतार्थमन्य जागतिक पदार्थ जब पुनः कर्मारम्भ करता है, पुनः अकृतार्थ के समान चंचल हो उठता है, तब जो वस्तुतः ईप्सिततम है, (परमेश्वर) उसका निश्चय ही दर्शन नहीं मिलता। वह प्रकृत आप्तव्य के साथ मिलने में सक्षम नहीं हो पाता। जो प्रकृत आप्तव्य का लाभ करते हैं, प्रकृत ईप्सिततम से मिल सकने की योग्यता पा जाते हैं, उनकी कर्मप्रवृत्ति विनिवृत्त हो जाती है। प्रयोजनाभाव के कारण उनकी कर्मप्रवृत्ति की पुनरावृत्ति नहीं होती। जब निवृत्ति कर्म की अन्त्यावस्था है, प्रवृत्तिमात्र ही जब अन्त में (चाहे जितना काल हो) विनिवृत्त हो जाती है तथा प्रकृत ईप्सितम का समागम अथवा पूर्णत्वप्राप्ति जब कर्म निवृत्ति का हेतु है, तब मानना होगा कि कोई प्रकृत ईप्सिततम पदार्थ है। तब मानना होगा कि अपूर्ण जीव की पूर्णावस्था है। तब मानना होगा कि जो निवृत्तमार्ग के पथिक हैं, जिनकी भोगवासना खर्व हो गयी है, जिनके चित्त की सर्वार्थता तथा नाना विषय में विक्षिप्तता (Divergent Motion) धर्म का क्षय होकर एकाग्रता एकावलम्बनता (Equilibrium) भाव का[3] उदय है, ऐसे लोग निश्चय ही आप्तव्य में सन्निहित हैं। ईप्सितम के साथ संगत न होने से दूर से ही उनको वे लोग देखते हैं। ये लोग जागतिक उन्नति की चरमसीमा पर उपनीत हो गये हैं। इन्होंने प्रकृति के स्थूल-स्थूल-आन्तर-बाह्य सर्वप्रकार की मोहिनी मूर्त्ति का हेयत्व अकिंचित्करत्व अथवा अनुपादेयत्व अपने ज्ञानोन्मीलित नेत्रों से स्पष्टतः देख लिया है। आत्मा का अखण्ड सच्चिदानन्दरूप इनके पास अब अप्रकाश नहीं है। आत्मा के प्रकृत रूप के विकास के प्रतिबन्धक अविद्या प्रभृति कृतार्थ होकर वहाँ से दूर पलायित हो गये हैं।

---

1. ''संस्काराभावे गुरुत्वात् पतनम्''—वैशेषिक दर्शन, 5/1/18
2. ''तद्भावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः''—वही 5/2/19
3. Equlibrium शब्द Equus तथा Libra इन दोनों शब्द के योग से उत्पन्न है। Equus संस्कृत के 'एक' शब्द के तथा Libra 'लम्ब' शब्द के समान है। हमने इसीलिए Equlibrium का अनुवाद 'एकावलम्बनता' पद से किया है।

ऐन्द्रियक सुखवासना चरितार्थ नहीं है। वैषयिक सुखभोग वासना हृदय में प्रबलतर रूप से विद्यमान है, आत्म-अनात्म के विवेक का अंकुर भी अभी उग नहीं सका है, देहेन्द्रिय से अलग आत्मा नाम का पदार्थ है भी, यह चिन्ता चित्त में कभी उदित ही नहीं होती तथा ऐन्द्रियक तृषा चरितार्थ करने से अलग जीवन का कोई उद्देश्य अथवा प्रयोजन है भी—जो यह जानते ही नहीं, ऐसे व्यक्ति अथवा जाति कभी भी निवृत्ति मार्ग के पथिक नहीं हो सकते। वेदादिशास्त्र के पाठ से प्रवृत्ति तथा निवृत्ति मार्ग का तत्व ज्ञात हो जाता है। शास्त्र ने अधिकारी भेद से इन दोनों मार्ग का उपदेश प्रदान किया है। कैसे शक्तिसंचय करें, कैसे शक्ति की उपासना करें, कैसे शत्रु को पराजित करें, कैसे प्रवृत्ति शक्ति को पूर्णतः विकसित करें, यह सब वेद ने सम्पूर्ण जगत् को सिखलाया है। जिस दुर्दमनीय प्रकृति को वशीभूत करने के लिए विज्ञान कठोर तपश्चरण (प्रयोग आदि अन्वेषण) में नियुक्त है, जिस प्रकृति के क्षुद्रतम अंश के अस्थायी अधिपत्य लाभपूर्वक विज्ञान गर्वित है, जिस प्रकृति के रहस्य भेदनार्थ वैज्ञानिक मस्तिष्क सदा व्यस्त हैं, पतंजलिदेव ने उस 'प्रकृति को वश में किया जा सकता है' यह कहा है। उन्होंने यह भी बता दिया है कि किस प्रकार से स्थूल-सूक्ष्म-स्वरूप-अन्वय तथा अर्थवत्व, इस पांचभौतिक अवस्था को सर्वतोभावेन वशीभूत किया जा सकता है। प्रकृति के समग्र देश का आधिपत्य करने की विधि भी बता दी है। उन्होंने मात्र निवृत्ति मार्ग का ही उपदेश नहीं दिया है, प्रवृत्ति मार्ग तथा निवृत्ति मार्ग के पथिक के पतंजलिदेव परम बन्धु हैं। दोनों के ही असेचक हैं। जिस संकल्पशक्ति के प्रसाद से पाश्चात्य देश आज पृथ्वी के शीर्ष स्थान पर हैं, जिस संयम शक्ति के अनुग्रह से विज्ञान सुधाकर के विमल रूप को देखने की आशा हृदय में पोषण की जा रही है, उस संकल्पशक्ति तथा संयमशक्ति की उपासना किस प्रकार पूर्णभाव से की जा सकती है, यह वेद तथा तत्पदाश्रित शास्त्रों ने पहले ही कह दी है।

ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि पुरुष (तथा) जीव की निद्रा, उसका परित्याग, उत्थान तथा संचरण यह चतुर्विध अवस्था है। इन चारों में उत्तरोत्तर श्रेयान है। निद्रादि अवस्था चतुष्टय में—निद्रा में कलि, निद्रापरित्याग में द्वापर, उत्थान में त्रेता तथा संचरण में कृत (सत्ययुग) समानार्थक है। ऐतरेय ब्राह्मण के उपदेश में बैठे (उपविष्ट) पुरुष का सौभाग्य जैसा का तैसा रहता है। उसमें वृद्धि नहीं होती। उपवेशन (बैठना) छोड़कर उत्थानीय पुरुष का सौभाग्य कृषि, वाणिज्यादि के उद्योग से वृद्धिगत होता है। शयान पुरुष का सौभाग्य सो जाता है। विद्यमान धन भी रक्षणादि के अभाव से नष्ट हो जाता है। देश-देश में पर्यटनीय पुरुष का सौभाग्य दिनोदिन बढ़ता रहता है।[1]

---

1. "आस्तेभग आसीनस्येद्धिः तिष्ठति तिष्ठतः। शेते निपद्यमानस्य चारति चरतो भगश्चरैवेति चरैवेति..."। "कलिः शयानोभवति संजिहानस्तु द्वापरः। उत्तिष्ठस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरश्चरैवेति चरैवेति" —ऐतरेय ब्राह्मण

शयन, उपवेशन, उत्थान तथा अबाधित रूप से इतःस्ततः विचरण अथवा विकास, अत्यल्प चिन्तन से शक्ति की यह चतुर्विध अवस्था हमें बुद्धिगोचर होती है। प्रत्येक जागतिक पदार्थ के जीवन में शक्ति की यह चार अवस्था हम लक्ष्य करते हैं। किसी जागतिक पदार्थ की अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था में आगमन तथा व्यक्तावस्था से अव्यक्तावस्था में गमन में हम शक्ति की शयनादि चतुर्विध अवस्था के अतिरिक्त और क्या देख पाते हैं ? इस समय भारत की शयनावस्था है। भारतवर्ष में इस समय कलियुग प्रबल वेग से चल रहा है। इस समय भारत जीवन्मृत तथा घोर तमसाच्छन्न है।

सत्वादि गुणत्रय के भेद से शयन, उपवेशन, उत्थान तथा इतःस्ततः विचरण होता है। गरुड़पुराण में कहते हैं कि जब सत्वगुण प्रबल होता है तब मनः-बुद्धि तथा इन्द्रियाँ सात्विक हैं। तब सत्ययुग चल रहा है। सत्वगुण प्रधान परिणाम, सत्वगुण प्रधान क्रिया सत्ययुग। रजोगुण प्रधान परिणाम, रजोगुण प्रधान क्रिया त्रेतायुग है। रजस्तमोगुण प्रधान परिणाम, रजस्तमोगुण प्रधान क्रिया ही द्वापर है तथा तमोगुण प्रधान परिणाम तथा तमोगुण प्रधान क्रिया ही कलियुग है।[1] ऐतरेय ब्राह्मण में शयनावस्था को कलि, उठ बैठने (उपवेशनावस्था) को द्वापर, उत्थानावस्था को त्रेता तथा इतस्ततः विचरणशीलावस्था को कृतयुग कहा गया है।

जीवतत्वविज्ञान के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उसमें प्राणशक्ति के जन्मादि षड्विकार का ही वर्णन है। मानव जन्म लेकर विद्यमान रहता है। वृद्धि तथा विपरिणाम को प्राप्त होता है। तत्पश्चात् क्रमशः क्षीण होकर विनष्ट हो जाता है। केवल मानव ही क्यों? उत्पत्तिशील पदार्थ मात्र ही जन्मादि षड्भाव विकारशील है। ज्योतिषशास्त्र ग्रहादि के इन षड्भावविकार का ही वर्णन करते हैं। ग्रहगण अभिव्यक्त होते हैं, कुछ काल अवस्थान करते हैं, वृद्धि तथा विपरिणाम प्राप्त करते हैं, क्रमशः क्षीण होते-होते अन्तर्हित हो जाते हैं। मानव जाति का इतिहास भी षड्भाव विकारपूर्ण है। उसकी उत्पत्ति होती है, कुछ काल बाल्यावस्था रहती है, तदनन्तर यौवनावस्था आती है। वृद्धि विपरिणाम के कारण प्रौढ़ तथा स्थविरदशा के अतिक्रमणोपरान्त अन्त में काल कवल में कवलित हो जाता है। इस समय भारतवर्ष की स्थविरदशा (Senile Preiod) है।

उन्नति तथा अवनति का वर्णन किया गया। अब यह विचार करना है कैसे उन्नति प्राप्त हो, उन्नति का साधन क्या है? शास्त्र ने उन्नति के दो रूप वर्णित किये हैं—पारमार्थिक-व्यावहारिक अथवा अपरिच्छिन्न-परिच्छिन्न अथवा नित्य-अनित्य। प्राकृतिक नियमानुवर्तन ही उन्नति-साधन है। प्राकृतिक नियमानुवर्तन तथा

1. "प्रभूतं च यदा सत्वं मनोबुद्धिन्द्रियाणि च। तदा कृतयुग विद्याद्दाने तपसियद्रतिः ॥
यदा कर्मसु काम्येषु शक्तिर्यशसि देहिनाम्। तदा चेतो रजोभूतिरिति जानीहि शौनक॥
यदा लोभस्त्वसन्तोषो मानोदम्भोऽथ मत्सरः। कर्मणाञ्चापि कामानां द्वापरं तद्रजस्तमः ॥
यदासदामृतं तन्द्रा निद्रा हिंसादिसाधनम्। शोके मोहो भयं दैन्यं स कलिस्तमसि स्मृतः ॥"
—गरुड़पुराण

स्वधर्मपालन एक ही बात है। शास्त्र का कथन है कि धर्म उन्नति अथवा सुख का तथा अधर्म अवनति तथा दुःख का कारण है। धर्म कौन पदार्थ है ? महाभारत का कथन है कि जो सत्य है, वही धर्म है। जो धर्म है, वही प्रकाश है। जो प्रकाश है वही सुख है। सत्य, धर्म, प्रकाश तथा सुख समानार्थक हैं[1] शतपथ ब्राह्मण के चतुर्दश काण्ड के चतुर्थ प्रपाठक में भी कहा गया है कि सत्य ही धर्म है। प्रजापति ने सभी प्रजा की सृष्टि करके यह विचार किया कि प्रजा कैसे सुप्रतिष्ठ हो। इस विचार के उपरान्त उन्होंने श्रेय स्वरूप धर्म की सृष्टि की।[2] ऋग्वेद संहिता के तृतीयाष्टक में कहते हैं कि सत्यरूप धर्म के अनेक शरीर हैं। ये सभी धर्मशरीर निखिल जागतिक पदार्थ को दृढ़ता से धारण किये रहते हैं। सत्यरूप धर्म ही सुखप्रद है, आनन्ददायक है। सत्यस्वरूप धर्म से जो भ्रष्ट हो जाते हैं वे ही अधर्म से अभिभूत होकर महासंकट में निपतित हो जाते हैं। संकट से मुक्ति हेतु सत्यस्वरूप धर्मावलम्बन ही एकमात्र उपाय है। इसके अतिरिक्त अन्य उपाय नहीं है। जो सत्य का पालन करते हैं, एकमात्र वे ही उत्तम पदवी में आरोहण करते हैं। ऋग्वेद संहिता के अष्टम अष्टक के तृतीय अध्याय में कहते हैं कि पृथ्वी सत्य द्वारा ऊर्ध्व में अवस्थापित है। जिस शक्ति द्वारा पृथ्वी शून्य में अवस्थान करती है, वही है सत्यभूत धर्म। सत्य ही वह कारण है जिससे पृथ्वी शस्यादि का (अन्न-तृणादि का) प्रसव करती है।[3] सत्य ही धर्म का रूप है, यह ज्ञात हो गया, किन्तु सत्य कौन पदार्थ है, यह जानना होगा। इसे जाने बिना 'सत्य ही धर्म है' इस शास्त्रोपदेश की कोई कार्यकारिता नहीं रहेगी। जो सत् है, जो विद्यमान है, वही सत्य है। श्रुति-पाठ करने से ज्ञात होगा कि ब्रह्म ही सत् है। वे ही सत् हैं। ब्रह्म की सगुण तथा निर्गुण—दो अवस्था है। सगुण ब्रह्म ही जगत् है। भगवान् यास्क कहते हैं कि मध्य में विशुद्ध सत्व है। दोनों पार्श्वों में रजः तथा तमः। सगुण रूप जगदात्मा में विवर्तित ब्रह्म का यही स्वरूप है। जो चिन्ताशील विद्वान् स्पेन्सर की शक्ति सातत्यतत्व की व्याख्या सुन चुके हैं, वे अनायास ही जान सकेंगे कि स्पेन्सर की शक्ति सातत्य की व्याख्या में कियदंश में इसी प्रकार की बात कही गयी है।

रजः तथा तमः यथाक्रम से आकर्षण तथा विकर्षण शक्ति है (रजः=आकर्षण, तमः=विप्रकर्षण)। विद्वान् स्पेन्सर कहते हैं कि अन्योन्यमिथुन वृत्तिक आकर्षण-विप्रकर्षण के कारण क्षुद्र, बृहत्, सर्वप्रकार के जागतिक परिणाम निर्दिष्ट ताल-लय में निष्पन्न होते हैं। उक्त अन्योन्यमिथुन वृत्तिक शक्तिद्वय के आविर्भाव-प्रादुर्भाव से ही सृष्टि तथा प्रलय परिणाम संगठित होते हैं। जब आकर्षण शक्ति का प्रादुर्भाव होता है,

---

1. "तत्र यत् सत्यं सधर्मो यो धर्म स प्रकाशः य प्रकाशस्यत् सुखामिति" —महाभारत
2. "तच्छ्रेयोरुपमत्यसृजतधर्मम्" —शतपथ ब्राह्मण
3. "ऋतस्य दृढा धरुणानि सन्ति पुरुणि चन्द्रा वपुषेवयुंषि" —ऋग्वेद संहिता

तथा "सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधिश्रितः" —ऋग्वेद संहिता

तब जगत् अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था में आगमन करता है तथा जब विप्रकर्षण शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, तब यह क्रमशः अव्यक्तावस्था में आने लगता है। पण्डित स्पेन्सर के इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि क्रियामात्र ही अन्योन्यवृत्तिक है। वह अन्योन्यामिथुनवृत्तिक तथा अनोन्याभिभववृत्तिक त्रिगुणात्मिका है। शास्त्र कहते हैं कि जो सत्य है, वही धर्म है, वही प्रकाश है। जो प्रकाश है, वही सुख है। धर्म ही उन्नति का मूल है। जगत् में जो धर्म है, जगत् जिस सत्य पर प्रतिष्ठित है, जगत् जिस नियम से नियामित है, जगत् को स्थित रहने के लिए उस धर्म का अनुवर्त्तन करना होगा। उस सत्य का आश्रय लेकर उसके नियमों का पालन करना ही होगा।

भौतिक जगत् आकर्षण-विप्रकर्षण धर्म पर प्रतिष्ठित है। परमाणुसमूह का यथानियम परस्परतः (आकृष्ट होकर) अणुसंघात हो रहा है। अणुसमूह परस्परतः सम्मूर्च्छित होकर एक-एक पिण्ड बन रहे हैं। ये पिण्ड परस्परतः संहत होकर एक-एक संस्थान बनते जा रहे हैं। उद्भिद् जगत् प्राणशक्ति नियामित आकर्षण-विप्रकर्षण धर्म में प्रतिष्ठित हो रहा है। अणु अथवा कोषसमूह परस्पर आणविक आकर्षण से समाकृष्ट होकर भिन्न-भिन्न अंगप्रत्यंग युक्त शरीर में परिणत हो रहे हैं। इस प्रकार अपनी सत्ता का संरक्षण तथा वंशविस्तार कर रहे हैं। कुछ समय के अनन्तर क्रमशः क्षीण होकर कालकवल में कवलित हो जा रहे हैं। भौतिक राज्य में आकर्षण-विकर्षण शक्ति की प्रतिद्वन्द्विता है। उद्भिद्राज्य में प्राणशक्ति तथा आणविकशक्ति की प्रतिद्वन्द्विता है। यह सब इस ग्रन्थ में पहले विवेचित किया गया है। उसे पुनः कहने का कोई प्रयोजन नहीं है।

मनुष्य विशिष्ट चेतन पदार्थ है। मनुष्य की देह भी अणु तथा कोष समष्टि है। मनुष्य-देह में चिच्छक्ति का विशेष विकास होता है। प्रकाशयुक्त सत्वगुण की प्रधानता के कारण मनुष्य में संयम अथवा निरोध शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। जब जगत् अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था में गमन करता है, तब आकर्षण शक्ति का प्रादुर्भाव क्रमशः होता है। यह शक्ति पारमाणविक, आणविक, सांस्थानिक इत्यादि कही जाती है। आकर्षण शक्ति के प्रभाव से परणामुसमूह अणुसमूह बनते हैं, अणुसमूह पिण्डाकार हो जाते हैं तथा यह भिन्न-भिन्न संस्थान रूप में परिणत होता है, तत्पश्चात् संस्थान एक-एक जाति में परिणत हो जाता है। जाति समाज का आकार लेती है और समाज एक-एक राज्य (State) के रूप में परिणत हो जाता है। एक मनुष्य-देह में ज्ञान, परिचालन तथा पोषण रूप त्रिविध कार्य की निष्पत्ति होती है। एक-एक मनुष्य तो समाज की एक यूनिट है, एकक है, मनुष्य समाज का घटकावयव है। तब मनुष्य समाज शरीर से भी ज्ञान-परिचालन तथा पोषण रूप कार्यत्रय निष्पन्न होता है।

यन्त्र के अभाव में शक्ति क्रिया नहीं करती। इसी प्रकार जैसे एक मनुष्य के शरीर में स्नायव-पेशी संस्थान तथा पोषण संयन्त्र समूह है, मनुष्य समाज में भी उसी प्रकार से स्नायव पेशी संस्थान और पोषणयन्त्र समूह रहना चाहिए। इनके बिना मनुष्य

समाजरूपी देह की ज्ञानादि प्रक्रिया सम्भव नहीं हो सकती। एक मनुष्य देह का प्रत्येक यन्त्र जिस प्रकार इतरेतराश्रयी है, मनुष्य समाजदेह का प्रत्येक यन्त्र उसी प्रकार अन्योन्याश्रयी है। एक का भी अभाव होने से कार्य नहीं होता।

धर्म तथा प्राकृतिक नियम एक हैं। इनका अनुवर्त्तन करने से उन्नति तथा सुख- प्राप्ति होती है। मनुष्य ज्ञानानुशीलन करे, प्रकृतितत्व की पर्यालोचना करे, प्राकृतिक नियमों से अवगत हो जाये, धृति-क्षमा-दम-अस्तेय धी-विद्या-सत्य-सहानुभूति-भक्ति-प्रेम इत्यादि धर्मयुक्त हो जाये, मनुष्य प्रकृति का यही नियम है, यही धर्म है। धर्म से जो प्रक्रिया विरोधी न हो, उसके अनुसार मनुष्य कृषि-वाणिज्य द्वारा अर्थसंग्रह करे, मानव के लिए यही नियम है। मानवगण परस्परतः मिलित हों, परस्परतः संगत रहें, विरोध का त्याग करके परस्पर एक प्रकार का व्यवहार करें। सब समानमन्त्र, समानप्राप्ति, समानमनस्क (एक प्रकार का अन्तःकरण), समान चित्त (एक प्रकार के विचारज ज्ञानयुक्त), होकर परस्परतः एकार्थ में एकीभूत हो जायें। समान संकल्प, समान हृदय हो जायें। यही है प्राकृतिक नियम तथा धर्म। जो इन प्राकृतिक नियमों का पालन करते हैं, स्वधर्म का अनुष्ठान करें, इसके द्वारा उनकी उन्नति होगी, वे सुखी होंगे।[1] जिस प्रकार से जागतिक उन्नति होती है, वेदमुख से वह सुना। पारमार्थिक उन्नतिविधायक कर्ममार्ग का किंचित् परिचय पहले दिया जा चुका है। अब ज्ञातव्य है कि समान आकांक्षा के साथ क्या उन्नति का कोई सम्बन्ध है अथवा नहीं तथा हमें जो सम्मान की इच्छा होती है, हम जो गुरु (शीर्षस्थ) होने की इच्छा करते हैं, हम लघु (सामान्य) नहीं होना चाहते, अपमान सहन नहीं करना चाहते, उसका कारण क्या है?

पहले ही कहा गया है कि 'हमारे समान नहीं' इस ज्ञान का नाम है मान। 'हमारे समान न हो' यही आकांक्षा है सम्मान की इच्छा। संसार की कोई भी अवस्था, कोई भी भाव सम्पूर्ण अथवा पर्याप्त नहीं है, Absolute नहीं है। जो परिच्छिन्न है, वह कभी भी पूर्ण नहीं हो सकता। जिसका प्रतियोगी है, जिसका विरोधी पदार्थान्तर है, जिसका द्वितीय कोई है, वह परिच्छिन्न है। जो देशतः-कालतः-वस्तुतः परिच्छिन्न नहीं है, वही है अपरिच्छिन्न। परिच्छिन्नावस्था बाधितावस्था है। कोई भी आत्मा की बाधितावस्था नहीं देखना चाहता। मानव इस बाधितावस्था को त्यागकर अबाधितावस्था में उपनीत होने की चेष्टा करता है। बाधितावस्था से ऊर्ध्व में गमन की अभिलाषा करता है। ऊर्ध्वगति का नाम ही है उन्नति। अतएव सम्मान की आकांक्षा से उन्नति का घनिष्ठ सम्बन्ध है, अथवा सम्मान की आकांक्षा तथा उन्नति की आकांक्षा एक ही स्थिति है।

---

1. "सङ्गच्छध्वं संवदध्वं संवो मनांसि जानताम्... समानोमन्त्र समितिः समानं मनः सह चित्तमेषां। समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समाने नवी हविषाजुहोमि। समानीव आकृतिः समानाहृदयानि वः। समानमस्तु वो मनोयथावः सुसहासति॥" —ऋग्वेदसंहिता 8/8/49

महर्षि गौतम, भगवान् आत्रेय पुनर्वसु यहाँ तक की ऋषिमात्र ही मान को मनोविकार कहते हैं। महर्षि गौतम इसे मोह पक्ष के ही अन्तर्गत मानते हैं। भगवान् आत्रेय पुनर्वसु भी इसे रजः तमः रूप विकारद्वय का मानसिक दोष बताते हैं। अतएव जिज्ञासा होती है कि जो मानसिक विकार है, उसकी आकांक्षा तथा उन्नति की आकांक्षा कैसे समान पदार्थ है? रोग की आकांक्षा किसे होती है? क्या कोई रोग की आकांक्षा करता है? तृण से नीचा होना, वृक्ष के समान सहिष्णु होना, स्वयं निरभिमान होना, अन्य को सम्मान देना, सर्वदा श्रीहरि का नाम कीर्तन करना[1] इस नियम का, इस अमूल्योपदेश का अनुवर्त्तन करके जो भाग्यवान वैष्णव परमपद की प्राप्ति कर सके हैं, वे यह सुनकर क्या कहेंगे कि उन्नति की आकांक्षा तथा सम्मान की आकांक्षा समान पदार्थ है? "मेरे समान कोई न हो" ऐसी आकांक्षा क्या हिंसा, द्वेष, मात्सर्य, असूया (गुण में दोषारोप), अकृतज्ञता प्रभृति निकृष्ट वृत्तिसमूह की प्रसवत्री नहीं है? मेरे समान कोई न हो, क्या यह आकांक्षा प्रेम प्रवाह की प्रतिबन्धिका नहीं है? क्या यह भक्ति की परिपन्थिनी, विपरीत नहीं है? जो सर्वभूत में स्वयं को तथा सर्वभूत को स्वयं में देखते हैं, वे कभी भी घृणा नहीं करते, उन्हें शोकानल में दग्ध नहीं होना होगा। मोह उनका स्पर्श भी नहीं कर सकता। वे आत्मदर्शन प्राप्त करते हैं। कृतकृत्य होते हैं। इस श्रुत्युपदेश के साथ क्या 'मेरे समान कोई न हो' इस वाक्य का विरोध अग्नि-जलवत्, दिवस-रजनी, छाया-आतप के समान नहीं है?

हम जिस अवस्था में अवस्थान करते हैं, यदि वह हमारी पूर्ण अवस्था होती, तब हम उस अवस्था में प्रशान्तभाव से अवस्थान करते, उस अवस्था का त्याग करके अन्य अवस्था की आकांक्षा न करते। हम जब निरन्तर एक अवस्था का त्याग करके अवस्थान्तर में जाते हैं, तब यह स्थान परिवृत्ति अथवा रूपान्तर प्राप्ति कर्म का रूप है। अतएव जब तक हमको कर्म करना होगा, तब तक रजः तथा तमः इन गुणद्वय के साथ हमारा सम्बन्ध रहेगा। ऊर्ध्वगमन भी कर्मविशेष है। कर्ममात्र ही जब त्रिगुण परिणाम है, तब ऊर्ध्वगमन भी त्रिगुण परिणाम है। अहंकारशून्य हो जाने पर कर्म नहीं होता। अहंकार के बिना उन्नति नहीं होती। अहंकारशून्य होते ही जागतिक अस्तित्व ही विलुप्त हो जाता है। 'सम्मान की आकांक्षा के बिना उन्नति नहीं हो सकती', यह बात युक्तिविरुद्ध नहीं है। अहंकार तो परिच्छिन्न प्रकृति का कार्य है। प्रकृति के परिच्छेद की भिन्नता के अनुसार अहंकार का भेद हो जाता है। गुणत्रय का वैषम्य ही प्रकृति परिच्छेद की भिन्नता का कारण है।

जड़ में भी अहं है। प्रत्येक परिच्छिन्न पदार्थ की आपेक्षिक साम्यावस्था ही उसका अहं है। सांख्य ने कहा है कि तामस अहंकार से भूत तथा भौतिक पदार्थसमूह उत्पन्न होता है। सांख्य ने अहंकार को सात्विक-राजस तथा तामस रूप से त्रिधा

1. "तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः॥" —श्री श्री चैतन्य चरितामृत

विभक्त भी किया है। श्रुति, योगवाशिष्ठ इत्यादि का अध्ययन करने से भी त्रिविध अहंकार का संवाद प्राप्त हो जाता है। महोपनिषद् में कहते हैं कि 'मैं ही अखिल विश्व हूँ, मेरे समान द्वितीय वस्त्वस्तर नहीं है।' इस प्रकार का ज्ञान है परमा अहंकृति। 'मैं सर्वपदार्थ से अतिरिक्त हूँ, मैं सूक्ष्म-सूक्ष्म केशाग्र से भी सूक्ष्मतर हूँ' यह संवित् है द्वितीया अहंकृति तथा जिस अहंकृति से पाणि-पादादि (शरीर) मात्र को अहं (मैं) कहा जाये, वह है तृतीय प्रकार की अहंकृति।

प्रथम तथा द्वितीय अहंकृति को श्रुति ने शुभा कहा है। जीवन्मुक्त में भी ये दोनों अहंकार रहते हैं। ये हैं अलौकिक अहंकृति। तृतीय प्रकार की अहंकृति लौकिकी-दुःखदायिनी है। इसलिए यत्नपूर्वक परित्याज्य है।[1] जिनका अहंज्ञान प्रसारित है, जो द्वैतबुद्धि का त्याग करके अद्वैत ज्ञानलाभार्थ सदा चेष्टारत हैं, जो अपने में सर्वभूत को तथा सर्वभूतों में स्वयं का अनुभव करते हैं, वे भी यह आकांक्षा करते हैं कि 'मेरे समान द्वितीय न हो'। स्वयं को सर्वपदार्थ व्यक्तिरिक्त तथा सर्वपदार्थ से सूक्ष्म अथवा अणुतर मानते हैं, अर्थात् जो स्वयं को तृण से भी सुनीच मानते हैं, वृक्ष के समान सहिष्णु होकर अन्य को सम्मान देने के इच्छुक रहते हैं, उनमें भी यह आकांक्षा रहती है 'मेरे समान कोई न हो'। दूसरी ओर ऐसे लोग जो देह से अतिरिक्त किसी पदार्थ के अस्तित्व को सहन नहीं कर सकते जो 'मैं' से देह को ही जानते हैं, अन्य कुछ को नहीं मानते, उसकी भी यही आकांक्षा है कि 'मेरे समान कोई न हो'। ऐसे लोग गरल-मुखी हैं। इन्हें निकृष्ट मनोवृत्ति की प्रसवित्री, प्रेमप्रवाह की प्रतिबन्धिका भक्ति की परिपन्थिनी क्षुद्र आकांक्षा से परिवृत्त मानना चाहिए। परिच्छेद के घनत्व के कारण अहंकार की संकीर्णता होती है। तमोगुणाधिक्य ही परिच्छेद के घनत्व में वृद्धि करता है। अहं एक ही है, दो नहीं है। माया अथवा प्रकृति के परिच्छिन्न अनन्त प्रदेशसमूह में प्रतिबिम्बित एक अहं ही अनन्तरूपेण प्रतिभात होता है।

स्वभाव का अपाय कभी भी नहीं होता। ''मेरे समान द्वितीय नहीं है'' यह ज्ञान ही जीव का अविकृत स्वाभाविक ज्ञान है। जड़, चेतन, स्थावर जंगम सभी इस स्वाभाविक ज्ञान की श्रेणी से 'मेरे समान द्वितीय न रहे' यह कामना करते रहते हैं। यह आकांक्षा विमल है, किन्तु उपाधि की मलिनता के कारण यह भिन्न-भिन्न फल-प्रसव

---

1. ''अहं सर्वमिदं विश्वं परमात्माऽहमच्युतः।
नान्यदस्तीति संवित्या परमा स्यात् अहंकृतिः॥
सर्वस्यात् व्यतिरिक्तोहं बालाग्रादप्यहं तनुः।
इति या संविदो ब्रह्मन् द्वितीयाऽहंकृतिः शुभा॥
मोक्षार्यैषा न बन्धाय जीवन्मुक्तस्य विद्यते।
पाणिपादादि मात्रोऽयमहमित्येषनिश्चयः।
अहङ्कारस्त्वतीयोह सौ लौकिकस्तुच्छ एव सः।
प्रथमौ द्वावहङ्कारावङ्गीकृत्यत्वलौकिकी।
तृतीयाऽहंकृतिस्त्यज्या लौकिकी दुःखदायिनी'' —महोपनिषत्

करती है। अब यह मलिनता के कारण अन्यरूप धारण करती है, जैसे 'हमारे इस देहादि परिच्छिन्न अहं के समान दूसरा कोई न हो'। यह विशुद्ध तथा प्रकृत आकांक्षा नहीं है। प्रतिभाभेद के कारण एक ही उपदेश भिन्नवत् प्रतीत होता है। अखण्डैकरस परमात्मा का यह उपदेश कि 'मैं अद्वितीय हूँ, मेरे समान कोई नहीं है' व्यक्तिभेद के कारण भिन्न-भिन्न रूप से गृहीत होता है। इसलिए सम्मान की इच्छा तथा उन्नति की इच्छा एक ही स्थिति है।

प्राकृतिक पदार्थ मात्र ही स्थितिस्थापक है। प्राकृतिक पदार्थ मात्र ही स्व-स्व आपेक्षिक साम्यावस्था में स्थितिरूप से अवस्थित रहना चाहता है। वह कभी भी अपने आपेक्षिक साम्यभाव से प्रच्युति सह्य नहीं कर सकता। तब भी स्थिति की व्यापकता के तारतम्य से स्थितिस्थापक धर्म में प्रकारभेद हो जाता है। जिनका अहं जिस परिमाण में व्यापक है, उसका विरोधी उससे परिमाण में अल्प है। स्थितिस्थापक धर्म ही गुरुत्व का कारण है। सभी अपनी स्थिति का स्थापन करने के लिए स्वभावत: अभिलाषी रहते हैं। सभी इसी कारण गुरु होना चाहते हैं। किन्तु जिनकी स्थिति सर्वव्यापिका है तथा किसी के द्वारा बाधित नहीं है, जिनका सर्वपदार्थ में समान आकर्षण है, जो किसी का भी विप्रकर्षण नहीं करते, वे गुरुत्वविहीन होते हैं। गुरुत्व आपेक्षिक धर्म है। जिनकी शक्ति अपरिच्छिन्न है, उनके लिए मान-अपमान समान है। यह स्पष्ट हो जाता है, शक्ति की पूर्णता ही अपमान सहने का अधिकार देती है। परिच्छिन्न शक्तियुक्त व्यक्ति अपमान सहन नहीं कर सकता। भगवान् मनु कहते हैं कि ब्राह्मण सम्मान को विष समझते हैं। सम्मान से प्रीति नहीं करते। उनके लिए मान-अपमान समान है। वे अपमान को अमृत मानकर उसकी ही आकांक्षा करते रहते हैं। अर्थात् किसी के सम्मान से ब्राह्मण प्रसन्न नहीं होते, अपमान होने पर दु:ख नहीं करते। उनके लिए मान-अपमान समान है। अब प्रश्न होता है कि ''गुरु होने की इच्छा किसे नहीं होती?''

उत्तर—ब्राह्मण की। जो वस्तुत: गुरु है ही। तब उसकी गुरु बनने की इच्छा क्यों होगी? जो अप्राप्त है, उसे पाने की इच्छा होती है। जो प्राप्त है उसकी इच्छा क्यों होगी?

प्रश्न—मान का भिखारी कौन नहीं है?

उत्तर—ब्राह्मण। जो यह जानता है कि मैं ही विश्वजगत् हूँ। जो यह जानते हैं कि मेरे समान अन्य नहीं है, मैं अणु से भी अणुतर हूँ, उनकी सम्मान हेतु इच्छा क्यों होगी?

प्रश्न—सम्मान की आकांक्षा के बिना क्या उन्नति होगी?

उत्तर—ना। जो वैसे ही उन्नत है, उनको सम्मान की आकांक्षा क्यों होगी?

प्रश्न—क्या शक्ति रहते कोई अपमान सहन करता है?

उत्तर—ब्राह्मण सहन कर लेता है।

प्रश्न—अपमान-सहन योग्यता क्या है, क्या यह योग्यतारहित कापुरुष का लक्षण तो नहीं है?

उत्तर—योग्यता क्या योग्यताविहीन के पास रहेगी? जो अपमान सहन करने की योग्यता रखते हैं, वे योग्यताविहीन क्यों होंगे? जो मान चाहते हैं, यदि वे अपमान सहन करते हैं, तो बाधित होकर सहते हैं, दुःख के साथ सहते हैं। स्वेच्छा से नहीं सहते। परिच्छिन्न पदार्थ जितना भी कमजोर क्यों न हो, आघात पाने पर प्रतिघात करेगा ही। उसके प्रतिघात से आघातकारी की विशेष कोई क्षति नहीं होगी। तथापि वह प्रतिघात मात्र से क्षान्त नहीं हो जाता। वह तो इच्छा करता है कि मैं आघातकारी को पराजित करूँ, लेकिन पराजित नहीं कर पाता। अन्त में निरस्त हो जाता है। ब्राह्मण शक्ति रहने पर भी अपमान सहन कर लेते हैं। इसका कारण क्या है? ब्राह्मण सत्वगुण प्रधान हैं। ब्राह्मण स्वयं को सर्वभूत में तथा सर्वभूत को स्वयं में देखते हैं। इसलिए वे शक्तियुक्त होकर भी अपमान सहन कर लेते हैं।

प्रश्न—तब क्या सभी अपमान सहन कर सकते हैं? कापुरुष बनना पड़ेगा? सर्वजन पददलित होना है?

उत्तर—सभी ऐसा क्यों कर पायेंगे? सब उसके लिए समर्थ क्यों होंगे? परिच्छिन्न प्रकृति, रागद्वेषग प्रकृति वह करती, लेकिन उसे अधिकार क्यों दिया जाये। शक्ति रहते अपमान सहने की योग्यता, अनेक साधन द्वारा अभिव्यक्त होती है।

यहाँ हमने ब्राह्मण शब्द से यज्ञोपवीतधारी पुरुषवर्ग को लक्ष्य नहीं किया है। शास्त्रोक्त लक्षणयुक्त ब्राह्मण को, अकामहत, अपापविद्ध, वेदज्ञ ब्राह्मण को लक्ष्य किया है। भगवान् मनु कहते हैं कि ब्राह्मण सम्मान को विष मानते हैं। ब्राह्मण शब्द से यहाँ जिनको लक्ष्य किया गया है, वह भगवान् मनु द्वारा संकेतित ब्राह्मण हैं।

क्या ब्राह्मणमात्र मनु के उपदेश का पालन करते हैं? पुराणेतिहास का पाठ करने से क्रोधमूर्ति दुर्वासादि मुनिगण की जीवनी स्मरण करने से क्या यह प्रमाणित नहीं हो जाता कि ब्राह्मण मात्र मनु के उपदेश का पालन नहीं करते। वर्णविवेक में इनका उत्तर प्राप्त होगा।

●

परिच्छिन्न प्रकृतित्व की व्याख्या
तथा
उपसंहार

इस ग्रन्थ का नाम है मानवतत्व तथा वर्णविवेक (Anthropology)। वर्णविवेक मानवतत्व के ही अन्तर्भूत है, वह स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। मानव का तत्वानुसन्धान करने के लिए उद्यत होने पर वर्णभेद का स्वरूपनिर्णय आवश्यक है। विशेष-विशेष रूप से उपलभ्यमान भावसमूह में सामान्य भाव का आविष्कार करने से विज्ञान का उदय होता है। जो इस बात पर विश्वास करते हैं, वे जातिशः गणिकारण (Classification) को विज्ञान का प्रधान साधन स्वीकार करेंगे, यह निःसन्दिग्ध है। भगवान् गौतम कहते हैं—जो समानबुद्धि प्रसवात्मिका, अनुवृत्त (Identity) प्रत्यय का हेतु है, भिन्नाधिकरण पदार्थों को जिसके द्वारा एक श्रेणी भुक्त किया जाता है, वह जाति है—यथा "समान प्रसवात्मिका जातिः" (न्यायदर्शन, 2/2/1)

इसलिए जातिनिर्वाचन से ही विज्ञान का जन्म होता है। जातिशः गणीकरण ही विज्ञान का साधन है, जो न्यायसंगत है। विद्वान् जेवन्स (W.S. Jevons) इसी मत का प्रतिपादन करते हैं।[1] वर्णविवेक तथा जातिनिर्वाचन भिन्न पदार्थ नहीं है। ब्राह्मण-मनुष्य-जीव तथा सत्ता, इन चतुष्टय का अर्थचिन्तन करने से विदित होगा कि पर-पर शब्द पूर्व-पूर्व शब्द का व्यापक है। पूर्व-पूर्व शब्द बोध्य अर्थ पर-पर शब्दबोध्य अर्थ से अल्प है, अल्पदेशवृत्ति है। इसी कारण सामान्य को परसामान्य तथा अपरसामान्य (Genus and Spicies) रूप भागद्वय में विभक्त किया गया है। मनुष्य शब्द बोध्य अर्थ, ब्राह्मण शब्द बोध्य अर्थ से व्यापक है। ब्राह्मण पदार्थ मनुष्य पदार्थ के अन्तर्भूत है। जीवत्व तो मनुष्यत्व से व्यापक है। मनुष्यत्व जीवत्व के अन्तर्भूत है। जब जीवत्व कतिपय विशिष्टधर्म युक्त हो जाता है, तब वह कतिपय विशिष्ट धर्म में परिच्छिन्न होकर मनुष्यत्व प्राप्त करता है।

इस प्रकार से मनुष्यत्व के विशिष्ट धर्मवत्व के द्वारा जो परिच्छिन्नत्व है, वह है ब्राह्मणत्व। इसीलिए हम कहते हैं कि ब्राह्मणादि वर्णविवेक मानवतत्व के ही अन्तर्भूत

1. "Science, it was said at the outset, is the detection of identity and classification is the placing together, either in thought or inactual proximity of space, those objects between which identity has been detected. Accordingly, the value of classification is co-extensive with the value of science and reasoning."

—The Principle of Science, p. 673-674

है। यह स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। मानव का तत्वानुसन्धान करने के लिए वर्णभेद का स्वरूपनिर्णय आवश्यक होता है। वैदिक आर्यजाति की वर्णभेद व्यवस्था जिस प्रकार सुदृढ़ भित्ति पर प्रतिष्ठित है, जिस प्रकार की स्थितिस्थापिका तथा परिवर्तनशीला अथवा नवद्वेषिणी (Conservative) अन्य जातियों में है, यहाँ वैसी व्यवस्था नहीं है। मानवतत्व के साथ वर्णविवेक का जो घनिष्ठ सम्बन्ध है, आर्य जाति का यह मत उन लोगों को साधारणतः हृदयंगम नहीं होता। तब भी यहाँ यह कहना है कि सत्यसन्ध वैज्ञानिकों की दृष्टि में यह क्रमशः स्पष्टभाव से अवतीर्ण होगा कि मानवतत्व के साथ वर्णविवेक का सम्बन्ध घनिष्ठतर है।

नाम के साथ उसके अर्थ का नित्य सम्बन्ध है। पदार्थ सम्बन्ध को जो सामयिक (Conventional) कहते हैं उनको "नाम के साथ तद्बोध्य अर्थ का नित्य सम्बन्ध है" यह वाक्य हृदयग्राही नहीं लगेगा। साथ ही आधुनिक दार्शनिक जो यह कहते हैं कि "शब्दार्थसम्बन्ध सामयिक है" यह भी हमारे ज्ञान में है, तथापि वेदादिशास्त्र प्रकटित एक अतीव प्रयोजनीय सत्य के विज्ञानवृक्ष के मानव जीवन पोषक, ऋषिगण सेवित एक सुमधुर फल का नाम लिये बिना नहीं रहा जा रहा है। वेदपरायण, वेदपादाश्रित ऋषिगण इस फल का भक्षण करके अमरत्व-लाभ करते हैं। विज्ञान के पार दर्शन करते हैं। शब्दविज्ञान ही वास्तव में विज्ञान की सारतम सामग्री है।

भगवान् यास्क कहते हैं कि नाममात्र ही किसी न किसी भाव का वाचक है। भाव द्विविध है—सत्ता कार्यात्मक तथा कारणात्मक। कारणात्मक भाव नित्य है। कार्यात्मकभाव जन्म-स्थिति-वृद्धि-विपरिणाम-अपक्षय तथा नाश (अदर्शन) रूप से षड्विकारात्मक है। जो जन्म लेता है, वृद्धि तथा विपरिणाम को प्राप्त होता है, वह कार्यात्मभाव है। उपक्रम (Beginning) से अपवर्ग (End-Combletion) पर्यन्त मूर्त्ततत्व समूह को नाम कहते हैं।[1] प्रत्येक नाम ही एक-एक कार्यात्मभाव का विज्ञान है। मानव इस नामगर्भ में 'मानव' नाम वाच्य अर्थ भेद इतिहास तथा मानव पदबोध्य अर्थ का विज्ञान विद्यमान है। मानव जन्मादि षड्विकारयुक्त होने के कारण कार्यात्मभाव के अन्तर्गत है। इसीलिए हमने मानवतत्व की व्याख्या करते समय 'परिच्छिन्न प्रकृति' के स्वरूप प्रदर्शन की चेष्टा की है। अतः प्रकृति कौन पदार्थ है तथा परिच्छिन्न शब्द का क्या अर्थ है, यह बतलाकर 'परिच्छिन्न प्रकृतितत्व' शीर्षक का उपसंहार किया जायेगा।

'प्र' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु के उत्तर में 'क्ति' प्रत्यय अथवा कर्त्तृवाच्य 'क्तिच' प्रत्यय करके 'प्रकृति' शब्द निष्पन्न होता है। धातु के उत्तर में कर्तृभिन्न कारक अथवा भाववाच्य 'क्तिन्' प्रत्यय लगा है। 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु के उत्तर में 'क्तिन्' प्रत्यय करके सिद्ध प्रकृति शब्द है जिसके द्वारा जिससे अथवा जहाँ से कुछ कृत हो, इसका वाचक है प्रकृति शब्द।

1. "उपक्रमप्रभृत्यपवर्ग पर्यन्तं मूर्त सत्वभूतं सत्वनामभिः व्रज्यापक्तिरित्यदहति सत्वानामुपदेशः"

'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु के उत्तर में कर्त्तृवाच्य 'क्तिच्' प्रत्यय लगाने से सिद्ध प्रकृतिशब्द 'जो कुछ उत्पादन करे' इस अर्थ का वाचक है। सारस्वत व्याकरण का कथन है—जो प्रकृष्ट प्रकार से कार्य सम्पादन करे, वह है प्रकृति। वाचस्पति मिश्र स्वप्रणीत 'तत्वकौमुदी' ग्रन्थ में प्रकृति शब्द का यही अर्थ ग्रहण करते हैं।[1] विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि साक्षात् अथवा परम्पराभाव से प्रकृति ही पदार्थसमूह के प्रकृष्टरूप में परिणामसाधन करती है। इसीलिए उसे प्रकृति कहा है। प्रकृति, शक्ति, अजा, प्रधान, अव्यक्त, माया, अविद्या इत्यादि प्रकृति के पर्यायवाची हैं। वेद में प्रकृति के लिए अजा-माया-तमः इत्यादि शब्द प्रयुक्त हैं। भगवान् पाणिनिदेव कहते हैं कि जायमान की जो प्रकृति है, उसमें पंचमी विभक्ति होती है। यथा—

''जनिकर्त्तुः प्रकृतिः'' (पाणिनि, 1/4/30)

पतंजलिदेव, कैयट, वृत्तिकार जयादित्य, नागेशभट्ट प्रभृति सभी ने कहा है कि पाणिनिदेव ने यहाँ प्रकृति के शब्द से उपादान कारण को ही लक्ष्य किया है। उक्त पाणिनि सूत्र में व्यवहृत प्रकृति शब्द उपादान कारण वाची है। यही बात शारीरक सूत्रभाष्य द्वारा शंकरस्वामी ने भी कही है।[2]

महाभारत में कहते हैं कि जो व्यक्ति धर्माधर्म विकारसमूह को ही जान लेता है, परन्तु प्रकृति अथवा ब्रह्म को नहीं जानता, वह व्यक्ति मूढ़तावश 'प्रकृति से विश्व-जगत् सृष्टि होता है' इस सारतम वाक्य की तात्पर्योपलब्धि करने में अक्षम रह जाता है। क्योंकि उसकी बुद्धि स्तम्भित हो जाती है। जो पराप्रकृति को जानने में सक्षम हो जाते हैं तथा प्रकृति से ही सर्वपरिणाम संघटित होते हैं, यह जान लेते हैं, उनके लिए यह कथा सुखबोध्य हो जाती है। वे ही मर्मग्रहण में समर्थ हैं।[3]

श्रीमद्भागवत में भगवान् कहते हैं—प्रकृति, पुरुष तथा काल की त्रिमूर्त्ति मैं ही हूँ। ये मुझसे (ब्रह्म से) पृथक् पदार्थ नहीं हैं।[4] श्रीधर स्वामी इस भागवत श्लोक की टीका में कहते हैं कि प्रकृति अखण्डैकरस परब्रह्म की ही शक्ति है। पुरुष तथा काल उनकी ही अवस्था है। यही तथ्य विष्णुपुराण में भी अंकित है। विज्ञानभिक्षु योगवार्त्तिक में कहते हैं कि प्रधान-प्रकृति-परमाणु—ये सब समानार्थक हैं। भगवान्

---

1. ''प्रकरोतीति प्रकृतिः प्रधानं सत्वरजस्तसां साम्यावस्था'' —तत्वकौमुदी
2. ''प्रकृतिरुपादानकारणं ब्रह्म च मायाशबलंजगदुपादानकारणम्। वृत्तौहेतुपदमप्युपादानकारण-परमेवेति बोध्यम्।'' —शरदेन्दुशेखर

   ''जनिकर्त्तुः प्रकृतिरिति विशपस्मरणात् प्रकृति लक्षण एवापाद्येण द्रष्ट्रव्या'' —शारीरक भाष्य
3. ''विकारानेव यो वेदना वेद प्रकृति पराम्। तस्य स्तम्भो भवेद्बाल्यान्नचित्तस्तम्भोऽनुपश्यतः।''

   —महाभारत, शान्तिपर्व
4. श्रीमद्भागवत 11/24/29

   तथा योगवाशिष्ठ— ''नामरूपविनिर्मुक्तं यस्मिन् सन्तिष्ठते जगत्।
   तामाहुः प्रकृतिं केचिन्मायामेके परेत्वणुन्॥''

   तथा न्यायकुसुमांजलि, स्तबक 1, श्लोक सं० 20

वशिष्ठदेव भी कहते हैं कि नामरूप से विनिर्मुक्त जगत् जब तक अवस्थान करता है, उसे कोई प्रकृति, कोई माया, कोई परमाणु कहते हैं। उदयनाचार्य 'न्यायकुसुमांजलि' में कहते हैं कि परमेश्वर की अदृष्टरूपा सहकारी शक्ति माया, प्रकृति, अविद्या आदि नाम से कही जाती है।

ऋग्वेदसंहिता में कहा है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध यह तमोगुण प्रधान विषयसमूह जो इन्द्रियों द्वारा गृहीत होता है, सब प्रकृति का ही विकार है। वे सत्वगुण प्रधान प्रकृति के ही कार्य हैं। अतः इन्द्रियाँ भी स्त्री हैं। ये भी जड़ हैं। अन्ध अथवा अविवेकी व्यक्तिगण इन्द्रियसमूह को ही प्राण अथवा पुरुष कहते हैं। जिनको प्रज्ञानेत्र प्राप्त नहीं है, वे बाह्य नेत्रों के रहते भी अन्ध हैं। तथ्यदर्शन में असमर्थ हैं। जो पुत्र कवि, क्रान्तदर्शी—प्रज्ञाचक्षुष्मान् हैं, जो यह जानते हैं कि इन्द्रियाँ प्रकृति अथवा स्त्री हैं, अतएव जिस प्रकृति-पुरुष का स्वरूप यथायथभाव से अवगत हो रहा है, वह पिता (जीवात्मा) का पिता (परमात्मा) है। सर्वोपाधिविनिर्मुक्त होकर उसे कैवल्य मिलता है।[1] सत्व-रजः-तमः रूपी प्रकृति को ऋग्वेद ने माया कहा है। विश्वजगत् प्रकृति-पुरुष से ही सृष्ट है।

श्वेताश्वतर श्रुति का कथन है कि परमात्मा की आत्मभूता-परमात्मा से अभिन्न त्रिगुणात्मिका प्रकृति अथवा माया ही विश्वजगत् का कारण है। काल-स्वभाव तथा पंचभूतसमूह के परमेश्वर ही अधिष्ठाता हैं। वे ही इसके नियामक हैं। यह सब उनके ही निर्देश से चलते हैं और कार्य करते हैं।

कूर्मपुराणानुसार शंकरार्द्धस्वरूपिणी देवी हैमवती का स्वरूप क्या है ? ऋषियों ने भगवान् विष्णु से यह प्रश्न किया। भगवान् ने ऋषियों से कहा कि जो ज्ञानरूपाति-लालसा, जो चिन्मय ब्रह्म में नित्य अनुरक्ता, जो शिवहृदयबद्ध भावा हैं, जो माहेश्वरी शक्ति हैं, जो व्योमसंज्ञा हैं, जो पराकाष्ठा हैं, वे ही हैमवती हैं। ये शिवा, सर्वगता, अनन्ता, गुणातीता, अतिनिष्कला हैं। ये एका होकर भी अनेक विभागस्था हैं। यही एका माहेश्वरी शक्ति अनेकोपाधियोग से परावररूप से हरहृदय सन्निधान में सतत क्रीड़ारत हैं। ये ही प्रकृति-पुरुष रूप से माया एवं मायिभाव से भिन्न हो जाती हैं। शिवा एक हैं। अद्वितीया शक्ति तथा शिव एक ही अद्वितीय शक्तिमान् हैं। त्रिभुवन में जितनी भी शक्तियाँ हैं—शक्तिमान् हैं सभी शिवशक्ति से उद्भूत होते हैं। देवाधिदेव की विभूति जगत् में शक्ति कहलाती है।[2]

1. "स्त्रियः सतीस्ता उमे पुंसः आहुः पश्यदक्षण्वान्नाविचेतदन्धः।
कविर्यः पचः सईमा चिकेत यस्ता विजानात् स पितुष्पितासत्॥"

—ऋग्वेद संहिता, 2/3/17/1

2. "एका शक्तिः शिवैकोऽपि शक्तिमानुच्य तं शिवः।
शक्तयः शक्तिमन्तोऽन्ये सर्वशक्ति समुद्भवाः॥" —कूर्मपुराण, पूर्वभाग, अध्याय 12

योगवाशिष्ठ में कहते हैं कि शक्तिमान् से शक्ति का जो भेद है, वह वास्तविक नहीं है। योगवाशिष्ठ रामायण से ज्ञात होता है कि परिच्छिन्न तथा अपरिच्छिन्न सत्ता (Existence) ही शक्तिशब्द का अर्थ है, जो पदार्थमात्र की शक्ति है। शक्ति ही द्रव्यगुणादि (द्रव्य तथा गुण-त्रिगुण) नाम से अभिहित है। शक्ति ही आकाश है। देश है, काल, मनः, बुद्धि, कर्म, इन्द्रिय है। शक्ति ही प्राण है। सत्ता ही शक्ति है।

ऋग्वेदसंहिता में 'अदिति' शब्द से प्रकृति को ही लक्ष्य किया गया है। अदिति शब्द का मूल अर्थ है अखण्डनीया, अदीना (जो दीन नहीं है), अपरिच्छिन्ना। ऋग्वेद में कहा है कि अदिति ही द्योतनशील स्वर्ग है। अदिति ही अन्तरिक्ष है, वही माता, जगत् की जननी है। अदिति ही पिता उत्पादक है। अदिति पुत्र है। वही अखिल देवता है। वही पंचजन है। (ब्राह्मण-क्षत्रिय वैश्य-शूद्र तथा संकरवर्ण अथवा गन्धर्व, पितृ, देव, असुर तथा राक्षस) अधिक क्या कहें, जो उत्पन्न है, जो जनक है सभी अदिति है।[1]

पारमार्थिक दृष्टि से प्रकृति तथा पुरुष अभिन्न पदार्थ हैं। द्वैतदृष्टि से ये भिन्न-भिन्न पदार्थरूप से प्रतीत होते हैं। प्रोफेसर Ladd जड़ैकत्ववाद (Materialistic Monism), विज्ञानैकत्ववाद (Idealistic Monism) तथा द्वैतवाद (Dualism) इन त्रिविध वादों के रूप प्रदर्शनार्थ कहते हैं कि द्वैतवाद ही अभ्रान्तवाद है। द्वैतवाद परस्पर विरुद्ध दो पदार्थों की सत्ता को अंगीकार करता है। द्वैतवाद ही मानवक्रमाध्य चूड़ान्तवाद है। नरशरीर विज्ञान मूलक मनोविज्ञान (Physiological Psychology) अचिन्ता का कोई सूत्र अथवा आलम्बन नहीं प्रदान करता। यह सम्भव है कि कोई उच्चतर दृष्टि हमें इस द्वैतवाद के विश्लेषण अथवा सूक्ष्मीकरण में तथा आत्मा एवं देह (भूतभौतिक पदार्थ) की सामान्य भूमि का आविष्कार करने योग्य बनाये।[2]

प्रकृति कौन पदार्थ है, उसकी एकरूप चिन्तना की गयी। प्रकृति शक्ति, कारण ये सब एकार्थक हैं। अब यह देखना है कि परिच्छिन्न शब्द का क्या तात्पर्य है ? प्रकृति स्वभावतः अदिति-अखण्डनीया, अपरिच्छिन्ना है। प्रकृति स्वरूपतः सम्भवा है। महाभाष्यकार भगवान् पतंजलिदेव कहते हैं कि जिससे जो अपक्रमण करे, निर्गत अथवा प्रसूत हो, उसमें उसको देख न पाया जाये। किन्तु प्रकृति से निष्क्रान्त जगत्

1. "अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः। विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्" —ऋग्वेदसंहिता 1/15/

2. "The position just taken is, of course, the most unmistakable Dualism. It assumes two kinds of real beings for the two incomparable classes of phenomena. Whether this position is the ultimate one attainable by human reason or not, the facts of physiological psychology afford no basis for speculation. It is possible that some higher point of view might enable us to resolve the Dualism, and to discover a common ground for the body and soul of man, and even for all physical and spiritual phenomena."
—Elements of Physiological Psychology by G.T. Ladd, p. 656

प्रकृतिगर्भ से निष्क्रान्त होकर भी प्रकृति में ही स्थिर होता है, इसका कारण क्या है? पतंजलिदेव स्वयं ही इसका उत्तर देते हैं कि प्रकृति के सन्ततत्व, सर्वव्यापकत्व, परिच्छेदराहित्य के कारण ऐसा हो जाता है।[1]

सांख्य भी कहता है कि सर्वोपादान प्रकृति परिच्छिन्न नहीं होती। जो परिच्छिन्न है, उसका सर्वोपादानत्व सिद्ध कैसे होगा[2]? प्रकृति शब्द सर्वोपादानवाचक है, यह इससे सिद्ध हो गया। जो सर्वदेश तथा सर्वकाल में विद्यमान नहीं है, जो पदार्थान्तर का विरोधी है, प्रतियोगी है, जो 'सन्तत' इस पदबोध्य अर्थ के विपरीत है, वही हमारे द्वारा 'परिच्छिन्न प्रकृति' शब्द से लक्षित है। परिच्छिन्न प्रकृति प्रकृतिसम्बन्ध विरहित नहीं है। समुद्र से उत्पन्न, समुद्रवक्षोघृत तरंग समूह जिस प्रकार से समुद्र का परिच्छिन्नभाव है, उसी प्रकार जो पदार्थ हमारे इन्द्रिय ज्ञान के विषयीभूत हो जाते हैं, वे त्रिगुणात्मिका प्रकृति सागर से ही उत्थित हैं। वे इस सागर की भिन्न-भिन्न लहरें हैं।

परिच्छेद का कारण क्या है? प्रकृति साम्यावस्था से च्युत क्यों हो जाती है? विज्ञान इसका कोई उत्तर नहीं देता। वैज्ञानिक विद्वान् Tyndall कहते हैं कि विज्ञान विकार वस्तुजात की मध्यावस्था का ही अनेकांश में दर्शन कर पाता है, किन्तु इनके आद्यन्त का कोई समाचार नहीं जानता। कौन व्यक्ति अथवा कौन शक्ति सूर्य की सृष्टि करती है, इसके रश्मिसमूह को व्यपदिष्ट सामर्थ्य देती है, किसने परमाणुपुंज की सृष्टि की है, उन्हें विविध इतरेतर कार्यकारिणी आश्चर्यभूत शक्ति किसने दी है यह विज्ञान को ज्ञात नहीं है। इस रहस्य के भेदनार्थ विज्ञान ने हाथ तो फैलाया है, किन्तु उसका भेदन नहीं कर सका। यह दुर्भेद्य रहस्य है।[3]

वेद ने कहा है कि परमात्मा की माया की अनिर्वाच्य शक्ति ही पदार्थसमूह की परिच्छेद हेतु है। माया कौन पदार्थ है? मानार्थक 'मा' धातु के उत्तर 'य' प्रत्यय करने से मायापद निष्पन्न होता है। निघण्टु में 'मित' होता है, परिच्छिन्न होता है, पदार्थ समूह जिसके द्वारा, वह माया है।[4]

निरुक्त में माया शब्द को प्रज्ञा के अन्तर्गणित किया गया है। ऋग्वेद में प्रज्ञा-संकल्प अथवा सामर्थ्यार्थ में माया शब्द का अनेक प्रयोग देखा गया है। हम अनादिकर्म को ही परिच्छेद हेतु रूप ग्रहण करते हैं। अनादिकर्म ही परिच्छेद का कारण है।

अनादिकर्म यहाँ अनिश्चितार्थक (Vague) शब्द है। अनादि कर्म से क्या धारण की जायेगी? यही है परिच्छेद कारण। हमारे इस वाक्य को सुनकर अनेक यह

---

1. "अपक्रामन्ति तास्तेभ्यः। यद्यपक्रामन्ति, किं नात्यन्तायापक्रामान्तीय सन्ततत्वात्।" —महाभाष्य
2. "परिच्छिन्नं न सर्वोपादानम्" —सांख्यदर्शन 1/76
3. "Science does not know the mystry, though pushed back, remains unaltered." —Fragments of Science, Vol. II, p. 52
4. "मीयन्ते परिच्छिद्यन्तेऽनया पदार्थाः" —निघण्टुटीका

कहेंगे कि यह हम जानते हैं। अनादिकर्म अनिश्चितार्थक हो सकता है, किन्तु कर्म शब्द वैज्ञानिकों को अनिश्चितार्थक प्रतीयमान होता है। विज्ञान में कर्मशब्द का बहुशः व्यवहार होता है। ताप-तड़ित-आलोकादि विज्ञान के नयन में कर्म अथवा गति (Motion) पदार्थ हैं। अब यह देखना है, कर्म अथवा गति का स्वरूप क्या है, कर्म तथा गत्युत्पत्ति का कारण क्या है?

कर्म तथा गति (Motion) के स्वरूप-वर्णन में प्रवृत्त होकर Prof. Bayma कहते हैं द्रव्य स्वयं ही गति का कारण है। वह शक्ति (Power) द्वारा गति का उत्पादन करता है। शक्ति कौन पदार्थ है? जिसके द्वारा कारण कर्मनिष्पादन में क्षमवान् हो वही शक्ति है। द्रव्य के क्रियानिवर्त्तकत्व तथा कारणत्व को शक्ति पदार्थ कहा जाता है।[1] इन विद्वान् Bayma के मत से जड़वस्तु की दो शक्ति है—आकर्षण-विकर्षण। इनके अतिरिक्त अन्य कोई अदृष्ट अथवा सूक्ष्म कारण की मुखापेक्षा का कोई प्रयोजन नहीं है।[2] अदृष्ट अथवा सूक्ष्मकारण की मुखापेक्षा का जो प्रयोजन है, हम उसके प्रतिपादन की चेष्टा करते हैं। आपाततः गति के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों के मुख से एक-दो बातें और सुनने का प्रयोजन है।

गति अर्थात् आपेक्षिक स्थिति का परिवर्तन। अतः गति को विशुद्धसापेक्ष पदार्थ कहना होगा। किसी स्थिररूप कल्पित बिन्दु की अपेक्षा से एक जड़कण (Particle) के गतिभेद की अनुभूति हो जाती है। जिन सब क्रमबद्ध बिन्दु के मध्य से होकर एक जड़कण चला जाता है, वही उसका पथ-निर्माण करता है। यह पथ सरल-वक्र अथवा किसी भी मात्रा में अनियत हो सकता है। किसी जड़वस्तु की गति का निरूपण करने में वह किस प्रकार के पथ पर तथा किस वेग से जा रहा है, इसका निरूपण-अवधारण आवश्यक है। यदि कोई सचल वस्तु अविरत ऋजु रेखाक्रमेण एक ओर धावमान है, इससे उसकी गति को ऋजुरैखिक अथवा सरलगति कहते हैं। यदि नियतदिक् परिवर्तित है, तब उस गति को वक्रगति अथवा वक्ररैखिक कहा जाता है। गति की मात्रा को वेग (Velocity) कहते हैं। जो वस्तु एक घण्टे में एक कोस चलती है, उसका वेग एक घण्टे में एक कोस कहा जायेगा।

जड़ पदार्थ मात्र ही चेष्टारहित होता है, अन्य के द्वारा चालित किये बिना नहीं चलता। एक बार चालित किये जाने पर स्वयं स्थिर नहीं होता। जड़वस्तु किसी चेतन द्वारा चालित किये बिना नहीं चलती, यह तो प्रत्यक्ष है, किन्तु चालित होने पर स्वयं

---

1. "The cause of motion is the substances itself, which by exertion of power produce motion. The power is that by which the cause is able to act. It is activity and its causality."
—Molecular Mechanism by Bayma, p. 44
2. "Attractive and repulsive powers are the only powers of matter so that are need not look for any other occult agency."
—Molecular Mechanism by Bayma, p. 46

स्थिर नहीं हो सकता, यह आपात् दृष्टि से प्रत्यक्ष के विरुद्ध बोध होता है। क्योंकि किसी जड़ वस्तु को चला देने पर वह क्रमशः स्थिर हो जाती है। यह अनुमान से निश्चित किया गया है। सचल जड़ वस्तु जहाँ जितनी कम बाधा पाती है, वहाँ उतनी अधिक दूर चलती है। अनुमान किया जाता है कि यदि कोई प्रतिबन्धक न होता, तब एक बार चालित हो जाने पर जड़ वस्तु चिरकाल पर्यन्त चलती रहती। इसीलिए विद्वान् न्यूटन कहते हैं कि अन्य के बलप्रयोग के बिना जो जड़ बिन्दु स्थिर है, वह स्थिर ही रहेगा और जो जड़ बिन्दु चालित है वह ऋजुरेखा क्रम से चिरकाल तक समभावेन चलेगा। यह गति सम्बन्धित आद्य नियम है। इससे न्यूटन ने जड़धर्म (Inertion) की ही बात कही है।

यदि कोई निश्चल अथवा सचल जड़ बिन्दु के प्रति एक बार में एकाधिक बल प्रयुक्त हो तब यह सभी बल स्वतन्त्र-स्वतन्त्र रूप से प्रदत्त होने पर वे अपने-अपने अभिमुख जो कार्य करेंगे, समवेत होने पर भी उसी प्रकार कार्य करेंगे। एक जातीय द्रव्य का द्रव्यान्तर से संयुक्त होकर गुणान्तर प्राप्त होने पर जैसे कणमात्र भी विनष्ट नहीं होता, वैसे नानाविध बल एकत्र होने पर भी उनके कार्य में किंचित् भावान्तर भले ही हो, किन्तु कोई भी निष्फल नहीं होता। इसीलिए महामति न्यूटन कहते हैं कि "प्रयुक्त बल के साथ गति परिवर्तन समानुपातिक है तथा प्रयुक्त बल के अभिमुख ही गति का परिवर्तन होता है। यह गति विषयक दूसरा नियम है।

"क्रिया प्रतिक्रिया समान है किन्तु गति है प्रतिकूलाभिमुख"। दो द्रव्यों में परस्पर के प्रति जो कार्य होता है, उनका परिमाण समान है किन्तु दिक् (Direction) ठीक विपरीत है। यह गतिविषयक तीसरा नियम है।

गतिविषयक नियमों का चिन्तन करने से प्रतिपन्न होता है कि किसी बाह्यशक्ति के नोदन, अभिघात अथवा आपीड़न के बिना किसी जड़ वस्तु की गति प्रवर्तित नहीं हो सकती तथा उसका परिवर्तन भी संगठित नहीं हो सकता। जड़ वस्तु समूह गति प्रवृत्ति, गति निवृत्ति अथवा परिवृत्ति का मालिक नहीं है। विद्वान् न्यूटन के गतिविषयक प्रथम नियम से प्रमाणित होता है कि जड़ वस्तु की गतिप्रवृत्ति, गतिनिवृत्ति किंवा परिवृत्ति का कारण बाह्यशक्ति ही है। जिस शक्ति से यह कर्म निष्पादित होता है, विज्ञान ने उसे बल (Energy) कहा है। हमारा विश्वास है कि यह एनर्जी शब्द संस्कृत शब्द ऊर्जः से उत्पन्न है। जो द्रव्य की गति की अवस्था का परिवर्तन करे, उस पदार्थ को एनर्जी कहते हैं। एनर्जी के बिना अन्य किसी भी पदार्थ के द्वारा द्रव्य की गत्यावस्था का परिवर्तन नहीं हो सकता। गति का परिवर्तन किये बिना, यहाँ तक कि गति परिवर्तन प्रवृत्ति रहित होकर भी एनर्जी अवस्थित रह सकती है। चलिष्णु द्रव्य की क्रियमाणशक्ति निरर्गल भाव से उसकी गति का परिवर्तन नहीं कर सकती। जब चालिष्णु द्रव्य की गति परिवर्तित होती है तब निश्चय ही किसी प्रकार की शक्ति उसमें उसकी गति के परिवर्त्तनार्थ क्रिया करती है। प्रवृत्ति शक्ति निर्दिष्ट वस्तु में क्रिया करती

है, किन्तु प्रतिबन्धक कारण द्वारा वस्तु का चलन स्वातन्त्र्य बाधितं अथवा नियन्त्रित होने से वह उसका गति परिवर्तन नहीं कर पा रही है। ऐसे स्थल पर प्रवृत्ति शक्ति (Energy) वस्तु के गति परिवर्तन प्रवृत्ति का विधान मात्र करती रही है। प्रतिबन्धक कारण अपसारित होते ही उक्त वस्तु का गति परिवर्तन हो जाता है। ऐसा नहीं है कि यह गति परिवर्तन प्रवृत्ति केवल स्थिर वस्तु में ही विद्यमान है, यह किसी भी गतियुक्त वस्तु में भी विद्यमान रह सकता है। प्रवृत्ति शक्ति (Energy) की जिस क्रिया अथवा कर्म के कारण उसके द्रव्यसमूह में गत्यावस्था परिवर्तन की प्रवृत्ति उदित होती है, शक्ति का वह कर्म अथवा क्रिया ही फोर्स नामक पदार्थ है।[1]

प्रवृत्ति शक्ति किस प्रकार से फोर्स का प्रसव करती है? अध्यापक होलमन (Prof. Holman) कहते हैं कि जिस प्रक्रिया अथवा रीति से प्रवृत्तिशक्ति (Energy) फोर्स नाम लक्षित कर्म का प्रसव करती है, वह वास्तव में उसी के स्वभाव पर आश्रित है। फलतः प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा यहाँ तक इस विषय का अत्यल्प तत्व ही विदित हो सका है। वस्तुसमूह के संघट्टव्यापार (In the collison of bodies) से हम अवगत हैं। प्रवृत्तिशक्ति की क्रियमाण अथवा उदितावस्था परिवर्तित होती है और फोर्स की अभिव्यक्ति होती है। यह भी हमें ज्ञात है कि प्रवृत्तिशक्ति का यह परिवर्तन स्थितिस्थापक धर्मनिमित्तक है। स्थितिस्थापक शक्ति (Elastic Energy) ही दोनों वस्तु में फोर्स को प्रवर्तित करती है। इस शक्ति का सूक्ष्मरूप अथवा तत्व क्या है, उस सम्बन्ध में साक्षात् रूप से कुछ भी जाना नहीं जा सकता है। अनुमान ही इस शक्ति के तत्वनिरूपण का एकमात्र सहायक है। अध्यापक Holman क्रियमाण प्रवृत्तिशक्ति, मध्याकर्षण प्रवृत्तिशक्ति, ताप, स्थिति स्थापक प्रवृत्तिशक्ति, आणविक आकर्षण प्रवृत्तिशक्ति, रासायनिक प्रवृत्तिशक्ति, ताड़ित प्रवृत्तिशक्ति, चौम्बकाकर्षण प्रवृत्तिशक्ति तथा समन्तात् प्रसरणशील अथवा विकीर्यमाणा प्रवृत्तिशक्ति (Radient Energy) का अर्थात् सभासतः प्रवृत्तिशक्ति के इन सब रूपों का उल्लेख करते हैं। हमारा मत है कि यह सब एक रजःशक्ति के भिन्न-भिन्न परिच्छिन्न भाव हैं।

एनर्जी तथा फोर्स इन शब्दद्वय का व्यवहार असन्दिग्ध नहीं है। एनर्जी तथा फोर्स इन शब्दद्वय का वैज्ञानिकगण भिन्न-भिन्न अर्थ में व्यवहार करते हैं। इसलिए इनका स्वरूपनिर्णय दुःसाध्य व्यापार है। इन दोनों शब्दों का वैज्ञानिकों ने जिस प्रकार का मनमाना व्यवहार किया है, उससे यह कहा जा सकता है कि पाश्चात्य विज्ञान-राज्य में शब्द-प्रयोग के सम्बन्ध में कोई नियम नहीं चलता। शब्द के शुद्ध-अशुद्ध भाव में प्रयोग के साथ ज्ञान-अज्ञान का जो घनिष्ठ सम्बन्ध है, पाश्चात्य विद्वान् अनेक अवसर पर उसे भूल जाते हैं। 'भूत तथा शक्ति' नामक ग्रन्थ में हमने इस विषय की

1. "Force is that action of energy by which it produces tendency to change in state of motion of bodies."

—Force, Energy and Work, W.S. Holman, p. 41

विवेचना का निश्चय किया है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि शक्ति किस रूप में क्रिया करती है? एक भौतिक पदार्थ दूरवर्ती अन्य एक भौतिक पदार्थ के प्रति क्रिया करता है। उसका जो आकर्षण अथवा विकर्षण करता है, उसमें किसी भौतिक संयोजक आलम्बन का प्रयोजन है अथवा नहीं?

विद्वान् न्यूटन कहते हैं कि मध्याकर्षण भौतिक पदार्थनिष्ठ है। अनिमित्तिक अथवा सहजधर्म है। इस धर्म के कारण एक जड़वस्तु मध्यवर्त्ती किसी संयोजक आलम्बन के बिना दूरस्थित अन्य एक जड़वस्तु के ऊपर क्रिया कर सकती है। जो इस मत को मानते हैं, उनसे एकमत नहीं हुआ जा सकता। मध्याकर्षण निश्चय ही नियत निर्दिष्ट नियमानुसार क्रियाकारी शक्ति विशेष के द्वारा निवर्त्तित होता है। यह शक्ति भौतिक है अथवा अभौतिक है, इसकी अवधारणा पाठकगण के विचाराधीन किया जाता है। विद्वान् न्यूटन अन्यत्र अभिघात तथा आपीड़न का ही मध्याकर्षण के कारणरूप से अनुमान करते हैं। गणित के विद्वान् Eular कहते हैं कि मध्याकर्षण किसी चेतन पदार्थ का अथवा किसी सूक्ष्म अतीन्द्रिय शक्तिविशेष का कार्य है। अध्यापक चासीस (Prof Chassis) कहते हैं कि मैंने बहुत वर्ष पर्यन्त मध्याकर्षण के तत्व के आविष्कारार्थ समय व्यतीत करके अन्त में यह सिद्धान्त स्थिर किया कि जड़वस्तुसमूह का परस्परतः संयोगजनित आपीड़न ही इसका कारण है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं है।

मध्याकर्षण के तत्वनिरूपणार्थ प्रवृत्त होकर वैज्ञानिकों ने जो कुछ अनुमान किया है, उनमें से कोई भी अब तक सर्वसम्मत सिद्धान्त नहीं है। अध्यापक Tait तथा Stewart कहते हैं कि तैजस ईथर (Luminiferous Ether) सहित मध्याकर्षण के सम्बन्ध-स्थापन की चेष्टा पूर्णतः विफल हो गयी है। अनेक यह आशा करते हैं कि लॉर्ड कालविन के आवर्त्तवाद द्वारा काल में मध्याकर्षण की उपपत्ति होगी। द्रव्यसमूह के अन्योन्य अभिघात तथा आपीड़न से मध्याकर्षण की निष्पत्ति होती है, यही प्राचीन सिद्धान्त विद्वान् Tait द्वारा माना गया है। इसलिए हमको यह कहना है कि अनादिकर्म, सत्व-रजः-तमः यह शक्तित्रय, काल तथा ईश्वरेच्छा, इन सभी पदार्थों के अस्तित्व का अभ्युपगम करना होगा। वैज्ञानिक पण्डितों में से अनेक स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप से प्राचीन ऋषिगण के मत को शिरोधार्य कर रहे हैं। उसका प्रतिपादन करना दुःसाध्य नहीं है। तर्ककेशरी उदयनाचार्य ने अदृष्ट की स्थापना के लिए जो विचार किया है, उसे सुनकर यह प्रतिपन्न होगा कि अध्यापक Bayma का यह सिद्धान्त सत्य नहीं है कि "आकर्षण-विकर्षण शक्ति के व्यतीत अन्य किसी अदृष्ट अथवा सूक्ष्मशक्ति को स्वीकार करने का कोई प्रयोजन नहीं है"।[1]

1. "हेतुभूतिनिषेधेन स्वाणुपाख्यविधिर्न च। स्वभावर्णना नैवमवधेर्नियततत्वतः॥"

—न्यायकुसुमांजलि, प्रथम स्तबक, पंचम कारिका

इस कारिका का मर्म ग्रहण करने से अनेक संशय निवृत्त हो जायेंगे।

"जो कुछ भी हो, अनादि कर्म ही परिच्छेद का कारण है" हमारा विश्वास है कि इस शास्त्रीय सिद्धान्त का ही सत्यानुसन्धान निरत वैज्ञानिकों को अन्त में आश्रय लेना ही होगा। पण्डित Kant ने दिक् (Space), काल (Time), शक्ति अथवा कारण (Cause) इन तीन को परिच्छेद हेतु कहा है। अत्यल्प चिन्तन से उपलब्धि होगी कि खण्ड दिक् तथा काल गुणत्रय के ही परिणाम हैं। काल तथा कर्म भिन्न पदार्थ नहीं हैं।

सत्व-रजः तथा तमः इन गुणत्रय अथवा शक्तित्रय से ही विश्वजगत् का सर्वपरिणाम साधित होता है, यदि इसे स्वीकार करें तब ईश्वर नामक पदार्थ के अस्तित्व को स्वीकार करने का क्या प्रयोजन? तब तो अध्यापक Bayma के उस सिद्धान्त को स्वीकार तथा शिरोधार्य करना होगा जिसमें कहा गया है कि आकर्षण-विप्रकर्षण से भिन्न अन्य किसी अदृष्ट कारण (Occult Agency) की मुखापेक्षा का कोई प्रयोजन नहीं है। इस उपदेश में फिर क्या आपत्ति?

वेदान्त दर्शन ने ऐसे प्रश्नों के समाधानार्थ कहा है कि प्रकृति के गुणत्रय की साम्यावस्था की ईश्वर प्रेरणा के बिना अगांगीभाव से उत्पत्ति नहीं होती। ईश्वर प्रेरण के अभाव में प्रकृति स्वयं साम्यावस्था का त्याग करके विषमत्व को प्राप्त नहीं हो सकती। मैत्र्युपनिषत्[1] ने भी कहा है कि प्रकृति चिदात्मा द्वारा प्रेरित होकर विषमत्व को प्राप्त होती है। साम्यावस्था का परित्याग करके कार्योन्मुख होती है। प्रकृति को यदि नाना स्वभाव युक्त माना जाये, तभी इष्टसिद्धि हो सकेगी। जो कदाचित् होता है, कदाचित् नहीं होता, वह निश्चय ही किसी अन्य नियामक शक्ति के अधीन है। यह मानना होगा कि प्रकृति काल के अधीन होकर परिणामसाधन करती है। यदि इसे न माना जाये, तब विश्वजगत् में सदा सृष्टि ही होती। कभी प्रलयावस्था न आती। अथवा चिरप्रलय ही अवश्यम्भावी रहता। कभी सृष्टि न होती। यह सिद्धान्त बनाना पड़ेगा। प्रकृति काल की अपेक्षा करेगी, यह अंगीकार करना सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रकृति जड़ है। इसलिए ज्ञानशक्ति विरहित जड़ को कालज्ञान कैसे होगा? किस काल में यह करना, किस काल में नहीं करना, इसकी अवधारणा ज्ञानशक्ति रहित के द्वारा सम्भव ही नहीं है। इसलिए स्वीकार करना ही होगा कि प्रकृति से अतिरिक्त ईश्वर नामक पदार्थ है।

सत्व-रजः तमः गुणत्रय ईतरेतराश्रयी हैं। अतः आपेक्षिक हैं। इतरेतराश्रयी, अन्योन्याभिभववृत्तिक, सत्वादिशक्तित्रय में से कोई भी स्वतन्त्र नहीं है। जो परतन्त्र है, अन्योन्याश्रयी है, वह मूलकारण नहीं हो सकता। जब त्रिगुण आपेक्षिक है, तब यह मानना ही होगा कि कोई स्वतन्त्र, पूर्णसत्य इसके मूल में विद्यमान है। स्वाधीन का

1. "अङ्गींत्वानुपपत्तेश्च" —वेदान्तदर्शन 2/2/8
तथा
"तत्परे स्यात् तत्परेणेरितं विषमत्वंतयात् एतद्रूपं वै रजसः तद्रजः खल्वीरितं विषमत्वं प्रयात्येतद्वै सत्त्वस्यरूपां।" —मैत्र्युपनिषद्

अवलम्बन लिये बिना पराधीन रह ही नहीं सकता। विज्ञान किसी कार्य के आदि अन्त के तत्वानुसन्धानार्थ उतना मनोयोगी नहीं है। तभी ईश्वर को छोड़ देने से, अदृष्ट को न मानने से, कोई क्षति नहीं होती। विज्ञान 'क्यों यह है' इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए प्रस्तुत नहीं है। तभी इसकी गति अनेकत: निरर्गल भी है। जड़तत्व चिन्तकों में आत्मानुसन्धान नहीं है। परलोक के अस्तित्व में विश्वास नहीं है। तभी इनके विचार से प्रत्यक्षागम्य विषय से अतिरिक्त विषयों का तत्वानुसन्धान पशुश्रम है। जिज्ञासा करता हूँ—क्या इन्हें तृप्ति मिली?

प्रकृति कौन पदार्थ है, परिच्छिन्न शब्द का क्या तात्पर्य है, यथा प्रयोजन इन सबका चिन्तन किया गया। यह ज्ञात हुआ कि गुणत्रय की साम्यावस्था रूप उपादान कारण ही प्रकृति है। गुणत्रय के वैषम्य से ही प्रकृति के भिन्न-भिन्न परिच्छिन्न भाव का उदय होता है। ईश्वरेच्छा-काल-जीव का धर्माधर्म तथा अदृष्ट प्रकृति विक्षोभ का निमित्त कारण है। गुणत्रय के भागवैषम्य से ही विविध विचित्र भावविकार समूह की उत्पत्ति होती रहती है। भूत-भौतिक पदार्थ-भौतिकशक्ति-ग्रह-नक्षत्र-उद्भिद्-प्राणशक्ति-जीव-चित्त-विशिष्ट चेतनपदार्थ-देवगण प्रभृति भावविकार प्रकृति के अलग-अलग परिच्छेद हैं। इस प्रबन्ध में हमने इसी सत्य का किंचित् विवरण प्रदान करने का प्रयास किया है। विज्ञान इसी परिच्छिन्न तत्व का अनुसन्धान करता है। गुणत्रय के तारतम्य के कारण प्रकृति के अनन्त परिच्छेद हो गये हैं। भूतसमूह में जो आकाश आदि तत्व का 5 भेद हो गया है, गुणत्रय का भागभेद ही उसका कारण है। भूतसमूह तामस हैं, तमोगुण प्रधान है, किन्तु सभी भूतों में तमोगुण की मात्रा समान नहीं है। यह भी गुणत्रय के भागभेद से प्रभावित है। आधुनिक रसायनशास्त्र में मूलभूत रूप से घृत हाईड्रोजनादि पदार्थसमूह पंचभूत का ही अंकपाश है। ताप-तड़ित्-आलोक-चौम्बकाकर्षण, आणविक आकर्षण, मध्याकर्षण इत्यादि भौतिक शक्तिसमूह भी त्रिगुणविकार हैं। संकीर्ण चेतनपदार्थ, विशिष्ट चेतनपदार्थ इत्यादि भेद भी गुणत्रय के भागभेद के कारण हैं। सभी वस्तु सबको प्रिय नहीं होती। सबकी मानसिक-दैहिक प्रकृति एक जैसी नहीं होती। पूर्वकर्म तथा सूक्ष्म अथवा लिंगदेह में विद्यमान संस्कार ही उसका कारण है। संस्कारभेद से मानसिक दैहिक प्रकृति भेद है।

मानव का तत्वानुसन्धान करने में परिच्छिन्न प्रकृति का तत्वनिरूपण प्रयोज्य है। किन्तु जिज्ञासा है कि मानव तत्व व्याख्या में प्रवृत्त होकर हमने प्रारम्भ में ही जातिभेद विषयक वर्तमान आन्दोलन के कारणावधारण की चेष्टा क्यों की। मानवतत्व ग्रन्थ प्रणयन में जातिभेद विषयक वर्तमान आन्दोलन उद्दीपक कारण है। इसीलिए पहले उस आन्दोलन को लक्ष्य किया। ब्राह्मणादि जाति भेद को लेकर नवीन हिन्दू जाति में जो वादानुवाद है, उसका कारण जानते समय हमें लगा कि सम्मान की आकांक्षा जागतिक सुखलिप्सु, ऐश्वर्यलिप्सु मानव में स्वभावत: होती है। सांसारिक सुखैश्वर्य प्रसक्त चित्त मानव अपनी परिच्छिन्न प्रकृति की प्रेरणा से अपमान सहन करने में, अपने

को नीच अथवा अप्रधान नहीं मानना चाहता। प्रतिद्वन्द्विता तो अन्योन्यभिभव वृत्तिक त्रिगुण परिणाम इस संसार का सार्वभौम धर्म है। ब्राह्मणादि वर्णसमूह की इतरेतर प्रतिद्वन्द्विता ही नवीन हिन्दू जाति को वर्णभेद विषयक वादानुवाद हेतु उत्तेजित कर रही है। इस आन्दोलन के पीछे इसके अतिरिक्त कोई कारण नहीं है।

सत्य के आविष्कार की चेष्टा क्यों नहीं होती? हमने पहले से ही यह कथा कह दी है। जातिभेद का दो उद्देश्य हमें लक्ष्यीभूत हुआ है। प्रथमतः ब्राह्मणादि जातिभेद के मूल में कोई सत्य है, अथवा नहीं। केवल जन्मवशतः सामाजिक मर्यादा का तारतम्य होना उचित है अथवा नहीं, इसकी अवधारणा करना। द्वितीयतः जातिगत मर्यादा के अनुसार किस वर्ण को कौन-सा स्थान देना उचित है, इसका निश्चय करना। तब यहाँ अवश्य कहना है कि सत्यानुत्सन्धित्सा से प्रेरित होकर अल्प व्यक्ति ही जातिभेदविषयक आन्दोलन में योगदान कर रहे हैं।

नवीन हिन्दू जाति में जो जातिभेद को लेकर आन्दोलन है, उसका कारणनिर्देश करते समय, हमने जो कहा है, उसके द्वारा केवल ब्राह्मणादि जातिभेद विषयक आन्दोलन ही नहीं, समस्त प्रकार के आन्दोलन का साधारण कारण प्रदर्शित किया गया है। प्रतिद्वन्द्विता ही आन्दोलन का, विक्षोभ का कारण है। गुणत्रय अन्योन्याभिभव वृत्तिक हैं। इनकी प्रतिनियत एक-दूसरे को पराभव करने की चेष्टा से प्रकृति आन्दोलित होती है और इसी कारण प्रकृति में विक्षोभ हो जाता है। गुणत्रय का विक्षोभ तथा वैषम्य सृष्टि का कारण है। जब प्रतिद्वन्द्विता अन्योन्याभिभव वृत्तिक गुणत्रय का सार्वभौम धर्म है, तब ब्राह्मणादि वर्णों में जो प्रतिद्वन्द्विता है, वह विस्मयप्रद नहीं है। यह प्रतिद्वन्द्विता साम्यावस्था से च्युत प्रकृति का सार्वभौम धर्म है। तब प्रश्न होता है कि 'नवीन हिन्दू' इस पद का प्रयोग क्यों किया गया?

गुणत्रय केवल अन्योन्याभिभववृत्तिक ही नहीं है। वे अन्योन्याश्रयवृत्तिक, अन्योन्यमिथुनवृत्तिक तथा अन्योन्यजनन वृत्तिक भी हैं। गुणत्रय में कोई गुण अन्य गुण को छोड़कर नहीं रह सकता। ये एक-दूसरे की सहायता से प्रबल होते हैं। प्राचीन हिन्दू जाति को यह ज्ञात था। इसी कारण ब्राह्मणादि सभी वर्ण परस्पर मिलकर कार्य करते थे। कोई अयथाभाव से किसी अन्य के स्थानाधिकार की चेष्टा नहीं करता था। इसीलिए प्राचीन हिन्दू जाति में जातीय संग्राम नहीं था। हमने जो 'नवीन हिन्दू जाति' का प्रयोग किया है, उसका यही कारण है।

अब हम 6 सम्भावित प्रश्नों का उत्थापन करते हैं, जिनका यथायथ भाव से समाधान होने पर परिच्छिन्न प्रकृति का रूप विशदभाव से वर्णित होगा। इसी कारण यहाँ 6 प्रश्नों का उत्थापन किया जा रहा है।

परिच्छिन्न प्रकृति का स्वरूप-वर्णन करने पर प्रकृति के आद्यविकार महत्तत्व से लेकर पृथ्वी पर्यन्त प्रकृति के सभी पर्वों का तत्वानुसन्धान आवश्यक है। दृष्ट अथवा

स्थूल द्वारा अदृष्ट अथवा सूक्ष्म की सिद्धि होती है। अतएव प्रकृति के सूक्ष्म-सूक्ष्मतम-सूक्ष्मतर पूर्वसमूह का स्वरूपावधारण करने के पूर्व इसके स्थूल पर्वों का तत्वनिरूपण प्राथमिक कर्त्तव्य है। हम इसी कारण गुरुत्व कौन पदार्थ, इसे समझने की चेष्टा करेंगे। गुरुत्व के स्वरूपनिरूपण में प्रवृत्त होने का उद्देश्य है प्रकृति के इन्द्रियगम्य पर्व का, Matter इस पदबोध्य अर्थ का गुरुत्व (Weight) ही प्रधानगुण है। आकर्षण तत्व की विवेचना में गुरुत्व का साक्षात् होता है। रासायनिक तथा भौतिक गुणगत परिवर्तन तत्व से अवगत होने की चेष्टा करने पर पारमाणविक तथा आणविक गुरुत्व का रूप दृष्टिगोचर होता है। सांख्य ने विश्व के उपादान कारण सत्वादि गुणत्रय का स्वरूपदर्शन करते समय कहा है कि सत्वगुण का धर्म है हल्कापन, तमोगुण का धर्म है गुरुत्व। लौकिक जगत् में जहाँ भी दृष्टिपात करें, वहाँ परिलक्षित होता है कि इन दोनों को लेकर ही जगत् व्यवहार है। विज्ञान कहता है कि जिसका गुरुत्व है, जो मध्याकर्षण का क्रियास्पद है वह है Matter। जातिभेद आन्दोलन में भी इन दोनों की अवधारणा है। गुरुत्व का स्वरूपदर्शन करने के लिए उद्यत होने पर मध्याकर्षण का तथा मध्याकर्षण का रूपदर्शन करने के लिए प्रयत्नशील होने पर स्थितिस्थापक धर्म का तत्वदर्शन आवश्यक है। स्थितिस्थापक धर्म का स्वरूपावलोकन होने पर यह हृदयंगम होगा कि परिच्छिन्न प्रकृति पदार्थजात जिस कारण से अपमान नहीं सहन कर सकता, वह यह है कि वह आपेक्षिक साम्यावस्था में बाधा सहन कर सकने में असमर्थ है। जिस नियम से एक पत्थर पर आघात करने से वह प्रत्याघात करता है, उसी नियम से मनुष्य निन्दा सुनकर कुपित हो जाता है। जातिभेद विषयक आन्दोलन के मूल में यही नियम कार्य करता है। सुख-दुःख, स्वास्थ्य-अस्वास्थ्य का स्वरूपदर्शन करने से विदित होगा कि वहाँ उसी नियम का रूप परिलक्षित होता है। उसी नियम की प्रेरणा से लोग आत्मदोष, अपनी गलती स्वीकार नहीं कर सकते। इसी नियम से लोग अपनी-अपनी प्रतिभा का अनुवर्तन करते हैं।

गुरुत्व का स्वरूप निरीक्षण करने के उपरान्त मान पदार्थ की स्वरूप जिज्ञासा किये बिना नहीं रहा जाता। गुरुत्वबोध तथा मानबोध एक ही कारण से होता है। मान कौन-पदार्थ है, यह जानने के लिए प्रत्येक परिच्छिन्न पदार्थ का अहंज्ञान ही, आपेक्षिक साम्यावस्था का बोध ही है उसका मान। क्रिया द्वारा ही मान अवधारित होता है। किसी पदार्थ का माननिरूपण न कर सकने पर, उस पदार्थ से सम्बन्धित विशेषज्ञान प्राप्त नहीं होता। कर्म के मान से ही शक्ति का मान निश्चित होता है। बाधा का अतिक्रमण ही कर्म का रूप है। परिच्छिन्न प्रकृति ही बाधा करती है। जो बाधा देती है वह है संस्त्यान शक्ति (Resistence)। जो प्रेरक है वह प्रवृत्ति शक्ति (Motive Power) है। ताड़ित प्रवाह का माननिरूपण करने के लिए ताड़ित प्रवाहक शक्ति (Electromotive Force) को तत्प्रतिबन्धक संस्त्यान शक्ति द्वारा भाग देना होता है।

ताड़ित प्रवृत्ति शक्ति, ताड़ित प्रवाह संस्त्यान शक्ति

अतएव यह विदित हुआ कि मान कौन पदार्थ है, जानने के लिए प्रवृत्ति का स्वरूपदर्शन आवश्यक है। हम इसी कारण प्रवृत्ति के स्वरूप का चिन्तन करते हैं। कर्म द्वारा शक्ति का अनुमान होता है। मनुष्य जब वाचिक, कायिक तथा मानसिक व्यापार निष्पादन करता है, तब यह अनुमान साध्य हो जाता है कि त्रिविध व्यापार निष्पादिका शक्ति है। जड़विज्ञान आकर्षण तथा विप्रकर्षण शक्ति को सर्वप्रकार क्रिया का कारणरूप अवधारित करता है। महर्षि गौतम प्रवृत्ति के हेतु दोषसंज्ञक पदार्थ को राग-द्वेष तथा मोह इन तीन भाग में विभक्त करते हैं। इस प्रकार से उनके द्वारा प्रवृत्ति के हेतुक दोषसमूह का सुन्दर परिचय मिलता है। रागद्वेष मोह तथा मिथ्याज्ञानाधीन है। परिच्छिन्न प्रकृति ही मिथ्याज्ञान का कारण है।

जिससे जो व्यक्ति सुख पाता है, उसके प्रति उसका राग (Attraction) रहता है। जिससे दुःख पाता है, उसके प्रति वह द्वेषपूर्ण हो जाता है। इसलिए राग-द्वेष का स्वरूपनिर्णय करने में सुख-दुःख का भी स्वरूपनिर्णय अत्यावश्यक प्रतीत होता है। सुख-प्राप्ति तथा दुःख के परिहार के लिए सभी कर्म किये जाते हैं। सुख-दुःख का स्वरूप निरूपित होने का यही कारण है। तभी ज्ञात होगा कि हम मान क्यों चाहते हैं और अपमान से क्यों द्वेष करते हैं? शास्त्राध्ययन से विदित होगा कि आत्मा अथवा प्रकृति की अबाधित अवस्था सुख है तथा बाधितावस्था दुःख है। अतः सुख-दुःख का स्वरूपनिरूपण करने से पहले ज्ञातव्य है कि आत्मा कौन पदार्थ है।

शास्त्रों से ज्ञात होता है कि आत्मा पारमार्थिक तथा व्यावहारिक भेद से द्विविध है। यहाँ पहले आत्मा के पारमार्थिक रूप की विवेचना करके आत्मा के व्यावहारिक रूप का वर्णन किया जायेगा। हम साधारणतः आत्मा शब्द से जीवात्मा को ही लक्ष्य करते हैं।

परिच्छिन्न प्रकृतितत्व वर्णन तथा व्याख्या करने में, सुख-दुःख का स्वरूपदर्शन करने में प्रवृत्त होने पर 'सम्मान' कौन पदार्थ है इसका निर्णय किया गया। उन्नति तथा अवनति का तत्वावधारण करने में जीवात्मा का स्वरूपदर्शन आवश्यक है। अथच जीवात्मा का स्वरूपदर्शन करने के पूर्व लिंगशरीर का स्वरूपावलोकन भी कर्त्तव्य है।

शास्त्र ने जैसे स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर का पृथक् रूप से वर्णन किया है, वैसा वर्णन पाश्चात्य शरीर विज्ञानीगण ने नहीं किया है। स्थूलशरीर से सूक्ष्मशरीर का निष्क्रमण मरण है तथा प्रवेश जीवन है। पाश्चात्य शरीरविज्ञानी विद्वानों ने यह नहीं कहा। सूक्ष्मशरीर से संस्कारानुसार लिंगशरीर का परिणाम होता है, यह भी उन लोगों को स्वीकार्य नहीं है। शास्त्र ने स्थूल-सूक्ष्म-कारण त्रिविध उपाधि अथवा शरीर का संवाद दिया है। वेदान्तप्रसिद्ध पंचकोष तथा यह त्रिविध शरीर एक ही पदार्थ हैं। सत्वादि गुणत्रय के तारतम्य के अनुसार पंचकोष अथवा स्थूलादि त्रिविध शरीर का परिच्छेद हुआ है।

किसी कर्म का स्वरूपदर्शन करने में जिन-जिन यन्त्र तथा शक्ति द्वारा वह कर्म निष्पादित हुआ है, उनका वर्णन भी कर्त्तव्य है। हम इसलिए स्थूलशरीर से जो सब कर्म निष्पादित होता है, उसके स्वरूप का वर्णन करने के लिए स्थूलशरीर तथा तन्निष्ठ शक्तिसमूह का तत्वानुसन्धान करते हैं।

हमारे शरीर में जितने प्रकार की शक्ति कार्य करती है, उनकी समष्टि है जीवात्मा की शक्ति। हमारे शरीर में जितनी शक्तियाँ कार्य करती हैं, यदि वे अबाधित क्रिया कर सकें, तब हमें सुख होता है। यदि वे अबाधित क्रिया नहीं कर सकतीं तब हमें दुःख मिलता है। हमारे शरीर में पोषणशक्ति, प्राणशक्ति, परिचालन-शक्ति तथा ज्ञानशक्ति ये शक्तियाँ कार्य करती हैं। इनकी क्रिया करने के लिए जितने प्रकार के तथा जितने यन्त्रों की आवश्यकता है, वे सभी शरीर में विद्यमान हैं। मनुष्य की प्रकृति जानने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य कितने प्रकार के कार्य करता है। शरीर-धारण करने के लिए आहार का प्रयोजन है। इससे आत्मा की पोषणशक्ति अबाधित क्रिया करती है। पोषण तथा प्राण की बाधितावस्था दूर हो जाती है। अतः आहार से सुख मिलता है। व्यक्तिभेद से रुचिभेद होता है। धृतादिद्रव्य हमारी रसना में संवादी है तथा कुनाईन, चिरायता आदि विसंवादी हैं। यह विचार पहले हो चुका है। मधुरादि रस-भेद के आयुर्वेद ने जो कारण कहे हैं, उनकी भी विवेचना की गयी है। रसभेद का कारण प्रदर्शन करते हुए हमने गणित का भी सहारा लिया है। वहीं आयुर्वेद अंकपाश गणित प्रक्रिया का आश्रय लेकर रसभेदतत्व भी समझाया गया है। रसभेद का स्वरूपदर्शन करने पर हमें एक लाभ होता है। ऋषिगण ने क्यों पंचभूत निर्वाचन किया, हमने भी किंचित् आभास प्राप्त किया है।

ज्ञानशक्ति तथा परिचालन-शक्ति में क्रमशः स्नायुपेशी ही प्रधान यन्त्र है। इसी कारण इस ग्रन्थ में उनका संक्षिप्त विवरण दिया गया है। सभी शरीरयन्त्र (पाश्चात्य वैज्ञानिकों के मतानुसार) Cell नामक एककोषीय पदार्थ से उत्पन्न है। एक कारण से कैसे भिन्न-भिन्न कार्य की उत्पत्ति होती है, यह अनुसन्धेय है। इसी कारण इस ग्रन्थ में शरीरोत्पत्ति से सम्बन्धित शास्त्रमत एवं पाश्चात्य विज्ञान के मत का संग्रह किया है।

हमारे शरीर के कर्म बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक, दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं। इसीलिए इनकी भी विवेचना इस ग्रन्थ में की गयी है और संकल्प तथा संस्कार का भी वर्णन किया है। क्योंकि शास्त्र ने सभी कर्मों को संकल्पमूलक कहा है। जिस संकल्प के प्रभाव से ऋषियों ने बहुप्रजा सृष्टि की है, योगी इसी के प्रभाव से अणिमादि अष्ट ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं, जिस संकल्प से मृतक जीवित हो उठता है, व्याधिग्रस्त स्वास्थ्य-लाभ करता है, बद्ध मुक्त होता है, प्राण भी प्राणाराम को पाकर कृतकृत्य हो जाता है, भारत के इस दुर्दिन में भी अमोघ संकल्प से चिकित्सकों ने

असाध्य रोगग्रस्त को निरोग किया है, उसी संकल्पशक्ति को पाश्चात्यगण मानो नगण्य मानते हैं। प्राणन् व्यापार पर उनका प्रभुत्व ही नहीं है। हमने इस काल में भी ऐसे योगी देखे हैं जिनकी इच्छाशक्ति सर्व प्रकार के प्राणन व्यापार के ऊपर प्रभुत्व करने में पारग हैं। जिन्होंने अनिच्छाधीनरूपेण परिगणित पेशियों को भी इच्छाधीन कर लिया है। हमने इसीलिए संकल्प, संस्कार, सम्बन्ध में श्रुत्यादि शास्त्रों में जो उपदेश देखा है, उनका आभास इस ग्रन्थ में दे दिया है। पाश्चात्य विद्वानों ने शरीर तथा मन का जो परिचय दिया है, वह समीचीन नहीं है। भगवान् वेदव्यास कहते हैं कि जो योगी हैं, उनकी दृढ़ संकल्पशक्ति को देशकाल आदि निमित्तसमूह बाधा नहीं दे सकते। इसीलिए वे सभी वस्तु से सभी कार्य कर लेते हैं। महर्षि कपिल भी कहते हैं कि स्वभाव का अपाय नहीं होता। योगी की संकल्पशक्ति दग्धबीज में भी अंकुरोत्पादन करा देती है। ऋषियों के इन सभी उपदेशों को मिथ्या कह के उड़ा देना, उन्हें कल्पनामूलक कहकर उपेक्षा करना उचित है, अथवा उन्हें शिरोधार्य करके उन्नति-प्रार्थी के लिए पूर्णता प्राप्ति की इच्छा रखने वालों के लिए परमहितकारी मानकर उनका समादर करना उचित है ? ऋषिगण के कथन की विवेचना करने से ज्ञात होता है कि उनमें अपना कोई स्वार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता। विद्वान् J. Benthan प्रभृति विद्वान् कहते हैं कि "मनुष्य स्वभावतः सत्य ही कहता है, तब जब वह स्वार्थ के वशीभूत हो जाता है, तब मिथ्या वाक्य का प्रयोग करता है।" इसलिए हमारा कहना है कि सत्यानुसन्धान जिनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य था, सत्य ही जिनका प्राण था, जो वैषयिक भोगादि से विमुख थे, परहितसाधन जिनके जीवन का व्रत था, जिनके वैराग्य को ब्रह्मा का अतुलनीय ऐश्वर्य भी विमोहित नहीं कर सकता, उन्हें मिथ्या वाक्य कहने का कोई स्वार्थ ही नहीं है। इसीलिए ऋषिगण के वाक्य को सत्य मानकर ग्रहण करना ही होगा।

लौकिक प्रत्यक्ष तथा तन्मूलक अनुमान द्वारा जिन सब पदार्थों का तत्वनिर्णय नहीं होता, उनके तत्वनिरूपणार्थ यत्नवान होना है। निष्प्रयोजन समझाने वाले लोग कभी भी ज्ञान का अबाधित रूप नहीं देख सकते। अवस्था—देशकाल भेद से शक्ति-समूह भिन्न-भिन्न रूप से क्रिया करते हैं। अतः स्थूल अथवा परिच्छिन्न प्रत्यक्ष तथा अनुमान से उनका स्वरूप अवधारित कर सकना सम्भव नहीं है। "ताप द्वारा अणुसमूह की आकर्षण-शक्ति शिथिल होती है" यह एक प्राकृतिक नियम है, किन्तु यह निश्चयपूर्वक कौन कह सकता है कि यह नियम सार्वभौम है ? कान्ट, ह्यूम प्रभृति विद्वानों ने भी यही माना है।[1] जो भी हो, आर्षोपदेशसमूह आत्मकल्याणार्थी को अवश्य सुनना चाहिए।

---

1. History of Philosophy by E. Kant, A. Weber, p. 439

बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक कर्मस्वरूप का दर्शन करने में बुद्धि-इच्छा-जीवन योनि प्रयत्न का स्वरूपनिर्णय आवश्यक है। इसलिए ग्रन्थ में इनकी विवेचना की गयी है। ग्रन्थ में मानव प्रकृति के परिचायक लक्षण यथायथ भाव से जानने के लिए बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक कर्म के स्वरूप को जाना गया। उन्नति-अवनति के रूप का निरीक्षण हुआ। विशिष्ट तथा व्यापक चेतन पदार्थ, आसन्न अथवा संकीर्ण चेतन पदार्थ, सप्राण जड़ तथा उद्भिज एवं अप्राण जड़, भूत तथा भौतिक पदार्थ समूह, इन सबका तत्वान्वेषण आवश्यक है, इसलिए ग्रन्थ में इनका संक्षिप्त संवाद प्रस्तुत है। तदनन्तर उन्नति-अवनति के स्वरूप को दिखलाते हुए उत्थापित सम्भावित प्रश्नों का समाधान किया गया।

अध्यात्म, योग, तंत्र, धर्म, दर्शन, संस्कृति विषयक प्रमुख ग्रन्थ

जपसूत्रम् (प्रथम व द्वितीय खण्ड)	स्वामी श्री प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती
वेद व विज्ञान	स्वामी श्री प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती
वेदान्त और आइन्सटीन	अनिल भटनागर
सृष्टि-तत्त्व तथा राजा एवं प्रजा	भार्गव शिवरामकिङ्कर योगत्रयानन्द
परलोक तत्त्व	भार्गव शिवरामकिङ्कर योगत्रयानन्द
अतीन्द्रिय लोक	गोविंद प्रसाद श्रीवास्तव
योग वासिष्ठ की सात कहानियाँ	भरत झुनझुनवाला
कुण्डलिनी शक्तियोग तथा समाधि एवं मोक्ष	डॉ० दिनेशकुमार अग्रवाल
साधना और सिद्धि (योग से आरोग्य)	डॉ० कपिलदेव द्विवेदी
बृहत श्लोक संग्रह (सर्वधर्म सार)	प्रो० कल्याणमल लोढ़ा
हिन्दी ज्ञानेश्वरी	अनु० : ना०वि० सप्रे
श्रीमद् एकनाथी भागवत	अनु० : ना०वि० सप्रे
तुकाराम गाथा (संतश्रेष्ठ तुकाराम के चुने हुए अभंगों का भावानुवाद)	अनु०: ना०वि० सप्रे
मनीषी की लोकयात्रा (पं०गोपीनाथ कविराज का जीवन-दर्शन)	डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह
सूर्य विज्ञान प्रणेता योगिराजाधिराज स्वामी विशुद्धानन्द परमहंसदेव : जीवन और दर्शन	नन्दलाल गुप्त
योगिराजाधिराज श्री श्री विशुद्धानन्द परमहंस	अक्षयकुमारदत्त गुप्त कविरत्न
योगिराज विशुद्धानन्द प्रसंग तथा तत्त्व कथा	पं० गोपीनाथ कविराज
स्वर से समाधि	स्वामी कृष्णानन्दजी 'महाराज'
यंत्र-मंत्र रहस्य	स्वामी कृष्णानन्दजी 'महाराज'
गुप्त भारत की खोज	पाल ब्रंटन

म०म०पं०गोपीनाथ कविराज की अध्यात्मपरक कृतियाँ

भारतीय धर्म साधना * क्रम-साधना * अखण्ड महायोग * श्री साधना
श्री कृष्ण प्रसंग * शक्ति का जागरण और कुण्डलिनी * तत्त्वजिज्ञासा
सनातन-साधना की गुप्तधारा * साधु दर्शन एवं सत्प्रसंग (भाग 1-2, 3 व 4)
ज्ञानगंज * प्रज्ञान तथा क्रमपथ * परातंत्र साधना पथ * तत्त्वानुभूति * दीक्षा
साधन पथ * योग-तन्त्र साधना * रहस्यमय सिद्धभूमि तथा सूर्यविज्ञान

विश्वविद्यालय प्रकाशन
पो०बॉ० 1149, विशालाक्षी भवन,
चौक, वाराणसी - 221001
Phone & Fax : (0542) 2413741, 2413082
e-mail : sales@vvpbooks.com

₹ 100.00
ISBN:978-81-7124-836-0
9 788171 248360
www.vvpbooks.com